प्रेमचंद का कथा साहित्य और उन पर लिखी आलोचनाएँ

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की
डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री
कु० अनुसुइया श्रीवास्तव

निर्देशक
डा० गिरिजा राय
रीडर, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 2002
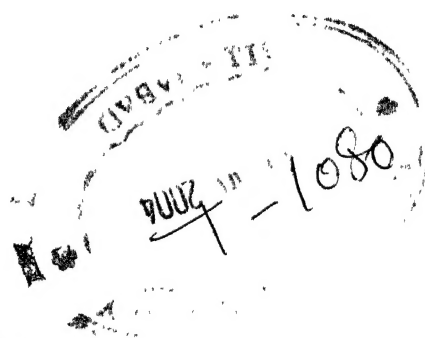
प्राक्कथन

हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रेमचद का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनका विराट व्यक्तित्व उसके केन्द्र में अवस्थित है। उस युग में भारतीय समाज में आई विकृतियों और धार्मिक अंधविश्वासों के उन्मूलन का जोरदार प्रयत्न चल रहा था। इस सुधारवादी भाव बोध ने साहित्य पर अपना असर डाला। प्रेमचंद–युग में आकर सुधारवादी विचारधारा प्रबल वेग ग्रहण कर लेती है। प्रेमचंद के आगमन से हिंदी उपन्यास में परिपक्वता आई और वह जीवनगत यथार्थ के नजदीक आया। वे हिंदी के पहले आधुनिक–उपन्यासकार थे जिन्होंने ऐय्यारी, तिलिस्मी और जासूसी घटनाओं का मोह त्यागकर जनजीवन को उसकी संपूर्णता में देखा। साहित्य को जीवन की आलोचनात्मक व्याख्या मानकर उन्होंने उपन्यास को सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम बनाया और समस्यामूलक उपन्यास लिखे। तत्कालीन भारतीय समाज की निर्मम चीर–फाड़ करके प्रेमचंद ने अपना सारी शक्ति उन अंधविश्वासों और कुरीतियों के उन्मूलन में लगा दी जो जीवन के स्वस्थ विकास में बाधक बनी हुई थीं। उनका समस्याओं का अंकन यथार्थपरक होता था यद्यपि वे उसका आदर्शवादी समाधान प्रस्तुत करते हैं।

प्रेमचंद के पूर्ववर्ती रचनाकारों का लक्ष्य मात्र मनोरजन था। असंतुलित कथानक, अपरिपक्व और अवास्तविक चरित्र–चित्रण, घटना बहुलता, कच्ची उत्तेजक भाषा, स्थूल उपदेशात्मकता और सस्ती कामुकता का मिला जुला रूप इनकी विशेषताएँ रही है। हिन्दी उपन्यासों और कहानियों का एक निश्चित स्वरूप आज जो दृष्टिगोचर होता है, उसका बहुत कुछ श्रेय प्रेमचंद को है। उन्होंने साहित्य को कामुकता की अँधेरी गलियों में भटकने से बचाया और स्पष्ट घोषणा की कि साहित्य का काम पाठकों का मन बहलाना नहीं है। साहित्य वक़्त काटने का साधन नहीं है। वह हमारी मानवीय संवेदनाओं को जागृत करता है, हमें अंतर्दृष्टि देता है और हमें जीवन और संसार से जोड़ता है, उसके रहस्यों और अंतर्संबंधों को उद्घाटित करता है।

भारत में अभिजात वर्ग ने साहित्य और कला को आनंद से जोड़ा है, समाज से नहीं। अभिजात वर्ग साहित्य का उद्देश्य मात्र आनंद मानता है और जिसका कोई सामाजिक सरोकार नहीं होता। इस वर्ग की दृष्टि में सामाजिक सरोकार की रचनाएँ साहित्य में प्रदूषण

फैलाती है। वर्ग, धर्म को शाश्वत मानने वाली व्यवस्था पर सामाजिक सरोकार रखने वाली रचनाएॅ प्रहार करती हैं। प्रेमचंद सामाजिक सरोकार के रचनाकार हैं। उनकी रचनाएँ सामंती मूल्यों को जबर्दस्त चुनौती देती हैं। धर्म और सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह खड़े करती हैं जिससे परंपरित मूल्यों पर चोट पड़ती है और उनका 'पैराडाइम' खिसकता है। इससे यह वर्ग तिलमिलाता है। प्रेमचंद के जीवन काल में चले निन्दा अभियानों के पीछे अभिजात वर्ग की यही मिलमिलाहट है। मार्क्स, गॉधी और अंबेडकर से प्रभावित 'पैराडाइम' उन लोगों का साहित्य रचता है जो अभी तक समाज और साहित्य दोनों से बहिष्कृत थे। प्रेमचंद अपनी रचनाशीलता से पुराने साहित्यिक 'पैराडाइम' पर गहरी चोट करते हैं।

प्रेमचंद का रचना – संसार यथार्थ की पीठिका पर खड़ा है। उनके पूर्ववर्ती और समसामायिक भी जिस यथार्थ से मुँह चुराकर कल्पना की रंगीनियों में खो जाते थे – प्रेमचंद दृढ़तापूर्वक उसका सामना करते हैं और एक हद तक समाधान का भी संकेत करते हैं जिसे लेकर उनपर आदर्शवाद का आरोप लगता है। उन्होंने साहित्य को ठोस यथार्थ की जमीन दी और उन समस्याओं को उठाया जिससे उस समय का समाज पीड़ित था। इसी क्रम में वे युग के सामाजिक–राजनीतिक इतिहास को इतनी जीवन्तता से पुनर्सृजित करते हैं कि उनके उपन्यासों को उस युग का दस्तावेज़ कहा गया है। युग के दस्तावेज़ की दृष्टि से उनकी रचनाएँ निर्विवाद रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, पर इससे भी ज्यादा महत्त्व उस 'विज़न' का है जो वे अपनी रचनाओं में देते हैं। उनकी रचनाओं में गहरी मानवीय संवेदना का अभूतपूर्व विस्तार मिलता है। मानवीय अनुभूतियों का इतना सघन, बेबाक चित्रण उस समय के साहित्य में तो दुर्लभ था ही, बाद में भी संभव न हो सका। उनके अनुकरण की तो बहुत कोशिश की गई और विरासत के दावेदार भी बहुत हुए – पर कोई उस ऊँचाई तक नहीं पहुँचा।

प्रेमचंद का आग़ाज़ इतना सशक्त है कि हिंदी साहित्य का सामाजिक परिदृश्य हमेशा के लिए बदल जाता है। उसमें उन लोगों का चित्रण होने लगा जो समाज और साहित्य के हाशिए पर थे। पर जो भारतीय समाज की रीढ थे। साहित्य को अभिजात वर्ग के चंगुल से मुक्त करके उन्होंने सर्वहारा को अपने चित्रण का विषय बनाया। उनके मानवीय पक्ष को सहानुभूति से अंकित किया। प्रेमचंद की यह ईमानदारी उनको रचनाकार के रूप में महान और लोकप्रिय बनाती है।

प्रेमचंद का प्रामाणिक जीवन वृत्त प्रस्तुत करने के सिलसिले में डॉ० कमलकिशोर गोयनका और डॉ० शैलेश ज़ैदी प्रेमचंद के व्यक्तिगत जीवन में ताक–झाँक करते हैं और उसकी बखिया उधेड़ते हैं। गोयनका और ज़ैदी की बखिया उधेड़ आलोचनाओं के सूत्र प्रेमचद की जीवनकाल में चले कीचड़ उछाल निन्दा अभियानो से जुड़ता है। जिससे साहित्य क्षेत्र में केवल गंदगी फैलती है। व्यक्ति प्रेमचंद के बारे में गोयनका और ज़ैदी के सनसनीखेज विवरणों का एकमात्र उद्देश्य प्रेमचंद के साहित्यिक कद को छोटा करना है।

जिस समय भारत की जनता स्वाधीनता के लिए जूझ रही थी उस समय रचनाकारों का एक वर्ग पुनरुत्थानवाद से प्रेरित होकर राष्ट्रीय गौरव के लिए अतीत को महिमामंडित कर रहा था। बंकिमचन्द्र, मैथलीशरण, जयशंकर 'प्रसाद' – यहाँ तक कि उर्दू के प्रसिद्ध शायर इकबाल भी अतीत को 'ग्लैमराइज' करके भविष्य के सपने बुन रहे थे। प्रेमचंद इस प्रकार के मोहक भुलावे में नहीं बहकते। उनके कदम यथार्थ की ठोस जमीन पर पड़तें हैं। वे वर्तमान से कतराते नहीं, उससे सार्थक मुठभेड़ करते हैं। इसी से प्रेमचद की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक संदर्भों से न फूटकर सामाजिक–राजनीतिक सदर्भों में आकार ग्रहण करती है। ऐसा नहीं है कि प्रेमचंद भविष्य के सुनहले सपने नहीं देखते। पर उनका सपना उस नए भारत का सपना है जो साम्प्रदायिक सौहार्द्र पर खड़ा है, जहाँ धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण और जाति या अमीर–गरीब का द्वन्द्व नही; आपसी भाईचारा और सहयोग है। जिन 'सेकुलर' मूल्यों को लेकर भारत का संविधान चलता है – प्रेमचंद उसकी पृष्ठभूमि अपनी रचनाओं में पहले से बना गए थे। जब तक यह सपना ठोस हकीकत का रूप नहीं लेता – तब तक निस्संदेह प्रेमचंद प्रासंगिक बने रहेंगे।

प्रेमचंद आलोचक और रचनाकार दोनों के लिए चुनौती रहे हैं। आलोचक की आलोचना की सर्जनात्मकता की परीक्षा–स्थली प्रेमचंद का साहित्य है। आलोचक की मुठभेड़ प्रेमचंद साहित्य से किस रूप में होती है या आलोचक किस रूप में प्रेमचंद साहित्य से टकराता है– इससे उसकी आलोचना की स्तरीयता का उद्घाटन होता है। आलोचक की आलोचना के स्तर की जाँच परख की कसौटी प्रेमचंद का साहित्य है। वह प्रेमचंद के साहित्य को किस रूप में पढ़ता है, किन कोणों से देखता है– इससे प्रेमचंद के मूल्यांकन में उसका कोई योगदान होता है कि नहीं, यह गौण बात है। मुख्य बात यह है कि इस समूची प्रक्रिया में स्वयं आलोचक कसौटी पर कसा जाता है न कि प्रेमचंद। इसीलिए प्रेमचंद के साहित्य को आलोचकों के लिए कसौटी कहा गया है। दूसरी तरफ़ रचनाकारों के लिए

प्रेमचद का साहित्य चुनौती के रूप में प्रस्तुत होता है। हर रचनाकार प्रेमचंद से होड़ करता है और अंत में पाता है कि वह लम्बी जद्दोजहद के बाद भी प्रेमचंद से दो लट्ठे पीछे है। इस तरह प्रेमचंद का साहित्य रचनाकारों के लिए भी मानक प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि एक तरफ़ प्रेमचंद अत्यन्त सरल है अपने पाठकों के लिए (और यह उनकी लोकप्रियता का एक कारण भी है) और दूसरी तरफ़ आलोचक या रचनाकार के लिए बेहद जटिल हैं। उनकी यह सरलता और जटिलता आलोचक और रचनाकार दोनों के लिए चुनौती के रूप में उभरती है। प्रेमचंद के साहित्य में जहाँ एक तरफ़ आधुनिकता – बोध और आधुनिक सवेदना की गवाही मिलती है वहीं धुर वामपंथी क्रांतिकारिता का सर्जनात्मक उफान भी है, ढहते सांमतवाद के कुछ अवशेषों के प्रति सहानुभूति का भाव है तो पूँजीवाद की अमानवीय क्रूरता के प्रति गहरा आक्रोश। यहीं गाँधीवाद की कुछ स्थापनाओं से सहमति का स्वर है तो उसकी कई स्थापनाओं का विरोध भी और बोल्शेविक क्राति का समर्थन भी है। प्रेमचद – साहित्य को अस्तित्ववादी और मार्क्सवादी, गाँधीवादी और समाजवादी, आदर्शवादी और यथार्थवादी आदि भिन्न–भिन्न नजरिये से देखा गया है। कहीं आधुनिकता की शुरुआत उनसे मानी गई है तो कहीं यह कहा गया है कि उनकी रचनाएँ किसान चेतना से आप्लावित हैं। कहीं उनको दकियानूसी तो कहीं आधुनिक माना गया है। प्रेमचंद – साहित्य के विविध रंग और छटाएँ हैं। उनका सर्जनात्मक वैविध्य हमारी जातीय आकांक्षाओं की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है। जैसे तुलसीदास हमारे जातीय जीवन के श्रेष्ठ कवि हैं वैसे ही प्रेमचंद जातीय जीवन के रचनाकार हैं। बांग्ला के जातीय कवि लेखक रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं, हिन्दी की जातीय चेतना तुलसीदास के बाद प्रेमचंद में फूटती है यह उनके साहित्य को व्यापक आधार प्रदान करती है।

मुझे प्रेमचंद साहित्य पर काम करने की प्रेरणा अपने मामा डॉ० रघुवंश से मिली और उन्होंने ही मुझे डॉ० गिरिजा राय के निर्देशन में शोध कार्य करने का सुझाव दिया। मेरे इस शोध–कार्य में अपनी अत्यधिक व्यस्तता के बावजूद पिताजी श्री गोपाल जी श्रीवास्तव ने जो सहयोग दिया उसके बिना यह शोधकार्य इतनी शीघ्रता से सम्पन्न न हो पाता। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध डॉ० गिरिजा राय के सुदक्ष निरीक्षण एवं निर्देशन का परिणाम है। उनके अमूल्य सुझावों के लिये मैं ह्रदय से आभारी हूँ। यह मेरा सौभाग्य रहा कि मुझे अपने निर्देशक के अतिरिक्त उनके विद्वान पति डॉ० विद्याशंकर राय का भी अत्यधिक सहयोग मिला। इस

विद्वत्तापूर्ण मार्गदर्शन के लिए मैं श्रद्धा–नत हूँ। यदि उनका इतना सक्रिय सहयोग न मिला होता तो इस शोध प्रबन्ध के पूरा होने की मैं कल्पना भी नही कर सकती थी।

इस शोध प्रबंध में जिन विद्वानों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सहायता मिली उनमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी और श्री विश्वम्भर 'मानव' के नाम उल्लेखनीय है। इन सब विद्वानों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

सामग्री संचयन में 'लेखन' के सम्पादक श्री विद्याधर शुक्ल ने बड़ी सहायता की। अपने विभाग के शोध छात्र श्री वीरेन्द्र सिंह यादव ने अपना अमूल्य समय और वैचारिक सहयोग देकर इस शोध–प्रबन्ध को पूरा करने में मदद की। इसके लिए मैं आभार प्रकट करती हूँ।

20 अप्रैल **2002**

अनुसुइया श्रीवास्तव

शोध–छात्रा, हिंदी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

अनुक्रम

प्रथम अध्याय :

प्रेमचन्द पूर्व का कथा साहित्य

प्रेमचंद पूर्व हिन्दी का कथा साहित्य

उपन्यास

कथा साहित्य आधुनिक हिन्दी–साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है। हिन्दी में कथा – साहित्य का आरम्भ भी अन्य प्रमुख गद्य–विधाओं के साथ ही भारतेन्दु युग में होता है। भारतेन्दु युग में कथा – साहित्य के अर्न्तगत उपन्यास का तो आरम्भ हो जाता है, लेकिन कहानी विधा का वास्तविक विकास नहीं हो पाता। वस्तुतः हिन्दी कहानी का आरम्भ द्विवेदी युग में होता है। प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी कथा साहित्य का प्रारम्भ उपन्यास और कहानी के अलग–अलग विवेचन के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

उपन्यास आज के साहित्य की सबसे अधिक प्रिय और सशक्त विधा है। उपन्यास में मनोरंजन का तत्त्व अधिक रहता है, जीवन को उसकी बहुमुखी छवि के साथ व्यक्त करने की शक्ति और अवकाश होता है। साहित्य की समस्त सर्जनात्मक विधाओं में उपर्युक्त दोनों गुण विद्यमान रहते हैं, किन्तु अन्य विधाएँ अपने – अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण इन दोनों तत्त्वों का प्रस्फुटन उतना नहीं कर पातीं जितना उपन्यास कर पाता है। नाटक, कहानी और प्रबन्ध–काव्य भी कथाश्रित होने के कारण मनोरंजन करते हैं किन्तु नाटक और कहानी में जीवन की संश्लिष्टता और वैविध्य के उभरने का अवकाश नहीं रहता। नाटक और कहानी का प्रभाव पाठक के मन पर एक तेज चोट की तरह पड़ता है। कहानी अपनी आकार–लघुता में किसी एक सत्य या सत्यखण्ड की प्रतीति कराती है। वह देखने में उपन्यास की जाति की ही लगती है, परन्तु स्वरूप–संगठन और लक्ष्य की दृष्टि से वह उपन्यास से स्वतन्त्र एक विधा है जिसमें उपन्यास के समान ही कथा का सूत्र होता है किन्तु वह सूत्र अधिक इकहरा, तीव्र, गतिशील और सांकेतिक होता है। कविता आज के जटिल जीवन–व्यापारों और चरित्रों की बहुमुखी बाहरी–भीतरी गतियों को व्यक्त कर पाने में उतना सफल नहीं होती जितना उपन्यास।

हिन्दी में उपन्यास का जन्म आधुनिक काल के यर्थाथवादी परिवेश में हुआ है। उपन्यास पूँजीवादी सभ्यता की देन है। पूँजीवादी सभ्यता के विविध जीवन–सत्यों को कथा के माध्यम से व्यक्त करने के लिए इसकी उत्पत्ति हुई है। यह मात्र कहानी नहीं है। मूल

वस्तु है वर्तमान जीवन का जटिल यथार्थ। वास्तव में, उपन्यास पूँजीवादी समाज की अनिवार्य उपज है यानी पूँजीवादी सभ्यता में यर्थाथ के जो नये स्तर, नये आयाम और भौतिकवादी चिन्तन के प्रश्न उभरे, उन्हें व्यक्त करने में परम्परा से चली आती हुई अन्य कलाएँ पूर्णरूपेण समर्थ नहीं थीं यद्यपि उन पर भी पूँजीवादी समाज का प्रभाव पड़ा। उपन्यास अपने मूल में यर्थाथवादी है। इसे आधुनिक युग का महाकाव्य कहा गया है तो इसका अर्थ है कि जैसे महाकाव्य में जगत–जीवन की विराटता अपने समस्त वैविध्य, गहरे भाव–बोध, विशिष्ट दर्शन, मानव–मूल्य और प्रश्नों के साथ अंकित होती है उसी प्रकार उपन्यास में भी। उपन्यास का माध्यम गद्य है और उसका स्वरूप विस्तृत है। अन्य विधाओं की अपेक्षा उसका स्वरूप ढीला है इसलिए उसमें अपने भीतर सबकुछ समाविष्ट कर लेने की क्षमता होती है। महाकाव्य अपने विशिष्ट औदात्य के कारण विशिष्ट पाठकों के ही काम का होता है किन्तु सामान्य पाठकों के लिए भी होता है। उपन्यास जीवन के हर गली–कूचे में घूम सकता है, आवश्यकतानुसार हर छोटी–बड़ी चीज़ का चित्र अंकित कर सकता है।

इस तरह उपन्यास की उत्पत्ति एक विशेष प्रकार की आवश्यकता की अभिव्यक्ति है। उपन्यासकार के पास जीवन–दृष्टि होनी चाहिए। जीवन के यर्थाथ का गहरा अनुभव होना चाहिए, सर्जनात्मक कल्पना की अपार शक्ति होनी चाहिए, विचार की गहनता होनी चाहिए और जीवन का विवेचन होना चाहिए।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप पहले–पहल प्रेमचन्द के उपन्यासों में दिखायी पड़ता है या हिन्दी उपन्यासों का वास्तविक विकास प्रेमचन्द्र से मानना चाहिए, जब कुछ लोगों द्वारा यह बात कही जाती है तो उसके पीछे यही सत्य निहित होता है। प्रेमचन्द के पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में विषय और उद्देश्य की दृष्टि से कुछ वैविध्य भले रहा हो लेकिन वे कहीं–न–कहीं एक हैं और वे सब–के–सब उपन्यास की वास्तविक गरिमा प्राप्त करने में असमर्थ हैं। प्रेमचन्द के आगमन तक इसी प्रकार के उपन्यासों का स्वरूप हिन्दी में दिखायी पड़ता है प्रेमचन्द ने उपन्यास –साहित्य को एक नयी दिशा दी। दिशा ही नहीं दी, उसे उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। पश्चिम में तो उपन्यास – साहित्य काफी समृद्ध और विकसित हो गया था क्योंकि वहाँ उपन्यास का विकास 17वीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था। हिन्दी में उन पश्चिमी उपन्यासों की सी शक्ति अभी नहीं आयी थी। हिन्दी में उन पश्चिमी उपन्यासों का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था, मगर प्रेमचन्द के पहले के उपन्यासकार पश्चिमी उपन्यासों की मूल छवियों से परिचित नहीं हो सके थे, वे भारत में प्रचलित कथा–कहानियों

के प्रभाव से भी नहीं उबर सके थे और वे उपन्यास को या तो मनोरंजन का या सुधार का साधन मान बैठे थे।

प्रेमचन्द ने उपन्यास के क्षेत्र में मानो एक युग स्थापित किया और इस युग के कथा–साहित्य को काफी प्रभावित भी किया। अतः प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों को प्रेमचन्द–पूर्व उपन्यास कहना केवल काल का नहीं, बल्कि विकास के सोपान का और उस सोपान की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों का परिचायक है। इसी प्रकार प्रेमचन्द–युग कहना या प्रेमचन्दोत्तर युग कहना भी उपन्यास की दो विशिष्ट धाराओं का द्योतन करता है अर्थात् प्रेमचन्द बीच में स्थित होकर अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती उपन्यास–साहित्य के मानदण्ड बने से दीखते हैं।

प्रेमचन्द–पूर्व युग के उपन्यास–साहित्य में उद्देश्य की दृष्टि से दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती है : (1) कोरा मनोरंजन और (2) मनोरंजन के साथ सुधारवादी भावना। वास्तव में इन दोनों वृत्तियों का सम्बन्ध अपने यहाँ की परम्परागत कहानियों से है। भारतवर्ष में कथा–साहित्य की धारा अनादिकाल से बहती हुई आ रही है। वेदों, ब्राह्मणों, रामायण, महाभारत, पुराणों, जैन गाथाओं, जातक गाथाओं, वीरतागर्भित रोमानी कविताओं, हितोपदेश, पंचतंत्र, वैताल पंच–विंशति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, शुक सप्तति आदि में कथा का अनन्त भण्डार भरा हुआ है। कुछ आलोचक इन्हीं कथाओं को आधुनिक उपन्यासों का मूल स्रोत मानते हैं। कुछ तो यह भी मानते हैं कि पश्चिम के उपन्यासों ने यहीं के कथा–साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की। यह एक तो अवान्तर सी बात है, दूसरे इसमें आत्मतोष का ही भाव अधिक झलकता है। प्रश्न कथा का नहीं है, कथा तो प्रबन्ध–काव्य में भी होती है, नाटक में भी होती है और हितोपदेश पंचतन्त्र जैसी उपदेशात्मक कहानियो में भी होती है। परन्तु कथा होने से ही प्रबन्ध और नाटक की अपनी विशिष्टताएँ नष्ट तो नहीं हो जातीं। कथा के सूत्र का अस्तित्व होने से ही आज का उपन्यास प्राचीन भारतीय पाश्चात्य या अरबी–फारसी के कथाश्रित साहित्य की उपज तो नहीं मान लिया जायेगा। उपन्यास में जो कथा का प्रश्न है वह मुख्य प्रश्न नहीं है और प्राचीन कथाश्रित साहित्य में यही प्रश्न हल हुआ है–अर्थात् उपन्यास एक अलग विधा है जो पंचतंत्र, हितोपदेश, कादम्बरी, रामायण, महाभारत, जातक कथाओं, वीरगथाओं और प्रेमगथाओं से अपनी प्रकृति में नितान्त भिन्न है। वास्तव में भारतीय साहित्य का अधिकांश कथा–साहित्य काव्य है। रामायण, महाभारत, कादम्बरी आदि तो काव्य हैं ही, अपने यहाँ के नाटक भी काव्य के ही अन्तर्गत आते हैं। सिंहासन

द्वात्रिंशिका, वैताल पंचविंशति, हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि को शुद्ध कथा–साहित्य कह सकते हैं। किन्तु आधुनिक कथा साहित्य अपनी प्रकृति में इस कथा–साहित्य का विकास नहीं लगता। प्रेमचन्द–पूर्व उपन्यासों पर इस प्राचीन कथा–परम्परा का प्रभाव खूब लक्षित होता है। प्रेमचन्द–पूर्व के उपन्यासों ने स्वरूप पश्चिम से तो अवश्य लिया लेकिन उसमें परम्परागत कथा–साहित्य की प्रतिष्ठा अधिक थी।

प्रेमचन्द–पूर्व उपन्यासों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका घटनाप्रधान होना। ये उपन्यास घटना–चमत्कार का प्रदर्शन कर या तो मात्र मनोरंजन करना चाहते हैं या कोई उपदेश देना चाहते हैं। प्रेमचन्द के पूर्व जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी तरह के उपन्यास लिखे गये किन्तु ये सभी घटना–चमत्कार पर आधारित हैं। घटना–चमत्कार पर आधारित रहने वाला उपन्यास (उसका उद्देश्य चाहे शुद्ध मनोरंजन हो, चाहे मनोरंजन मिश्रित उपदेश देना) जीवन–यथार्थ की चिन्ता कम करता है। सामाजिक परिवेश के साथ उनके विभिन्न सम्बन्धों के चित्रण के लिए नहीं होतीं, घटनाएँ भी गहन जीवन–संदर्भों और पात्रों की पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रियाओं से प्रभावित नहीं होतीं, वे जीवन के विभिन्न प्रश्नों, समस्याओं और आकांक्षाओं की जटिताओं से उलझती नहीं। इस प्रकार के घटना–नियोजन में कथानक का स्वाभाविक प्रवाह तथा पात्रों का सहज विकास सुरक्षित नहीं रह पाता। घटनाओं की सम्भाव्यता–असम्भाव्यता पर भी लेखक का बहुत कम ध्यान रहता है। घटना प्रधानता प्राचीन कथाओं की एक खास विशेषता रही है चाहे वे कथाएँ दादी–नानी के मुँह से सुनी गयी कहानियाँ हों, चाहे वैताल पचविंशति, सिंहासन द्वाविंशति, हितोपदेश और पंचतन्त्र की कहानियाँ हों। घटना का एक अबाध प्रवाह होता है इनमें। और ये घटनाएँ मानव और मानवेतर जगत् सभी को अपना क्षेत्र और पात्र बनाती हैं। इन कथाओं में देशकाल की यथार्थता की रक्षा नहीं होती है। उसे कहानी सुनने से प्रयोजन है– देशकाल की वास्तविकता से विच्छिन्न कहानी। इसलिए मनोरंजनप्रधान कहानियों की कोई विशिष्ट लम्बाई हो, कोई अपरिहार्य समाप्ति हो, ऐसा नहीं दीखता। कहानी में से कहानी फूटती चली जायेगी, उसे चाहे जितना खींचा जा सकता है। वैताल पंचविंशति इसका स्पष्ट उदाहरण है। दूसरी ओर जो उपदेशप्रधान कहानियाँ हैं उनका एक निश्चित अन्त होता है और उसी अन्त तक कथा आकर रूक जाती है, उसी अन्त के लिए सारी कथा नियोजित होती हैं उपदेश बड़ा स्पष्ट होता है, लेखक अपनी ओर से टिप्पणियाँ भी जड़ता है। इस

प्रकार उपदेशप्रधान कथाओं की सारी घटनाएँ मनोरंजनात्मक होती हैं, किन्तु उनका नियोजन किसी उपदेश के लिए होता है।

इन घटना–प्रधान कथाओं में पात्रों की कोई निजी विशेषता नहीं होती, वे टाइप होते हैं। अर्थात् नाम, ग्राम और विशिष्ट व्यक्तित्व से विहीन वे अमुक प्रकार के कार्य–व्यापार करने के लिए, अमुक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए लेखक की ओर से स्थापित किये गये प्रतीक पात्र होते हैं। मानवेतर प्राणी भी पात्र के रूप में आते हैं। अतः इन पात्रों में मानव की गहरी संवेदना, जटिल भाव–बोध ओर चिन्तन–शक्ति को प्रभावित करने की क्षमता नहीं होती। वे राग–विराग के ऊपरी स्तर को छूते हुए विस्मय, कौतूहल पैदा करते हुए चलते रहते हैं। कहानी के अन्त में सारी घटनाओं की एक सुखद परिणति दिखायी पड़ती है।

प्रेमचन्द से पूर्व के हिन्दी उपन्यासों पर भारतीय कथा–साहित्य के उपर्युक्त रूपों का बडा प्रभाव लक्षित होता है। इन उपन्यासकारों ने पश्चिम के उपन्यासों की विशेषता बंगला उपन्यासों के माध्यम से ग्रहण की और उनके अनुसार मौलिक उपन्यास लिखे। इन हिन्दी उपन्यासकारों ने पश्चिम के उन्हीं उपन्यासों से विशेष प्रेरणा ली जो घटना–प्रधान थे यानी जिनका उद्देश्य घटना–वैचित्र्य की सृष्टि कर मनोरंजन करना था। जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी उपन्यास शुद्ध मनोरंजनात्मक श्रेणी में आते हैं। पश्चिम में ऐसे उपन्यासों की बड़ी धूम थी। एडगर वैलेस, ओपेनहम जैसे लेखक इस प्रकार के सनसनीखेज उपन्यास पर्याप्त मात्रा में लिख चुके थे। प्रेमचन्द से पहले कोई महत्त्वपूर्ण उपन्यास लक्षित नहीं होता। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में शुद्ध मनोरंजनात्मक उपन्यासों के अतिरिक्त उपदेश–प्रधान उपन्यास भी लिखे गये और कुछ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासों की भी रचना हुई। भारतेन्दु युग के लेखक अपने देश और काल की चेतना से स्पन्दित थे। उन्होंने अपनी विभिन्न प्रकार की कृतियों में स्वदेशी जागरण का स्वर मुखर करना चाहा है। देशाभिमान के कारण उन्होंने एक ओर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक विकृतियों को चित्रित कर उनका समाधान खोजना चाहा, दूसरी ओर अपने गौरवशाली अतीत की याद कर अपनी उच्चता के भाव से अभिभूत भी होना चाहा और हीनता से पीड़ित भारतीय जनता में गौरव और सम्मान का भाव भरने का प्रयत्न किया। इसीलिए तत्कालीन यथार्थ और गौरवमय इतिहास के आदर्श दोनों को व्यक्त करने वाली कृतियाँ इस काल में दिखायी पड़ती हैं। उपदेशप्रधान और ऐतिहासिक उपन्यास इन्हीं दो प्रकार की प्रवृतियों से परिचालित होकर लिखे गये

उपन्यास हैं। किन्तु जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, इस काल के सभी उपन्यासों में घटनावैचित्र्य का बोलबाला है असहज विकास से ग्रस्त पात्रो और कथाओं का चमत्कारपूर्ण आयोजन है। इस तरह प्रेमचन्द–पूर्व युग में तीन प्रकार के उपन्यास दिखायी पड़ते है :

1. शुद्ध मनोरंजनप्रधान उपन्यास – तिलस्मी ऐयारी(लेखक–देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, देवीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, हरेकृष्ण जौहर आदि।)

   जासूसी (लेखक–गोपालराम महमरी, शिवनारायण द्विवेदी, शेरसिंह, रूद्रदत्त शर्मा, जयरामदास गुप्त आदि।)

2. उपदेशप्रधान सामाजिक उपन्यास – (लेखक–श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्ण, राधाचरण गोस्वामी, देवीप्रसाद शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम मेहता आदि।)

3. ऐतिहासिक उपन्यास – (लेखक–किशोरीलाल गोस्वामी, बलदेवप्रसाद मिश्र, कृष्णप्रकाश सिंह, अखौरी, ब्रजनन्दन सहाय, मिश्रबन्धु आदि।)

शुद्ध मनोरंजनप्रधान उपन्यासों में विस्मयकारी घटनाओं का जाल–सा बिछा हुआ है। तिलिस्म और ऐयारी के बड़े विचित्र विचित्र करिश्मे दिखायी पड़ते हैं। घटनाओं के कार्य–कारण सम्बन्धों की परवाह किये बगैर लेखक जहाँ जैसे चाहता है, घटनाओं की सृष्टि करता है और पाठक इन विचित्र घटनाओं के मायाजाल से चमत्कृत होता हुआ, कथा–प्रवाह के साथ तेजी से बहता चलता है। जासूसी उपन्यासों में भी अनेक पेचीदगियों से भरी हुई घटनाएँ बहती रहती हैं और पाठक इस घटना–जाल में उलझा हुआ असली बात को जानने के लिए तड़पता रहता है। चोरी–डकैती या अन्य प्रकार के अपराधियों की खोज जासूसी उपन्यासों में होती है। इसमें घटनाएँ इस तरह उलझी होती हैं कि असली अपराधी का पता लगा पाना बड़ा मुश्किल होता है। जासूस अनेक प्रकार के कौशल द्वारा अपराधी को पकड़ने का प्रयास करता है। अपराधी घटनाओं को ऐसा उलझाता रहता है कि सत्य का पता लगाना कठिन हो जाता है।

देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता' (1891) और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' प्रेमचन्द–पूर्व उपन्यासों में अपनी लोकप्रियता के कारण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। कहा जाता है कि इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी। मनोरंजन के दृष्टिकोण से ये दोनों उपन्यास बड़े सशक्त हैं। पात्रों के विचित्र–विचित्र

अलौकिक करनामे पाठकों को चकित करते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों का उद्देश्य पात्रों की अन्तर्वृति का निरूपण, सामाजिक यथार्थ का अंकन और रस–संचार करना नहीं होता। यहाँ पात्र अपना वैशिष्ट्य खोकर लेखक द्वारा कल्पित कार्य करने के लिए सरकस के जीवों की तरह रंगमंच पर आते रहते हैं और कभी पानी पर दौड़ लगाकर, ऊँची–से–ऊँची जगहों से कूदकर, भूगर्भों में छिपकर, वहाँ से रहस्यमय ढंग से निकलकर या इसी तरह अन्य प्रकार के मायावी कार्य कर एक ऐसी दुनिया में पाठकों को ले जाते हैं जो वास्तविक दुनिया से एकदम भिन्न होती है। चन्द्रकान्ता की कथा मूलतः प्रेमकथा है। विजयगढ़ की राजकुमारी चन्द्रकान्ता को वीरेन्द्रसिंह और क्रूर सिंह दोनों चाहते हैं। चन्द्रकान्ता वीरेन्द्र सिंह को चाहती है। प्रेम का संघर्ष ही अनेक प्रकार की वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं की सृष्टि करता है। यह प्रेमकथा है परन्तु प्रेम की मार्मिक अनुभूतियों का चित्रण नहीं है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति'(चौबीस भाग, 1896) 'चन्द्रकांता' से भिन्न नहीं है। तिलस्म और ऐयारी पर आधारित ये प्रेमकथाएँ फ़ारसी के 'तिलस्म होशरूवा' और 'दास्ताने अमीर हम्जा' नामक लोकप्रिय रचनाओं से कुछ प्रभावित जान पड़ती हैं। खत्रीजी ने 'नरेन्द्र मोहिनी'(1893), 'वीरेन्द्र वीर'(1895), 'कुसुम कुमारी'(1899), 'काजल की कोठरी'(1902), 'अनूठी बेग़म'(1905), 'गुप्त गोदान'(1906), 'भूतनाथ'–प्रथम छह भाग उपन्यास भी लिखे हैं। इन्हीं की परम्परा में हरेकृष्ण जौहर–कृत 'कुसुम लता', 'मयंक मोहिनी या माया महल'(1901), 'कमल कुमारी'(1902), 'निराला नकाबपोश'(1902), 'भयानक खून'(1903), किशोरी लाल गोस्वामी–कृत 'तिलस्मी शीशमहल'(1905), रामलाल वर्मा–कृत 'पुतली महल'(1908), उपन्यास आते हैं।

जासूसी उपन्यासकारों में श्री गोपालराम गहमरी का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने 'जासूस' नाम का एक अखबार निकाला, जिसमें जासूसी उपन्यास और कहानियाँ प्रकाशित होती रहीं। 'अद्भत लाश', बेकसूर की फाँसी', सरकती लाश', खूनी कौन', 'बेगुनाह का खून', जासूस की भूल', अद्भुत खून', खूनी का भेद', 'गुप्तभेद' इनके उपन्यास हैं।

उपदेशप्रधान सामाजिक उपन्यास – यह युग सांस्कृतिक पुनरूत्थान का था। राष्ट्रीय और सामाजिक जाग्रति की चेतना धीरे–धीरे विकसित होने लगी थी। उस काल के चिन्तकों और कलाकारों को सामाजिक–धार्मिक रूढ़ियाँ और पाश्चात्य सभ्यता की

अन्धी अनुकृतियाँ दोनों बुरी तरह सालने लगी थीं। इनको राष्ट्रीय अभिमान तो था परन्तु वह अधिक मुखर होने का अवसर नहीं पा सका। किन्तु सामाजिक, धार्मिक पक्ष की विकृतियों को चित्रित करने में कोई विशेष बाधा नहीं थी। अतः भारतेन्दु–काल की समस्त साहित्यिक विधाओं में राष्ट्रीय जागरण के स्वर के साथ–साथ सामाजिक जागरण का स्वर बड़ी सघनता से सुनायी पड़ता है। सामाज़िक जागरण का स्वर राजनैतिक जागरण के स्वर से कहीं अधिक स्पष्ट और उग्र था। भारतेन्दु बाबू भी उपन्यास लेखन की ओर प्रवृत्त हुए, किन्तु बहुत बाद मे। 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा'[1] इनका सामाजिक उपन्यास है। इस काल के अन्य सामाजिक उपन्यासों में 'भाग्यवती'(श्रद्धानन्द फिल्लौरी, 1877), 'परीक्षा गुरू'(श्रीनिवासदास), 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान : एक सुजान'(बालकृष्ण भट्ट), 'निस्सहाय हिन्दू'(राधाकृष्णदास), 'विधवा विपत्ति'(राधाचरण गोस्वामी और देवी प्रसाद शर्मा) 'श्यामा स्वप्न'(ठाकुर जगमोहन सिंह), 'जया'(कार्तिक प्रसाद खत्री), 'लवंग लतिका', 'कुसुम–कुमारी', 'लीलावती वा आदर्शसती', 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह', 'अँगूठी का नगीना'(किशोरी लाल गोस्वामी), 'सास पतोहू', 'बड़ा भाई', 'नये बाबू'(गोपालराम गहमरी), 'धूर्त रसिकलाल', 'स्वतन्त्र रमा' और 'परतन्त्र लक्ष्मी'(लज्जाराम मेहता), 'अंधखिला फूल', 'ठेठ हिन्दी का ठाठ'(अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'), 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त'(ब्रजनन्दन सहाय), 'रामलाल'(मन्नन द्विवेदी), 'वन जीवन वा प्रेम लहरी'(राधिका रमण प्रसाद सिंह) आदि के नाम अग्रगण्य हैं। वास्तव में इन सामाजिक उपन्यासों मे समाज के बुनियादी सत्यों की पकड़ नहीं है। समाज की सतह पर बहती हुई घटनाओं को पकड़ा गया है, उनका निरूपण किया गया है, उन घटनाओं और परिस्थितियों में किसी पात्र को डालकर उसकी उन्नति अवनति की दिशाएँ अंकित की गयी हैं तथा उसके पाप–पुण्य और अन्यान्य क्रिया–कलापों का स्थूल चित्रण किया गया है। इस बात को बहुत ही स्पष्ट ढंग से दिखाने का प्रयास किया गया है कि अमुक परिस्थितियों में पड़कर मनुष्य भला या बुरा कर्म करने लगता है। इस काल के सारे सामाजिक उपन्यास सोद्देश्य हैं या यों कहिए कि उपदेश और समाधान–प्रधान हैं। हर उपन्यास में समस्या का समाधान दिया गया है। इन सारे सामाजिक उपन्यासों के विषयों की परीक्षा करें तो हम पायेंगे कि

---

[1] इस विषय में मतभेद है कि यह उपन्यास भारतेन्दु बाबू की मौलिक कृति है या अनुवाद

इनके सामने सबसे बड़ा विषय था नारी। 'वह हिन्दी–समाज की चिरलांछिता, चिरवचिता, चिरवंदिनी, नयी दीप्ति के साथ हमारे सामने आयी। उसकी समस्याएँ ही सारे देश की समस्याएँ थीं। बाल–विवाह, कलह–प्रियता, पुरूष से हीनता, विधवा विवाह, दोहाजू, आभूषणप्रियता आदि ये सब विषय सामाजिक उपन्यासकारों के मुख्य विषय रहे हैं। इन सब विषयों में नारी अत्यन्त निकट से लिपटी हुई थी। ये ही नये विषय थे। नयी शिक्षा ने नये बाबू और पुराने चाल की सहधर्मिणी की एक समस्या उपस्थित कर दी थी।' किन्तु नारी के अतिरिक्त शराबखोरी, चाटुकारिताप्रियता और उसके दुष्परिणाम, सदाचार और सद्वृत्ति, हिन्दुओं की असहायता, गोवध आदि विषय भी इन उपन्यासों में स्वीकारें गये हैं। विषय चाहे जो भी हो किन्तु इतना सत्य है कि उपन्यासकारों ने सतह पर के सत्य को ही अधिक लिया है, उसी सत्य को व्यक्त करने के लिए घटनाओं और पात्रों की सृष्टि की है। अतः इन उपन्यासों में यथार्थ की संश्लिष्टता और चरित्रों की मनोवैज्ञानिक गहनता का सर्वथा अभाव है। इसीलिए इन उपन्यासों में से कोई भी उपन्यास हिन्दी–साहित्य की स्थायी निधि नहीं बन सका। केवल 'परीक्षा गुरू' पहला उपन्यास होकर भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

ऐतिहासिक उपन्यास – इस काल में ऐतिहासिक उपन्यासों का भी प्रणयन पर्याप्त मात्रा में हुआ। किशेरीलाल गोस्वामी–कृत 'ह्रदयहारिणी' वा 'आदर्श रमणी'(**1890**), 'लवंगलता' वा 'आदर्श बाला'(**1890**), 'तारा'(**1902**), 'राजकुमारी'(**1902**), 'कनक कुसुम' वा 'मस्तानी'(**1903**), 'लखनऊ की कब्र' वा 'शाही महलसरा'(**1906**), 'रज़िया बेगम' आदि; गंगाप्रसाद गुप्त–कृत 'पृथ्वीराज चौहान(**1903**), 'कुमारसिंह सेनापति'(**1904**); श्यामसुन्दर वैद्य–कृत 'पंजाब पतन'; कृष्णप्रसाद सिंह अखौरी–कृत 'वीर चूड़ामणि'; मथुराप्रसाद शर्मा–कृत 'नूरजहाँ', व्रजनन्दनसहाय–कृत 'लाल चीन'(**1916**); मिश्रबन्धु–कृत 'वीरमणि'(1917) आदि उपन्यास इस काल के ऐतिहासिक कहे जाने वाले उपन्यास हैं। इस काल में इतिहास या गौरवमय अतीत की ओर दृष्टि जाना भी स्वाभाविक था। मध्यकाल में हम मानो अपना सब खो चुके थे, जीवन के बाह्य विधानों में ही उलझे रह गये थे। हमारा वर्तमान दयनीय था, हम विदेशी सत्ता से पराभूत तो थे ही, अपनी सामाजिक और धार्मिक रूढियों और अन्धविश्वासों में भी जकड़े रह गये थे। विदेशी सत्ता ने हमें पराभूत तो किया , किन्तु जीवन को यथार्थवादी दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित भी किया और तब अपना मार्ग खोये हुए कुछ लोग

विदेशी संस्कृति और सभ्यता की ऊपरी चकाचौंध में ही जा उलझे। ऐसे अवसर पर अपने इतिहास के गौरव की याद आना और उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास करना स्वाभाविक था। ऐतिहासिक उपन्यासों में दो बातें विशेष ध्यान देने की होती है—एक तो अभिप्रेत काल के जीवन यथार्थ से घनिष्ठ रूप से परिचित होना, दूसरे इतिहास के तथ्यों के साथ कल्पना का सुन्दर समन्वय कर साहित्यिक कृति का निर्माण करना। कहा जा सकता है कि उपर्युक्त उपन्यासों ने इस दायित्व का निर्वाह नहीं किया है। इन उपन्यासों में अभिप्रेत काल के समाज का यथार्थ—बोध नहीं प्राप्त होता। इनमें उस काल की जटिल सामाजिक स्थितियों, मानव—मन की आकांक्षाओं , प्रश्नों, व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का तो सूक्ष्म निरीक्षण नहीं ही प्राप्त होता, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह भी नहीं लक्षित होता। कल्पना और इतिहास का समन्वय भी दृष्टिगत नहीं होता। अर्थात् ये उपन्यास न तो इतिहास का जीता—जागता चित्र ही उपस्थित कर पाते हैं और न तो ये सफल साहित्यिक कृति ही बन पाते हैं। व्रजनन्दन सहाय के 'लाल चीन' और मिश्रबन्धुओं के 'वीरमणि' में ऐतिहासिकता और काल्पनिकता का कुछ सम्यक् संयोग दिखायी पड़ता है। इन सारे ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांचकारी घटनाओं की सृष्टि कर इन्हें मनोरंजक बनाया गया है और साथ—ही—साथ उपदेश का स्वर भी बुलन्द किया गया है। यानी लेखक पात्रों और कथानक से ध्वनित होने वाले स्वर पर विश्वास नहीं करता। वह स्वयं अन्त में उपदेश का स्वर मुखर करता है या किसी पात्र से कराता है। जैसे किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा' उपन्यास में रानी चन्द्रावली अपने भाई से कहती है—'भारतवर्ष के भाग्य विपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास आँखों के आगे नाच रहा है, तो भी स्वार्थ से अन्धे होकर तुमने यवनों पर अन्धविश्वास कर लिया है। भाई, जागो और मोह—निद्रा को छोड़ सनातन धर्म और क्षत्रिय कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।'

'परीक्षा गुरू' हिन्दी का पहला उपन्यास माना गया है इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ सामाजिक यथार्थ की पहचान से हुआ और सामाजिक यथार्थ की पहचान की यह यात्रा प्रेमचन्द, प्रसाद, यशपाल आदि से होती हुई आज तक पहुँची है तथा विविध आयाम धारण करने में समर्थ हुई है। यथार्थ की पहचान की एक दूसरी धारा भी है जो व्यक्ति—मन को केन्द्रित करके चली है और जो मूलतः जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि से होती हुई आज के यौन चेतना—केन्द्रित उपन्यासों तक आयी है। किन्तु

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय जीवन की सही पहचान इन सामाजिक यथार्थ वाले उपन्यासों से होती है, इनमें भारतीय जीवन के तमाम सुख–दुखों, सम्बन्धों और मूल्यों, शक्तियों और सीमाओं, छवियों और अछवियों, मिट्टी और पानी की गन्ध की परतें बिछी होती हैं। वे मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी भारतीय जीवन की गन्ध उभारते हैं जो व्यक्ति–मन के सत्य को केन्द्रित करने के बावजूद भारतीय परिवेश को उभारते हैं। 'त्यागपत्र' और 'शेखर : एक जीवनी' इसीलिए भारतीय उपन्यास लगते हैं।

'जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती वह एक बार की परीक्षा से भली भाँति मन में बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा(को) गुरू मानते हैं।' इस कथन से स्पष्ट है कि लेखक ने परीक्षा को गुरू सिद्ध करने के लिए यह उपन्यास लिखा है। यह एक सनातन सिद्धान्त है किन्तु इस सिद्धान्त को सनातन सिद्ध करना लेखक का उद्देश्य नहीं रहा है, वह तो वास्तव में अपने समय में कुछ अंग्रेजों के प्रभाव से और कुछ अपनी ही विकृत मध्यकालीनता के प्रभाव से देश और समाज में उत्पन्न होने वाली कुछ सामाजिक और चरित्रगत विसंगतियों और विकृतियों का उद्घाटन कर तथा उनका समाधान प्रस्तुत कर कुछ शिक्षा देना चाहता है। इस प्रकार समकालीन परिवेश के यथार्थ को मूर्त कर भारतीय जीवन में उत्पन्न होने वाली कुरूपताओं की पहचान उभारना और एक विशिष्ट प्रभावशाली घटना की चोट से एक प्रकाश पैदा करना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है।

कहानी

हिन्दी–साहित्य में कहानियों का आरम्भ कुछ बाद में हुआ। भारतेन्दु–युग में कहानियां नहीं लिखी गयीं। कुछ कथानक शैली के निबन्ध लिखे गये थे, जो पढ़ने में अत्यन्त रोचक थे। कहानियों का विकास आगे हुआ। 'सरस्वती'(1900) पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी–कहानी का जन्म मान्य है। आरम्भ में लिखी गयी कहानियों में कुछ शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर कुछ संस्कृत–नाटकों के आधार पर, कुछ बंगला–कहानियों को रूपान्तरित करके, कुछ लोककथाओं से प्रेरणा लेकर और कुछ जीवन की वास्तविक घटनाओं को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत की गयीं। आरम्भिक

कथा–लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, माधवप्रसाद मिश्र; बंगमहिला, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्द्रमती' कहानी 'सरस्वती' में 1900 ई० में प्रकाशित हुई। यह शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक के आधार पर लिखी गयी है। इस वर्ष 'सुदर्शन' में माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' कहानी प्रकाशित हुई। 1902 ई० में 'सरस्वती' में भगवानदीन, बी०ए० की 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी प्रकाशित हुई। यह वास्तविक परिस्थिति का चित्र प्रस्तुत करने वाली रचना है। 'सरस्वती' में ही रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय'(1903) और बंगमहिला की 'दुलाईवाली'(1907) शीर्षक कहानियां प्रकाशित हुई। हिन्दी के आरम्भिक मौलिक कहानीकारों में इन्हीं लेखकों के नाम आते हैं। 1909 ई० में काशी से 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमें जयशंकर प्रसाद की भावात्मक कहानियां प्रकाशित हुई। इन कहानियों का संग्रह 'छाया'(1912) नाम से प्रकाशित हुआ।

इस समय तक प्रेमचंद की कुछ कहानियां 'जमाना' में प्रकाशित हो चुकी थीं। उर्दू में अधिक यश और धन की प्राप्ति की सम्भावना न देखकर वे हिन्दी की ओर उन्मुख होने लगे थे। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी कुछ कहानियों के शीर्षक हैं–'सौत'(1915) 'पंच परमेश्वर'(1916) 'सज्जनता का दंड'(1916) 'ईश्वरीय न्याय' (1917) और 'दुर्गा का मन्दिर'(1917) चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'(1883 से 1920) की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' (1915) ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। पहले महायुद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी यह कहानी रचना–शिल्प की दृष्टि से अपने समय से बहुत आगे की रचना है। आधुनिक हिन्दी–कहानी का आरम्भ यहीं से मानना चाहिए। इसमें निहित त्यागमय प्रेम का आदर्श भारतीय संस्कृति की उदात्तता के अनुकूल है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सन् 1900 के लगभग हिन्दी–कहानी का जन्म हुआ और 1912 से 1918 ई० के बीच वह पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गयी। साहित्य में उसकी स्वतन्त्र सत्ता तभी मान्य हुई और उसका मौलिक रूप निखरा। किसी भी साहित्य–विधा के उद्‌भव और विकास के लिए यह समय बहुत कम है; किन्तु भारतीय मानस में प्राचीन लघुकथाओं का संस्कार शेष था। पाश्चात्य कहानी–कला से परिचित होते ही वह संस्कार जाग उठा और हिन्दी में कलापूर्ण कहानियों की सृष्टि आरम्भ हो गयी। इस क्षेत्र में प्रेमचंद और प्रसाद ने दो भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया। प्रेमचन्द जीवन की वास्तविक घटनाओं और समस्याओं को लेकर आदर्श की प्रतिष्ठा

कर रहे थे, जबकि प्रसाद मनुष्य की भीतरी भाव–द्वन्द्व को व्यक्त करने में लीन थे। प्रेमचंद मुख्यतः वर्तमान के दु:ख–दर्द, हार–जीत और न्याय–अन्याय की कहानी कह रहे थे, जबकि प्रसाद अतीत में कल्पना के सहारे रम रहे थे।

इस युग में कहानियों के अनुवाद भी हुए। अधिकतर बंगला भाषा से अनुवाद किये गये। अनुवादकों में गिरिजाकुमार घोष(पार्वती नन्दन) और बंगमहिला के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संदर्भ ग्रन्थ :–

(1) हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल

(2) हिन्दी उपन्यास कोश (खंड –1) – गोपाल राय

(3) प्रेमचंद पूर्व के कथाकार और उनका युग – लक्ष्मण सिह बिष्ट

(4) हिंदी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा – रामदरश मिश्र

(5) साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य – रघुवंश

(6) हिंदी साहित्य का सर्वेक्षण – विश्वम्भर 'मानव'

द्वितीय अध्याय :

प्रेमचन्द युग का कथा साहित्य
(उपन्यास)

प्रेमचन्द का कथा साहित्य

उपन्यास

उपन्यास को बीसवीं शताब्दी के हिन्दी गद्य की सर्वाधिक सशक्त एवं लोकप्रिय विधा कहा जा सकता है। साहित्य के इस माध्यम में जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति के उजागर होने से इसमें समाज की सच्ची तस्वीर देखने को मिलती हं। सामाजिक जीवन के विविध स्पन्दनों का, अनुभूतियों एवं विचारों का समस्याओं एवं चिन्ताओं को इस माध्यम द्वारा हम हू–ब–हू साक्षात्कार कर सकते हैं। गद्य की इस महाकाव्यात्मक विधा में भारतीय जन–जीवन को प्रतिबिम्बित हुआ देख सकते हैं। यह तत्त्व प्रेमचंद के उपन्यासें में विशेष रूप से मिलता है।

मुंशी प्रेमचन्द का आगमन हिन्दी उपन्यास साहित्य को सही और नई दिशा प्रदान करता है। उन्होंने हिन्दी उपन्यास के तिलिस्म–ऐयार एवं जासूस को पिटारी से निकालकर उसको वास्तविक रूप प्रदान किया, उसे जीवन–संदर्भों से जोड़कर उसक अभियान को सार्थक बनाया। वस्तुतः 'सेवासदन' से 'गोदान' तक के उपन्यासों द्वारा प्रेमचन्द ने हिंदी उपन्यास को वयस्कता प्रदान की है। इन उपन्यासों में प्रेमचन्द की पददलित एवं शोषित मानवता के प्रति सच्ची संवेदना प्रकट होती है। भारतीय कृषक तथा भारतीय नारी उनकी सहानुभूति के सर्वाधिक पात्र रहे हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द ने हिंदी उपन्यास को नया मुहावरा और शिल्प प्रदान किया है। प्रेमचन्द के 'गोदान' के साथ हिंदी उपन्यास ने अपने विकास के महत्त्वपूर्ण सोपान को पार कर लिया। उनकी इस रचना के साथ उपन्यास अपने सही अर्थों में आधुनिक उपन्यास की संज्ञा धारण करता है।

प्रेमचंद ने कुल पन्द्रह उपन्यासों की रचना की थी। उनका पहला उपन्यास 'असराने मआविद उर्फ देवस्थान रहस्य' था। इसके बाद उन्होंने 'प्रेमा' (उर्दू में पूर्वरूप हम खुर्मा व हम सबाब), किशना (अनुपलब्ध), रूठी रानी, वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, गबन, कर्मभूमि, गोदान, मंगलसूत्र (अपूर्ण) का प्रणयन किया। प्रेमचन्द के पुत्र अमृतराय ने एक स्थान पर 'श्यामा' को उनकी पहला उपन्यास बताया है। (नयी समीक्षा, पृष्ठ **158**) प्रेमचन्द के जीवनकाल में 'असरारे–मआबिद' और 'रूठी रानी' से

हिन्दी – जगत परिचित नहीं हो सका था। **1962** ई० में अमृतराय ने 'मंगलाचरण' नाम से इनका तथा 'प्रेमा' और उसके उर्दू रूप 'हम खुर्मा व हम सवाद' का प्रकाशन किया और इस प्रकार लम्बे समय से चल रहे विवाद का अन्त हुआ। 'प्रेमा और हम खुर्मा व हम सवाब' का एक साथ संकलन भी उपयोगी सिद्ध हुआ, क्योंकि इनके तुलनात्मक अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रेमा', 'हम खुर्मा' व हम सबाब का अनुवाद नहीं बल्कि उसका रूपान्तर है।

असरारे मआविद' और रूठी रानी' को हिन्दी उपन्यास–साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार करने में संकोच हो सकता है। पर इसमें सन्देह नहीं कि परवर्ती प्रेमचन्द के समुचित बोध के लिए इनका अध्ययन आवश्यक और अनिवार्य है। 'असरारे मआविद' बनारस से निकलने वाले उर्दू साप्ताहिक 'आजाद ए खलक' में क्रमिक रूप से प्रकाशित हुआ था और 'मंगलाचरण' में इसकी एक अनुपलब्ध किश्त को छोड़कर शेष को संकलित किया गया है। 'मंगलाचरण' की भूमिका में अमृतराय ने लिखा है– ''यह किस्सा बिल्कुल सरशार के रंग में लिखा गया है लेकिन बाद के मुंशी प्रेमचन्द की झलकियाँ भी उसमें भरपूर हैं।'' (पृ० **9**) वस्तुतः शैली की अपेक्षा वस्तु की दृष्टि से प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास–साहित्य से इसका सामंजस्य अधिक दीखता है। उपन्यास के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इसमें मन्दिरो और मठों में पनपने वाली बुराइयों और विकृतियों को उद्घाटित किया गया है तथा उसके प्रबन्धकों–पंडों, पुजारियों और महंतों की पोल खोली गई है। इस संदर्भ में प्रेमचन्द पर आर्यसमाजी विचारधारा का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अमृतराय के अनुसार वे आर्यसमाज के जलसों में ता जाते ही थे, हमीरपुर में रहते हुए आर्यसमाज के बाकायदा मेम्बर' भी थे।' (कलम का सिपाही अमृतराय, पृष्ठ **48**)। यही नहीं, परवर्ती उपन्यासों में लक्षित होने वाली सुधारवादी प्रवृति के मूल में भी आर्यसमाजी विचारधारा और गोखले तथा रानाडे की सोशल रिफ़ार्म्स लीग' की छाप लक्षित होती है। (वही, पृष्ठ **75**) इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म के नाम पर जो विलास और पाखण्ड पनप रहा था, उसे मुंशी जी कभी स्वीकार नहीं कर सके और उन्हें जब भी अवसर मिला उस पर निर्मम आघात करने से नहीं चूके। असरारे मआबिद' के महंत त्रिलोकीनाथ का चित्र प्रेमचन्द इस प्रकार खींचते हैं–''यह जो आप महंत जी के माथे पर लाल निशान देख रहे हैं, यह चन्दन के निशान नहीं बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे हैं कि हज़रत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है। आप जो इनके गले में मोहनमाला देख रहे हैं, यह असल में लोभ का फंदा है जो आपको खूब कसकर जकड़े हुए

है। सिर पर तिरछी रखी हुई टोपी आपकी अकल के तिरछेपन को ज़ाहिर कर रही है। आपके शरीर पर रंग–विरंगी मिर्ज़ई नहीं है, बल्कि अंध–विश्वासियों को सब्ज़ बाग़ दिखाने का यंत्र है।'' (मंगलाचरण, पृष्ठ 5)। मदिरापान, नाच, राग–रंग, यही महंत की दिनचर्या के अंग है। उसकी अलमारी में शराब की बोतलें चुनी हुई हैं। उसका देवस्थान स्त्रियों को फुसलाने और फसाने का अड्डा है। वे कभी छोकरी वेश्या को फुसलाते दीखते हैं तो कभी रामकली विवाहिता को अपने जाल में फांसते हुए दृष्टिगत होते हैं। रामकली का पति महत की अपेक्षा कहीं अधिक सुदर्शन और सजीला है पर जो सुख–भोग महंत उसे उपलब्ध करवाते हैं, वह उसके मध्यवित्तीय पति द्वारा करवाया जाना संभव नहीं। इसीलिए रामकली उनके साथ कहीं भी भाग निकलने के लिए तैयार है। वह त्रिलोकीनाथ को मठ की भूमि बेच डालने के लिए कोंचती है। त्रिलोकीनाथ स्वीकार करता है कि उसे यह 'अख्तियार' प्राप्त नहीं हैं, नहीं तो वह कब चूकने वाला था। इसके अतिरिक्त महंत बने रहने मे जो चैन–आराम है, वह कहीं दूसरी जगह कैसे मिल सकता है? उसके अपने शब्दों में–''दिन भर मे एक से एक सजीली औरतें घूरने में आती हैं। रात भर नाच–रंग की महफ़िल गर्म रहती है। हर वक्त शराब–कवाब का दौर चला करता है। यार दोस्तों का जमघट रहता है।'' (पृष्ठ 25)

'असरारे मआबिद' में यह भी दिखाया गया है कि ये पंडे– पुजारी न केवल स्त्रियों का सतीत्व लूटते है बल्कि कई प्रकार के हथकंडों के द्वारा उनके जेवर–कपड़े भी हथिया लेते हुँ। इनका जादू इतना प्रबल है कि जो स्त्री फंस जाती है, वह दूसरी स्त्रियों को फंसाने में इनको सक्रिय सहयोग भी देती है। प्रेमचन्द मानते थे कि ये धर्म के ठेकेदार परले दरजे के ऐयाश हैं, नम्बर एक के जालिम हैं और इन्तहा दर्जे के बेईमान हैं (पृ० 46)। इस उपन्यास में रामकली तथा दूसरी स्त्रियों के माध्यम से नारी की सामाजिक स्थिति, उसके आभूषण–प्रेम, उसके जर्जर आदर्शों का अंकन ही नहीं किया गया, परिवारों को नरक में परिवर्तित कर देने वाले संघर्षों और कलहों तथा समाज के पतनोन्मुख नैतिक मूल्यों की तस्वीर भी खींची गई है। अपने पहले उपन्यास में प्रेमचन्द नारी के विषय में अपना दृष्टिकोण स्थिर करने की प्रक्रिया में संलग्न दीखते हैं। इस उपन्यास का एक पात्र कहता है कि 'औरतें बाहर निकलें जरूर मगर मजबूरी दर्जे, सैर–सपाटे के लिए हरगिज नहीं। बिना जरूरत छुट्टा सांड की तरह मटरगश्ती करना बहुत बुरा मालूम होता है।'' (वही, पृ० 44)। स्पष्ट है कि नारी के प्रति पूरी सहानुभूति रखते हुए भी उन्हें पूरी स्वतन्त्रता देने के

पक्ष में प्रेमचन्द शुरू से ही नहीं थे। नारी के अन्य रूप वेश्या के प्रति प्रेमचन्द की सहानुभूति भी यहाँ अंकित हुई है जिसके रूप, यौवन और कला के बल पर परजीवी ऐश करते हैं और उसे भरपेट भोजन भी नहीं मिलता।

'असरारे मआबिद' में प्रेमचंद का किस्सागो रूप बहुत उजागर है। वैराग्य, इन्द्रियदमन, गंगा, बैल आदि को लेकर वे लम्बी–लम्बी व्याख्याएं ही नहीं करते बल्कि कुछ पात्रों को एक किस्से बेचने वाले की दुकान पर पहुँचाकर एक राजकुमारी और उसके प्रेमी की समूची कथा ही प्रस्तुत करा देते हैं। इसके अतिरिक्त गीतों–गजलों के उद्धरणों से उपन्यास में रोचकता के समावेश का प्रयत्न हुआ है। यह भी स्पष्ट है कि कथा संयोजन–शिल्प में अभी प्रेमचंद कुशल नहीं हुए थे। इसलिए वे न केवल कथा को उसके तर्कसम्मत अंत तक नहीं पहुँचाते बल्कि इसके बिखराव और क्रमविहीनता को भी दूर नहीं कर पाते। पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उजागर करने और उन्हें निजी व्यक्तित्व प्रदान करने की जो सामर्थ्य उनकी परवर्ती रचनाओं में दीखती है, उसका अनुकरण इस कृति में भी लक्षित किया जा सकता है। संवादों की चुस्ती और चुटीलापन, व्यंगात्मकता, मुहावरों–लोकोक्तियों तथा उपमाओं के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली ताजगी और स्फूर्ती जैसी शैलीगत विशेषताओं की झलक प्रारंभिक कृति में भी उपलब्ध हो जाती है।

अपने दूसरे उपन्यास 'प्रेमा' में प्रेमचंद उस समय की ज्वलन्त समस्या 'विधवा–समस्या' को उठाते हैं। समूचा उपन्यास हिन्दू विधवा की सामाजिक स्थिति के निरूपण और 'विधवा–विवाह' के औचित्य के प्रतिपादन के उद्देश्य से लिया गया प्रतीत होता हैं उपन्यास के नायक वकील अमृतराय एक समाज–सुधारक लाला धनुषधारी लाल के व्याख्यान के प्रभाव में आकर अपने को जाति पर न्योछावर करने की प्रतिज्ञा करता है (मंगलाचरण, पृ० **224**)। उसके मित्र दीनानाथ का सारा समझाना–बुझाना बेकार हो जाता है। इसी आदर्श से प्रेरित होकर अमृतराय अपनी मंगेतर प्रेमा से विवाह न करने का निर्णय करता है। सुधार–कार्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर देने पर उसे चारो ओर से विरोध सहना पड़ता है। इस उपन्यास में प्रेमचंद दिखाते हैं कि उस समय सुधारवादी होने का मतलब ईसाई हो जाना समझा जाता था। उसके भावी श्वसुर उसे लिखते हैं– "जिसे लोग सामाजिक सुधार सभा कहते हैं वह तो ईसाई मंडली है।" प्रत्युत्तर में अमृतराय स्पष्ट कर देता है कि 'सामाजिक सुधार के अतिरिक्त उसे देश की उन्नति का कोई उपाय नहीं दीखता।' वह यह भी कहता है कि "आप जिसको सनातन धर्म समझे बैठे हैं, वह अविद्या

और असभ्यता का प्रत्यक्ष स्वरूप है।" (पृ० **244**)। इस प्रकार प्रेमचंद स्वयं पर आर्यसमाज के प्रभाव को स्पष्ट कर देते हैं। प्रेमचद की राजनैतिक चेतना अभी प्रायः सुप्त पड़ी थी और उनके लिए समाज–सुधार ही देश–भक्ति का दूसरा नाम था। अंग्रेज कमिश्नर का प्रजा–हितैषी चरित्र (पृ० **276**) भी प्रेमचंद की अपरिपक्व राजनैतिक चेतना को प्रमाणित करता है।

समाज में विधवा की वास्तविक अवस्था के चित्रण और विधवा–विवाह को समाधान के रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से प्रेमचंद प्रेमा की एक सहेली पूर्णा के पति बसन्त कुमार का गंगा में डूबने के प्रसंग का समावेश करते हैं। विधवा पूर्णा के पास अमृतराय का आना–जाना और प्रेमा के द्वारा पूर्णा का श्रृंगार मुहल्ले की स्त्रियों को तनिक भी अच्छा नहीं लगता। विधवाओं की दुरवस्था का संकेत एक बाल–विधवा रामकली के मुख से प्रेमचंद ने विशेष रूप से कराया है। विधवा हो जाने पर वह घर भर की लौंडी बना दी गयी है। उसे न केवल सब काम करने होते हैं, सभी के जूते और लात भी सहन करनी पड़ती है। काजल–मिस्सी लगाना, बाल गुंथना, रंगीन साड़ियाँ पहनना, पान खाना उसके लिए वर्जित हैं। बहू–बेटियॉ उससे कन्नी काटती हैं और भोर के समय तो उसका कोई मुँह भी नहीं देखना चाहता। दलित और असहाय भारतीय विधवा के मन में अकसमात विद्रोह का स्वर रामकली के शब्दों में प्रेमचन्द ने इस प्रकार मुखरित किया है –"आखिर हम भी तो आदमी हैं। हमारी भी तो जवानी है। दूसरों का राग–रंग, हँसी, चुहल देख–देख अपने मन में भी भावना होती है। जब भूख लगे और खाना न मिले तो हारकर चोरी करनी पड़ती है (पृष्ठ, **281**)। इस प्रकार रामकली के शब्दों में प्रेमचंद विधवा की व्यथा और विवशता ही अंकित नहीं करते, समाज के नियामकों को चेतावनी भी देते हैं कि यदि नैतिक मर्यादाओं की रक्षा करती है तो उन्हें विधवाओं को मानवोचित अधिकार देने होगे।

'असरारे मआबिद' में प्रेमचंद धर्मस्थानों की जिस पतितावस्था का अंकन कर चुके थे, उसे 'प्रेमा' में भी दिखाने से नहीं चूकते और पंडो–पुजारियों की विलासितापूर्ण और अमर्यादित जिन्दगी की अच्छी तस्वीर उकेरते हैं। इसके अलावा वे नैतिक विधिनिषेधों के प्रति मध्यवर्ग के अतिरिक्त आग्रह का संकेत भी 'प्रेमा' में करते हैं। अमृतराय के प्रति आकृष्ट होते हुए भी उसका विवाह–सन्देश पाकर पूर्णा एककदम भौंचक्की रह जाती है और कहती है–"भले मानुसों में ऐसा कभी होता ही नहीं। हाँ, नीच जातियों में सगाई, डोला सब आता है।" (पृष्ठ, **302**)। पूर्णा और अमृतराय को धर्म, समाज, बिरादरी सभी के विरोध का सामना

करना पड़ता है। पंडित भृगुदत्त कहते हैं– 'विधवा–विवाह' वर्जित है। कोई हमसे शास्त्रार्थ कर ले। वेद–पुराण में कहीं ऐसा अधिकार कोई दिखा तो हम आज से पंडिताई करना छोड़ दे।" (पृष्ठ **308**)। अमृतराय को लोगों की ओर से तरह–तरह की धमकियाँ ही नहीं दी जाती, उन्हें मार डालने के लिए एक भारी भीड़ भी इकट्ठी हो जाती है। इस विवाह का एक कट्टर विरोधी ठाकुर जोरावरसिंह विवाह–स्थल पर हमला करते हुए पुलिस की गोली का शिकार हो जाता है। अमृतराय–पूर्णा के विवाह का चित्र खींचते हुए प्रेमचंद हिन्दू समाज में विद्यमान वैवाहिक रीति–रिवाजों के दोषों का संकेत भी करते हैं और आदर्श विवाह की अपनी कल्पना भी उकेरते हैं– 'बरात क्या थी, सभ्यता और स्वाधीनता की चलती–फिरती तस्वीर थी। न बाजे की धड़धड़, पड़पड़, न बिगुल की धोंधो, पोंपों, न सोटे बल्लम वालों की कतार, न फूलवाड़ी, न बगीचे बल्कि भले मानुषों की एक मडली थी जो धीरे–धीरे कदम बढ़ाती चली जा रही थी।' (पृष्ठ **313**)। विवाह में न गीत गाए न गाली–गलौज की नौबत आई, नंगाचार का ऊधम मचा। (पृष्ठ **314**)। प्रेमचंद का विचार था कि 'विधवा–विवाह' की प्रथा एक बार शुरू हो गई तो इसका अनुसरण भी होगा। इसी कारण दो विधवा–विवाह उपन्यास में और सम्पन्न होते हैं। पर विवाह हो जाने से ही रूढ़िपंथी लोग हार नहीं मानेंगे, यह बात भी प्रेमचंद भली–भाँति समझते थे। जो लोग लाठियों से इस विवाह को नहीं रोक सके थे, अब बिरादरी के बायकाट की धमकी द्वारा अमृतराय के नौकरों को भगाकर अपना रूद्ध आक्रोश प्रकट करते हैं। धर्म के साथ बिरादरी के प्रतिक्रियावादी रूप और सामान्य मनुष्य के मन पर उसके आतंक से प्रेमचंद भली–भाँति अवगत थे और 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक की अनेक रचनाओं में इसे अंकित भी करते है। अमृतराय के नौकरों के मन में बिरादरी का आतंक किस तरह बद्धमूल है– "मुदा बिरादरी की बात ठहरी। हुक्का–पानी बन्द होई गवा तो फिर कई के द्वारे जेबे" (पृष्ठ **321**)। बिरादरी से निष्कासित होने के भय से सभी नौकरों के खिसक जाने से और दुकानदारों बायकाट से सौदा–सुल्फ प्राप्त करना कठिन हो जाता है। उन्हें कोई कुएँ से पानी भी नहीं लेने देता। अमृतराय की वकालत चौपट हो जाती है। बाद मे बंगाली जज और मुसलमान रिश्तेदार के चतुर व्यवहार के परिणामस्वरूप फिर से मुवक्किल उनके पास आने लगते हैं और लाला धनुषधारी लाल द्वारा भिजवाए गए पंजाबी और काश्मीरी नौकरों से घर का काम चलने लगता है। इस स्थल पर संकेत हल्के जरूर हैं पर उनकी दिशा बिलकुल साफ है। प्रेमचंद के परवर्ती

उपन्यासों में प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता के प्रति जो विरोधी दृष्टिकोण अपनाया गया है, उसको बीज रूप में इस उपन्यास में भी देखा जा सकता है।

उपन्यास यहीं समाप्त नहीं हो जाता। प्रेमचंद पहले कह चुके थे कि ईश्वर ने प्रेमा और अमृतराय को एक दूसरे के लिए बनाया था। इसी सूत्र को आगे बढ़ाने के लिए अथवा एक बार फिर विधवा–विवाह करवाने के लोभ से वे दीनानाथ तथा कुछ साथियों से अमृतराय पर घातक हमला करवाते हैं। पूर्णा की गोली का शिकार होकर दीनानाथ मर जाता है और पूर्णा आत्महत्या कर लेती है। प्रेमा और अमृतराय का रास्ता साफ हो जाता है और उनके विवाह के साथ ही उपन्यास खत्म हो जाता है।

'प्रेमा' शैल्पिक दृष्टि से निर्दोष नहीं है। इसमें घटनाओं के आकस्मिक मोड़ो, संयोगों, मौतो, हत्याओं, आत्महत्याओं का काफी आश्रय लिया गया है। 'असरारे मआविद' की अपेक्षा पात्र–परिकल्पना और चरित्रांकन शिल्प में विकास होने के बावजूद इस उपन्यास के दीनानाथ और प्रेमा के चरित्र काफी कृत्रिम हो उठे हैं। समग्रतः अनेक अन्य कमियों के बावजूद यह उपन्यास परवर्ती प्रेमचंद की संभावनाओं का सकेत देता है। विधवा की अवस्था के यथार्थ निरूपण और रामकली के माध्यम से शताब्दियों से शोषित और मर्दित नारी–जाति में विकसित हो रही नव–जागृति की झलक की दृष्टि से यह उपन्यास उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त 'सेवासदन' की सुमन के व्यक्तित्व की परिकल्पना आकस्मिक नहीं थी, यह प्रेमा के नारी पात्रों के अध्ययन के उपरान्त सहज ही समझा जा सकता है।

'रूठी रानी' प्रेमचन्द का एकमात्र ऐतिहासिक उपन्यास है। प्रेमचन्द ने कुछ उत्कृष्ठ ऐतिहासिक कहानियों की रचना भी की थी, पर उनके व्यक्तव्यों से स्पष्ट हो जाता है कि अतीत के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति उनके मन मे नहीं थी। प्रसाद के उपन्यास 'कंकाल' का स्वागत करते हुए उन्होंने कहा था कि हम दो हजार वर्ष पूर्व की समस्याओं को अंकित नहीं कर सकते। एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं कि 'ऐतिहासिक ज्ञान' और 'कल्पना' निजी और प्रत्यक्ष निरीक्षण की बराबरी नहीं कर सकता। इस दृष्टिकोण के बावजूद उन्होने 'रूठी रानी' की रचना कयों की? उपन्यास के अध्ययन से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का लक्ष्य अतीत के किसी कालखण्ड में विद्यमान समस्याओं का चित्रण करना न था और न ही अतीत के पट पर वर्तमान का चित्र अंकित करना उन्हें अभीष्ट था। उन्हें तो लोक–कथाओं और लोक–गीतों में चले आ रहे जैसलमेर के रावल लोनकरन की बेटी उमा के उदात्त और रोमानी चरित्र ने इतना आकृष्ट कर लिया था कि उसकी जीवन–कथा को

उन्होंने इस लघु उपन्यास के रूप में ढाल दिया। उमा के जन्म से लेकर उसके सती हो जाने तक की घटनाओं को इस उपन्यास में संजोया गया है, इसके बाद की कतिपय घटनाओं का उल्लेख भी हुआ है और इस प्रकार उपन्यास की काल–सीमा तीन सौ वर्ष तक खिचती हुई सन् **1857** तक आ पहुँची है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि इनका मूल कथानक से बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं है। उमा का विवाह विचित्र परिस्थितियों में होता है। अपने शत्रु मेवाड़ के राजा मालदेव को अपनी बेटी से विवाह के लिए सदेश रावल लोनकरन स्वीकार तो कर लेता है पर उस विवाह–बेदी पर ही मौत के घाट उतार देने का षडयन्त्र भी करता है। उमा अपनी दासी भारीली के माध्यम से मालदेव को सावधान कर देती है। विवाहोपरान्त, शराब के नशे में चूर, मालदेव दासी को ही रानी समझकर उसके साथ रात बिता देता है। यहीं से कथा में पहला मोड़ आता है और उमा रूठ जाती है। चारण ईश्वरदास के प्रयत्न से पारस्परिक मनोमालिन्य की समाप्ति की सम्भावना पैदा होती है। पर भारीली के प्रति राजा की आसक्ति का एक और प्रमाण उसे पूरी तरह समाप्त कर देता है। राजा की आयु पर्यन्त उमा रूठी रहती है और उसके मर जाने के बाद उसकी पगड़ी के साथ सती हो जाती है। कथा–संयोजन में क्रम–विहीनता, चरित्रांकन मे शिथिलता आदि कमियों के बावजूद तत्युगीन परिवेश की पकड़ की दृष्टि से 'रूठी रानी' उल्लेखनीय है। बेटी के जन्म पर राजपूतों की शोक प्रवृत्ति, वैयक्तिक वैमनस्य के कारण अपनी ही बेटी को विधवा बना देने के लिए प्रस्तुति, महलों के हास–विलास, षडयन्त्र जैसी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को उकेर कर प्रेमचन्द इसे यथार्थ रूप देते हैं। इसके अतिरिक्त अपनी अस्फुट राजनैतिक चेतना को बैरमजी के मुख से इन शब्दों में व्यक्त करते हैं– हिन्दुओं में अनबन और फूट ने हमेशा मुल्क वीरान किए हैं और गैरों से हमेशा हार दिलायी है' (मंगलाचरण, पृ० **391**)। यद्यपि उमा का चरित्र भी प्रेमचन्द ने आवश्यक विस्तार से अंकित नहीं किया तथापि उसमें – दर्प, स्वाभिमान, अत्याचार को चुनौती देने का साहस – जैसे वे सभी तत्त्व विद्यमान प्रतीत होते हैं जो 'सेवासदन' की सुमन और 'गोदान' की धनिया को अविस्मरणीय बना देते हैं।

प्रेमचन्द का अगला उपन्यास 'वरदान' है। हिन्दी में चाहे यह 'सेवासदन' के बाद प्रकाशित हुआ था लेकिन इसका मूल उर्दूरूप 'जलवा ए ईसार' नाम से सेवासदन से **5-6** वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका था। 'वरदान' प्रेमचन्द के अपरिपक्व कलाकार को स्मरण कराता

है और उन उपन्यासों की श्रेणी में आता है जिन्होंने बाद के प्रेमचन्द के निर्माण के लिए नींव का कार्य किया।

'वरदान का कथातन्त्र कुछ उलझा हुआ है और उपन्यास के मूल कथ्य के विषय में कोई स्पष्ट धारणा बनाने में बाधक होता है। इसीलिए इस कभी सुधारवादी और कभी दुखान्त प्रेम–कथा का 'आदर्शवादी सुखान्त' उपन्यास बताया गया है। उपन्यास का प्रारम्भ सुवामा द्वारा अष्टभुजा देवी की प्रार्थना से होता है। वह सपूत को संसार का सबसे उत्तम पदार्थ मानती हैं। पर वह नहीं चाहती कि उसका बेटा विद्वान हो या माता–पिता की सेवा करे। वह तो यही चाहती है कि वह जाति का उपकार करे। प्रेमचन्द के युग में जाति – सेवा की चेतना बहुत प्रबल थी। इस उपन्यास के माध्यम से प्रेमचन्द ने उसे ही व्यक्त करने का प्रयास किया है। सुवामा का बेटा प्रताप देवी के वर के अनुरूप बालाजी बनकर निम्न जातियों, अनाथों, रोगियों, बाढ़ – पीड़ितों की सेवा करता है। इस प्रकार जाति – सेवा के आदर्श की स्थापना उपन्यास का मूल लक्ष्य प्रतीत होता है। पर प्रताप को बाला जी बनाने में दैवी प्रेरणा के अतिरिक्त पार्थिव एवं निजी परिस्थितियों की विवशता भी थी। यों तो बचपन की सखी विरजन के प्रति अपने प्रेम असफल प्रताप बनारस के छात्र–जीवन में भी छिट–पुट सुधार–कार्य करता हुआ दीखता है, पर उसको बाला जी बनने की अन्तर्प्रेरणा तो तभी मिलती है जब रात के दो बजे वह विधवा विरजन की दिव्य और अनुपम रूपराशि को देखकर, अपने मन की दुर्बलता पर पछताता हुआ, संन्यासी हो जाता है। प्रताप और विरजन की प्रेमकथा को लेखक ने काफी विस्तार भी दिया है। कहीं–कहीं तो वह मुख्य कथा का स्थान लेती प्रतीत होती है और इसके कथ्य के विषय मे भ्रान्ति पैदा कर देती है। इस 'दुःखान्त प्रेम–कथा' से ही सम्बद्ध है विरजन और कमलाचरण के अनमेल विवाह की कहानी। मूल कथ्य न होने के बावजूद प्रेमचन्द भारतीय कन्या की मूक और असहायावस्था को चित्रित करने का अवसर यहाँ भी छोड़ना नहीं चाहते। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि विरजन के पिता मुंशी जीवनलाल आलस्य औरे प्रमादवश भावी दामाद के विषय में कोई छानवीन नहीं करते और विरजन एक आवारा लड़के कमल चरण–जो कि पतंग लड़ाने और कबूतर उड़ाने के सिवाय कोई काम नहीं करता और जो पत्नी के गहनों के लिए अपने घर में ही सेंध लगानें में संकोच नहीं करता– से ब्याह दी जाती है। इसी को लक्ष्य करके प्रेमचन्द कहते हैं 'मुंशी जी के अगणित बान्धव इसी भारतवर्ष में अब भी विद्यमान हैं जो अपनी प्यारी कन्याओं को इसी प्रकार नेत्र बन्द करके कुएँ में ढकेल दिया करते हैं।' (वरदान,–पृ० 35)।

विरजन के प्रेम में कमलाचरण का हृदय– परिवर्तन हो जाना पर प्लेग के प्रकोप से बचने और पढ़ने के उद्देश्य से बनारस गया हुआ कमलाचरण एक माली की लड़की पर आसक्त हो उठता है। माली द्वारा देख लिए जाने पर अपने प्राण लेकर भागता हुआ वह गाड़ी से गिरकर मर जाता है और विरजन विधवा हो जाती है।

प्रताप–विरजन की कथा से जुड़ी हुई एक छोटी–सी प्रेम–कहानी और भी हैं विरजन से प्रताप के विषय में सुनकर माधवी मन–प्राण से उसके प्रति समर्पित हो जाती है। बाला जी के रूप में प्रताप, उसके समर्पण से प्रभावित होकर संन्यास छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है। पर रोमानी आदर्शवादी माधवी उसे पथभ्रष्ट नहीं करना चाहती और बालायोगिनी बनकर ज़िन्दगी काटने लगती है।

इसके अलावा कुछ अन्य प्रासंगिक कथाएँ भी हैं। इन सबके कारण कथा–विन्यास में शिथिलता, कृत्रिमता और बनावटीपन जैसे दोष आ गए हैं। केन्द्रीय सूत्र के अभाव में कथानक में बिखराव प्रतीत होता है और उस पर अनेक जोड और पैबन्द लगे हुए दिखते हैं। यही नहीं पात्रों की भीड़भाड़, अनावश्यक मौतों, अस्वाभाविक हृदय–परिवर्तनों, बनावटी सवादों, अतिशय भावुकतापूर्ण स्थलों से उपन्यास का रूप काफ़ी विकृत हो गया है। पर इस उपन्यास का महत्व एक अन्य दृष्टि से अवश्य दीखता है। प्लेग के प्रकोप से शहर से भागकर मँझगाँव नामक गाँव पहुँचे हुए विरजन के श्वसुर डिप्टी श्यामाचरण के परिवार के सन्दर्भ में लेखक ने भारतीय ग्रामीणों की वास्तविक अवस्था का चित्रण किया है। कमलाचरण को लिखे हुए विरजन के पत्रों ने तथा बाला जी सम्बन्धी प्रसंगों से भारतीय गाँवों की दुरवस्था, ज़मींदारों और महाजनों के शोषण, छूआछूत तथा पुलिस के अत्याचारों की झाँकी मिलती है। इसके साथ ही कमलाचरण के बड़े भाई बाबू राधाचरण जैसे व्यक्तियों के रूप में हम एक ऐसे सामाजिक की उपस्थिति भी पाते हैं जो विद्रोही स्वभाव का है।[1]

'सेवासदन' ने न केवल प्रेमचन्द को हिन्दी उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित किया था बल्कि हिन्दी उपन्यास के विकास की दिशा भी निर्धारित की थी। इसके साथ ही हिन्दी उपन्यास आदर्शवादी रोमानी भटकावों से मुक्ति के पथ पर अग्रसर हुआ था और इसका भावी रूप निर्धारित होने का मार्ग सुगम हो गया था। 'सेवासदन' उपन्यास की केन्द्रबिन्दु सुमन है और वह समूचे उपन्यास पर छायी हुई प्रतीत होती है। सुमन को परिस्थितियाँ उसे वेश्या बनने पर विवश कर देती हैं। इस सन्दर्भ में उपन्यास में 'वेश्या समस्या' का काफ़ी

[1] प्रेमचन्द –डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० 123

विस्तार से चित्रण एवं विवेचन भी हुआ है और इसीलिए कतिपय विद्वानों द्वारा इसकी मुख्य कथा–धुरी 'वेश्या समस्या' को ठहराया गया है। पर उपन्यास के अध्ययन से डॉ० रामविलास शर्मा के मत की पुष्टि होती है और कहा जा सकता है कि 'भारतीय नारी की पराधीनता' ही इसकी मुख्य समस्या है।[1]

सुमन के पिता कृष्णचन्द पुलिस में दारोगा होने के बावजूद ईमानदार, रसिक, उदार और बड़े सज्जन व्यक्ति हैं (सेवासदन पृष्ठ 5)। उन्होंने जिन्दगी में कभी रिश्वत नहीं ली थी और पैसा भी दिल खोलकर खर्च करते थे, इसलिए बेटी के विवाह की बात चली तो उन्हें बडी कठिनाई का अनुभव हुआ। दहेज का विरोध करने वाले लोग भी लालच छोड़ना नहीं चाहते थे। लाचार होकर कृष्णचन्द को रिश्वत लेनी पड़ी। नौसिखिए होने के कारण पकड़े गए और सज़ा हुई। अब सुमन के मामा ने गाँव में वर ढूँढना शुरू किया और एक दुहाजू वर तलाश कर लिया। यहीं से सुमन के भावी–जीवन की दिशा निर्धारित हुई। यहाँ प्रेमचन्द यही कहते प्रतीत होते हैं कि जिस समाज में लड़की की इच्छा–अनिच्छा की परवाह नहीं की जाती और जहाँ उसे बलि पशु की तरह जिस खूँटे से बाँध दिया जाता है, बँधना पड़ता है, जहाँ स्त्रियों के पास आर्थिक आत्म–निर्भर होने का कोई साधन नहीं, वहाँ स्त्रियाँ वेश्या नहीं बनेंगी तो क्या बनेंगी ?

आश्चर्य की बात तो यह है कि जो भारतीय समाज पहले लड़कियों को कुएँ में ढकेल देता है, वही बाद में उनसे पतिव्रत के पालन की माँग करता है। यही नहीं सदाचार और सतीत्व का राग अलापने पर भी इस समाज में घरेलू स्त्री की अपेक्षा वेश्या का अधिक महत्व दीखता है। सुमन अपने वैवाहिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं थी पर कुल–ललना का स्वाभिमान उसे सहारा दिए हुए था। परन्तु जब उसने धर्मात्माओं और विद्वानों को भी भोली वेश्या की कृपा का आकांक्षी पाया, धन और धर्म को एक साथ उसके सामने सिर झुकाते पाया तो उसका अभिमान चूर–चूर हो गया, उसके पैरों के नीचे की जमीन सरक गई। (सेवासदन पृष्ठ 23)। इसके साथ ही बाग के रक्षक द्वारा कुल ललना की अपेक्षा वेश्या के प्रति सद्व्यवहार भी उसे कचोट गया। ज़रा–ज़रा सी बात पर पति की शंका, गाली–गलौज ने उस अपनी स्थिति पर फिर से सोचने पर विवश कर दिया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया कि वेश्या की स्थिति उससे इसलिए बेहतर है, क्योंकि 'वह वेश्या स्वतन्त्र है, जबकि उसके पैरों में बेड़ियाँ हैं।'

---

[1] प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 32

पुरूष के अत्याचारों का निर्भय सामना करने वाली जिस स्त्री के अंकुर 'प्रेमा' की रामकली' और 'रूठी रानी' की उमा' में दिखाई देते हैं, वे सुमन के व्यक्तित्व में पूर्णतया विकसित रूप में दृष्टिगत होते हैं। प्रेमचन्द की कल्पना में ढलती हुई वह नारी–मूर्ति प्राणवान् होकर बड़े साहस से पति के दुर्व्यवहार का सामना करती है। वह उसकी डॉट–फटकार सुनती है पर उसके सामने गिड़गिड़ाती नहीं, उसके पाँव नहीं पड़ती। वह उसे साफ़ कह देती है – क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो ? जहॉ मजूरी करूँगी, वहीं पेट पाल लूँगी' (सेवासदन, पृ० 36)। पति के घर से निकलकर वह वकील पद्मसिंह के घर आश्रय लेती है पर समाज–भीरू पद्मसिंह उसे अपने घर में रखने में स्वयं को असमर्थ पाता है और उसे भोली का आश्रय स्वीकार करना पड़ता है। इस प्रकार प्रेमचन्द दिखाते हैं कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था और नारी की परमुखापेक्षिता उसे अनचाही स्थिति में डाल देती है। डॉ० रामविलास शर्मा ने उचित कहा है–"दहेज, अनमेल विवाह और वेश्या की देहरी। मानो इस विवाह प्रथा और वेश्यावृति में कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो कि एक होगी तो दूसरी होगी ही। और जिस समाज में कन्या के विवाह का मतलब कन्याविक्रय हो, उससे वेश्यावृति कौन उठा सका है?"[1] प्रेमचन्द अपनी धारणा की पुष्टि के लिए भोली की वेश्यावृति का मूल कारण भी 'अनमेल विवाह' को ठहराते हैं। अन्त में सुमन बाबू पद्मसिंह और समाज सुधारक–विट्ठलदास के प्रयत्नों से 'विधवा आश्रम' में दाखिल हो जाती है। इधर उसकी बहन शान्ता का विवाह इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि वह पूर्व–वेश्या की बहन है। विडम्बना तो यह है कि शान्ता का भावी पति पद्मसिंह का भतीजा सदन वह व्यक्ति है जो सुमन की कृपा का आकांक्षी बनकर बरसों उसकी देहली पर नाक रगड़ता और उसके तलुवे सहलाता रहा था। शान्ता–प्रसंग के माध्यम से प्रेमचन्द भारतीय समाज की तर्कविहीन निर्दयता की अच्छी तस्वीर उकेरते हैं। अन्ततः सदन शान्ता को अपना लेता है। सुमन को कुछ समय बाद शान्ता का घर भी छोड़ना पड़ता है और वह स्त्री उद्धार का कार्य करने लगती है।

सुमन की चरित्र–परिकल्पना में प्रेमचन्द की कला एक नया उत्कर्ष प्राप्त करती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'हिन्दी साहित्य की वह पहली नारी है जो संघर्ष की डगर पर पॉव उठाती है।'[2] प्रेमचन्द यहाँ यही दिखाना चाहते हैं कि शताब्दियों से पददलित, मर्दित

---

[1] प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 38

[2] प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 41

और अपमानित भारतीय नारी का दर्द अब ठोकर खाकर जाग चुका है और वह अब अत्याचार को अधिक सहन करने के लिए तैयार नहीं है।

इस उपन्यास में 'वेश्या पुत्रियों' के संरक्षण और उनमें अच्छे संस्कार उत्पन्न करने के लिए जिस सेवासदन की स्थापना होती है, उसे लेकर आलोचकों में गहरा मतभेद है। उसे एक विद्वान ने काल्पनिक समाधान ठहराया है।[1] वहाँ दूसरे विद्वान ने इसे युगप्रवत्ति और समाजशास्त्र दोनों से अनुमोदित बताया है।[2] वास्तव में जब तक उन उत्तरदायी कारणों को समाप्त नहीं कर दिया जाता जो कि वेश्याओं को जन्म देते हैं, तब तक वेश्या पुत्रियों के लिए इस प्रकार के आश्रमों की आवश्यकता को नकारा नही जा सकता। अतएव प्रेमचन्द पर सुधारवादी आश्रमवादी आस्था को लेकर आरोप लगाना, कम–से–कम 'सेवासदन' के सन्दर्भ में तो अनुचित है।

'सेवासदन' में इसके अतिरिक्त भी कुछ और ऐसे तत्त्व हैं जो इसके महत्व में वृद्धि करते हैं। इन तत्वों में धर्म का विकृत और अत्याचारी रूप है जो शोषण को अतिरिक्त आयाम देता है। श्री बाकेबिहारीजी के नाम पर गद्दी चलाने वाले महंत रामदास तीर्थयात्रा के बाद एक ऐसा यज्ञ करवाते हैं, जिसमें एक महीनें तक हवन–कुंड जलता रहता है और जहाँ दस हजार महात्माओं को भोजन करवाया जाता है इस यज्ञ के लिए ग़रीब आसामियों से प्रत्येक हल के पीछे पाँच रूपये चन्दा उगाहा जाता है। जिन किसानों के पास रूपया नहीं था, उन्हें उधार लेकर देना पड़ा। भला 'श्रीबॉकेबिहारीजी की आज्ञा को कौन टाल सकता था ?' (सेवासदन पृ० 8)। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द धर्म के नाम पर चलने वाले इस शोषण को शुरू से देख रहे थे और धर्म–भीरू लोगों में उसके आतंक से भी अच्छी तरह परिचित थे। 'गोदान' में वे इसे होरी के माध्यम से दिखाते हैं। जब दातादीन को मूल से कई गुना ब्याज लौटाने में गोबर आनाकानी करता है तो होरी के मन में खलबली मच जाती है। वह समझता है कि ब्राह्मण की पाई दबाना भी पाप है। उसकी एक पाई भी दब गयी तो हड्डी तोड़कर निकलेगी और वंश में कोई चिल्लू–भर पानी देने वाला और घर में दिया जलाने वाला नहीं रहता।(गोदान, पृ० 223) पर 'सेवासदन' का बूढ़ा चैतू गोबर से बहुत पहले धर्म के इस आतंक से छुटकारा पाने के लिए कसमसाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इज़ाफ़ा लगान की नालिश के कारण ऋण के बोझ से दबा हुआ, वह

---

[1] वही, पृ० 40

[2] प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिल्प–विधान, डॉ० कमलकिशोर गोयनका, पृष्ठ 176

चन्दा देने से इनकार कर देता है। ठाकुर द्वारे के सामने उसे बड़ी निर्ममता से मारा जाता है। पर वह भी अन्त तक प्रतिरोध किए जाता है। उसके "हाथ तो बधे हुए थे, मुँह से लात–घूँसों का जबाब देता रहा और जब तक जबान बन्द न हो गई चुप न हुआ।" (सेवासदन, पृ० 8)। यह चैतू 'प्रेमाश्रम' के बलराज और मनोहर का पूर्वज ही नहीं, इस बात का प्रतीक भी है कि प्रेमचन्द किसानों की समस्याओं को अब अधिक गहराई से समझ रहे थे। इज़ाफ़ा लगान, तरह–तरह के बहानों से उनकी नोंच–खसोट, धर्म के नाम पर उनका शोषण, पुलिस के हथकंडों से उनकी परेशानी के उल्लेख 'प्रेमाश्रम' के लिए तैयार होती हुई प्रेमचन्द की मनोभूमि का परिचय करा देते है।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने धार्मिक रूढ़ियों पर जो प्रहार किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उस समय भारत की जनता युद्ध की कठिनाईयों के साथ ही साथ धर्म के शोषण का दुःख भोग रही थी। उसके कष्ट का कारण रामदास जैसा महंत भी है जो धर्म के नाम पर श्री बांकेबिहारी के नाम पर उसका शोषण करता है।[1] महन्त रामदास यज्ञ के नाम पर प्रतिहल पांच रूपये का चन्दा किसानों से मांगता है। धर्मभीरू हिन्दू पांच रूपये दे देते हैं, भले ही उसके लिए कितनों को हैंड नोट ही क्यों न लिखना पड़े।[2] दीनदयालु के नाम पर होने वाले इस अत्याचार की कथा का अन्त होता है चेतू की मौत से। बूढ़ा गरीब चेतू, जिसकी फसल कई साल से मारी गई है कहां से चन्दा दे सकता था ? लेकिन महन्त जी को चेतू की विपन्नता से क्या मतलब ? उनके चेले चेतू को पीटते हैं। प्रेमचन्द धर्म के ठीकेदारों के इस अन्याय को सह नहीं पाते। वे जानते हैं कि ऐसे अनाचार से स्वयं धर्म को क्षति होगी और धर्म के प्रति आस्था का जो संस्कार हिन्दुओं को उपलब्ध है वह शेष हो जायगा। इसी से वह चेतू के मुंह में विद्रोह की वाणी डाल देते हैं। तभी तो मार खाने पर वह विरोध में गाली दिये जाता है। अकेला चेतू इस तरह के नृशंस अत्याचार का शिकार नहीं है। जमींदारों के लिए यह रोजमर्रे की बात थी। जमींदार की तीर्थ यात्रा के लिए रैयतों को चन्दा देना पड़ता था और फिर जमींदार के तीर्थ यात्रा से वापस आने पर किसान को रूपये देकर भगवान का प्रसाद लेना पड़ता था।[3]

जमींदार किसान का रक्त चूस कर ही मोटा होने के लिए पैदा हुआ करता था। इसलिए यदि वह मनचाहें ढंग से अपनी रैयत से पैसे वसूलता है तो इसमें अन्याय चाहे जो

---

[1] सेवा सदन–पृ० ८
[2] सेवा सदन–पृ० ८
[3] वही–पृ० ६

हो अस्वाभाविकता नहीं है। लेकिन प्रेमचन्द की दष्टि तो कहीं दूसरी ओर है। वह इस घटना के ब्याज से यह बताना चाहते है कि जमींदार धर्म के नाम पर यह अनाचार कर रहा है और किसान धर्म के नाम पर उसे सह भी रहा है। वारूणी स्नान और महाप्रसाद के नाम पर लगाये जाने वाले चन्दे किसान क्यों देता है ? अपनी धार्मिक धर्मभीरूता के कारण ही तो। प्रेमचन्द का जाग्रत युग हैरान है यह देखकर कि धूर्तता और धर्म के इस गठजोड़ से किसान की गर्दन पर जो फॉसी का फन्दा है वह बहुत मजबूत हो गया है।

'सेवासदन' में ठाकुरवाड़ी के भगवान के आगे वेश्या का नाच होता है और वह भी रामनवमी के दिन, भगवान के जन्मोत्सव के क्रम में। प्रेमचन्द इस दृश्य को प्रस्तुत कर हमें यह सोचने के लिए विवश करते हैं कि ऐसे देवस्थान देवालय हैं या वेश्यालय ? मन्दिर में भोली बाई का नाच देखकर सुमन के ह्दय पर वज्र–सा आघात होता है। उसने सुन रखा था कि धन वेश्या के चरणों में नत हुआ करता है, लेकिन आज वह देख रही है कि धन ही नहीं धर्म भी वेश्या भोली बाई के चरणों में नत है। इस प्रकार हमारे इन पण्डे–पुजारियों ने धर्म को भी वेश्या का दास बना दिया था। प्रेमचन्द के विचार में मन्दिरो के पुजारी और मठाधीश भी सेठों और जमींदारों की ही तरह विषैले नाग थे। उनमें कोई तात्विक अन्तर नही रह गया था। देवालय धूर्तों के अड्डे बने हुए थे– जहाँधन की प्रतिष्ठा थी, धर्म की नहीं। गंगा नहाकर आनेवाली धर्मनिष्ठ सद्गृहिणी सुमन पार्क के बेंच पर से इसलिए उठा दी जाती है कि उसके वस्त्र उसकी गरीबी की सूचना दे रहे थे। पतिव्रता सुमन सेठ चिम्मनलाल के ठाकुर द्वारे में भगवान का झूला देखने की लालसा से जब मन्दिर की ओर जाती है तब उसे भीतर प्रवेश की सुविधा नहीं मिलती है। बेचारी आधी रात गए तक मन्दिर के बाहर खड़ी रहने के लिए विवश होती है। लेकिन वही सुमन जब वेश्या होकर उसी मन्दिर में भगवान के आगे नाचने–गाने पहुँचती है तो ऐसा लगता है कि उसके चरणों से स्वयं मन्दिर पवित्र हो गया। प्रेमचन्द इस घटना को उपस्थित कर यह कहना चाहते हैं कि हमारे धर्म–स्थान ऐसे भ्रष्ट हो गए हैं कि उनमें किसी सती–साध्वी के लिए जगह नहीं है, लेकिन वेश्या के आ जाने से वे पवित्र हो जाते हैं।

धर्म के इसी रूप का सुधारकों ने विरोध किया था। सुधार–आन्दोलन का यह चित्र 'सेवासदन' में भी प्रस्तुत है। जिस धर्म–व्यवस्था में सती से वेश्या को अधिक मान मिलता हो उसके औचित्य को स्वीकार कर लेना स्वयं धर्म के प्रति अनाचार कहा जायगा। प्रेमचन्द भी चाहते हैं कि यह अनाचार बन्द हो। सेठ चिम्मनलाल जैसे धर्मप्राण लोगों की यह दशा है

कि वे रामलीला के नाम पर हजार दो हजार रूपये खुशी–खुशी दे सकते हैं। लेकिन किसी हिन्दू–महिला के उद्धार के लिए एक पैसे का दान भी वे नहीं देते। ऐसे लोगों की विलास बुभुच्छा तृप्त होती है उन हतभागिनी हिन्दू नारियों से ही। भला वे नारी–उद्धार की बातें क्यों करें ? उन आन्दोलनों की सहायता क्यों करें जो नारी की मर्यादा की रक्षा में निरत हैं ? ऐसे व्यक्तियों से प्रेमचन्द को स्वाभाविक घृणा है। लेकिन समाज का यह कोढ़ कुछ इस तरह फैल गया है कि प्रेमचन्द को शमन का कोई उपाय नही सूझ पाता। खीझ की इस दशा में पं० दीनानाथ की सुमन के हाथों दुर्गति करवा कर ही संतोष कर सकते थे। धार्मिक सुधार–आन्दोलन के प्रति प्रेमचन्द कितने सजग थे यह 'सेवासदन' के प्रो० रमेशदत्त और विट्ठलदास के प्रमाण से विदित है। श्रीमती एनी बेसेन्ट भारत में थियासोफिल सोसाइटी के प्रचार–प्रसार के लिए आयी थीं। सन् **1914** में ही भारतीय राष्ट्रीय रंगमंच पर उनका पदार्पण हो चुका था। राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने के साथ ही उक्त सोसाइटी के सिद्धान्तों के प्रचार में भी वे संलग्न थीं। थियोसोफिकल सोसाइटी ने भारतीय अध्यात्मवाद की उच्चता की ओर विदेशियों का भी ध्यान आकृष्ट कराने का प्रयास किया था। अवतारवाद पर गहरी आस्था रखकर चलने वाली इस संस्था ने हिन्दुओं में फिर से अपने धर्म के प्रति विश्वास–भाव जगाया था। पश्चिम के इन विद्वानों के मुंह से भारत की उच्चता का यशःगान बड़ा प्रेरक सिद्ध हुआ। प्रेमचन्द के इस उपन्यास में इसकी चर्चा से यह विदित होता है कि युग का आलोड़न किस सूक्ष्मता के साथ उनके उपन्यासों में मुखरित है। उपन्यासकार इतना सजग है कि यह छोटी–सी बात भी उसके ध्यान से हटती नहीं है। लेकिन प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है जिसकी स्मृति से प्रेमचन्द उद्विग्न हो जाते हैं। एक विजातीय विदेशी महिला के मुख से भारतीय गौरव का जयघोष सुनकर अपने देशवासियों का अकचकाकर यह सोचना–पूछना कि क्या सचमुच हमारा देश इतना महान है, हमारा धर्म इतना उच्च है, हमारी जड़ता और मानसिकता दासता का सूचक है। प्रेमचन्द के युग के सुधारकों की शिकायत थी कि हमारी धर्म संस्था इतनी पंगु हो गई है कि वह हमें उस गौरव का अनुभव भी नहीं करा पाती जो सहज अनुभवगम्य है। लेकिन ऐसा है क्यों ? प्रेमचन्द ने इसी का उत्तर देते हुए कहा है– "हम उपनिषदों को अंग्रेजी में पढ़ते हैं, गीता को जर्मन में, अर्जुन को अर्जुना, कृष्ण को कृष्णा कहकर अपनी बुद्धिहीनता का परिचय देते है।" प्रेमचन्द को इस बात का गहरा परिताप है।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में यह भी बताया है कि संस्कृत की पुरानी पोथियों से हमारा काम नहीं चल सकता। यह सत्य है कि हिन्दी में धर्म–ग्रन्थों की रचना नहीं हुई, लेकिन हिन्दी में रामचरित मानस, विनयपत्रिका और भक्तमाल जैसी पुस्तकें हैं जिनमें हमारे ह्रदय में धर्म की वृति उत्पन्न करने की अपार शक्ति है।

वेश्या जीवन को तिलांजलि देने के बाद जब सुमन ने सादगी से रहना आरम्भ किया उसने रामायण, विनय पत्रिका और भक्तमाल जैसी पुस्तको का पढ़ना आरम्भ किया। इन पुस्तकों के साथ–साथ वह विवेकानन्द और रामतीर्थ के लेखों को भी पढ़ा करती।

प्रेमचन्द यह मानते थे कि देश को कूपमंडूकता से बाहर निकलना है और नये युग में धर्म–विषयक जो नयी मान्यताएँ स्थिर हो रही हैं उनके प्रति उत्साहित करना है। यह कहा जा नही सकता कि प्रेमचन्द पर रामकृष्ण मिशन के धार्मिक सिद्धान्तों का प्रभाव किस मात्रा में था। लेकिन इतना स्पष्ट है कि वे यह मानते थे कि अनुतप्त ह्रदय के अश्रुवर्षण से बडे–बड़े पाप का प्रायश्चित हो जाता है। रामकृष्ण परमहंस ने पापी को दया और सहानुभूति का पात्र कहा था और पाप को विरोध का विषय माना था। वे ऐसा मानते थे माँ काली के समक्ष अपने पापों का अनुभव करके कोई भी पापमुक्त होकर सात्विक हो सकता है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' की सुमन में भी पापों का प्रायश्चित करके फिर से नया जीवन आरम्भ करने की आतुर लालसा है।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द नारी की समस्याओं, धर्म की विकृतियों और जातिसुधार के प्रयासों के निरूपण से आगे बढ़कर तत्कालीन भारतीय अर्थव्यवस्था की धुरी किसान और उसके प्रमुखतम शोषक जमींदार संबन्धी कथावृत को चुनते हैं। 'प्रेमाश्रम' का फलक बहुत विशाल है और इसमे कथा के इतने कोण हैं कि उसको अलग–अलग स्तर पर देखा और पहचाना गया है। इसे भारतीय ज़मींदार वर्ग के प्रतीक ज्ञानशंकर की कहानी, ज़मींदार की वंश वेलि की कहानी (ज़मीदारों की तीन पीढ़ियों की कहानी, जिसके द्वारा भारतीय समाज सामन्तवाद, पूँजीवाद और समाजवाद (या साम्यवाद) तीन युगों का चित्रण हुआ है)[1] , किसान जीवन का महाकाव्य[2] आदि बताया गया है।

एक अन्य विद्वान यह मानते हैं कि ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर दोनों इस उपन्यास के अविच्छिन्नइ अंग हैं। उपन्यासकार ने ज्ञानशंकर द्वारा कथा का चरम सीमा तक विकास

---

[1] प्रेमचद एक अध्ययन – डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० 152

[2] प्रेमचद और उनका युग, पृ० 48

करवाया है और प्रेमशंकर द्वारा उसका समापन।[1] इन सभी मतों में सत्यांश है। पर यह भी द्रष्टव्य है कि 'प्रेमाश्रम' में कई अन्य कथाओं और अन्तर्कथाओं का भी समावेश हुआ है। इसमें जमीदार की वंश वेलि की कथा, बलराज, मनोहर तथा अन्य लखनपुर निवासियों की कथा, ज्ञानशंकर की कथा के अतिरिक्त डिप्टी ज्वालासिह की कथा, गौसखॉ की कथा, गायत्री की कथा आदि भी समाविष्ट हैं। इसलिए इसके काव्य की तस्वीर बहुत साफ़ नहीं बन पाती। वस्तुतः प्रेमचन्द प्रमुखतया यही दिखाना चाहते हैं कि भारत में सामन्तवादी युग समाप्त हो रहा था और उसकी जगह पूँजीवादी या महाजनी सभ्यता ले रही है। वह यह मानते थे कि सामन्तवादी युग बहुत अच्छा न था। ज़मीदार द्वारा तब भी किसान का शोषण होता था। उसके द्वारा बेगार ली जाती थी पर उस युग के राजा तथा ज़मींदार दोनों का व्यवहार पूँजीवादी युग के शासक और ज़मीदार से भिन्न और बेहतर था। 'राजा और सम्राट् जन–साधारण को अपने स्वार्थ–साधन और धनशोषण की भट्टी का ईंधन न समझते थे। वे उनके दुःख–सुख में शरीक होते थे और उनके गुणों की क़द्र भी करते थे। वे किसानों को अपनी प्रजा की तरह पालते थे। लड़कियों के ब्याह के लिए उनके यहाँ से लकड़ी, चारा और 25 रूपया बँधा हुआ था। उस समय लगान में यदि साल–दो–साल की बाकी पड़ भी जाती थी तो मालिक कुड़की–बेदखली नहीं करते थे। पर महाजनी सभ्यता में सारी मुरौव्वत समाप्त हो गई है। पूँजीवादी युग का ज़मीदार तो किसान को मात्र अपनी स्वार्थ–पूर्ति का साधन मानता है। वह समझता है कि उसे अपना जीवन ऐश और आराम से व्यतीत करना है और इसके लिए रूपया किसानों से चाहिए। किसान के शोषण की जो बात ज़मीदार के मन में है वही सरकारी अफ़सरों के दिल में भी है। सभी किसान को असहाय, निरूपाय पशु मानकर मार रहे हैं और यह सोच रहे हैं कि इसे जितना मारिये उतना ही वह अनुकूल होगा। 'प्रेमाश्रम' में ज़मींदार की पिछली पीढ़ी का प्रतिनिधित्व जटाशंकर करते हैं और पूँजीवादी युग के जमींदार का प्रतीक उनका बेटा ज्ञानशंकर है। ज्ञानशंकर और उनके सहयोगी शोषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और लखनपुर निवासी शोषित वर्ग के रूप में सामने आते हैं। वस्तुतः इस उपन्यास में नायक का दर्जा निश्चित रूप से यदि किसी को दिया जा सकता है तो लखनपुर निवासियों का और खलनायक ज्ञानशंकर के सारे समाज (कारिन्दे, अफसर, सरकारी कर्मचारी, पुलिस) को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार परम्परागत दृष्टि से देखने पर 'प्रेमाश्रम' को 'नायक विहीन उपन्यास' समझा जा सकता है।

[1] प्रेमचद के उपन्यासों का शिल्प–विधान, पृ० 184

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में किसान वर्ग की नानाविध समस्याओं को उभार कर प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द का उद्देश्य समग्र रूप से भारत के कृषक वर्ग की समस्याओ को मुखरित करना था। इसी से इस उपन्यास में किसी विशिष्ट व्यक्ति को नायक रूप में उपस्थित नहीं करके उन्होंने सारे गाँव को ही उपन्यास का नायक बना दिया है। इसी कारण 'प्रेमाश्रम' हिन्दी उपन्यास–साहित्य की एक नयी दिशा का सूचक हो जाता है। प्रेमचन्द को गांवों की ओर जाने की, किसानों की समस्या को चित्रित करने की प्रेरणा चम्पारण और खेड़ा आन्दोलन के उस संदेश से प्राप्त हुई जिसमें बताया गया था कि देश के कल्याण के निमित्त छेड़े जाने वाले आन्दोलनों का केन्द्र गाँव को ही होना होगा।

'प्रेमाश्रम' में जिस लखनपुर गाँव के किसानों की कथा आयी है उनपर जमींदार और सरकार के वैसे ही अत्याचार हो रहे हैं जैसे चम्पारण अथवा खेड़ा के किसानों पर हो रहे थे और जिनके विरूद्ध उन स्थानों में संघर्ष किया गया था। इससे यह सोचने का अवसर मिलता है कि जैसे चम्पारण और खेड़ा में हमारे राष्ट्र नेताओं ने सक्रिय प्रतिरोध आन्दोलन चलाया था वैसे ही प्रेमशंकर लखनपुर के किसानों के बीच बैठकर उन्हें अन्याय का विरोध करना सिखायेगा, उनको अपने स्वत्व पर दृढ़ रहने की प्रेरणा देगा और जमींदार तथा सरकार का विरोध झेल लेगा। लेकिन प्रेमशंकर ऐसा कुछ नहीं करता। वह उस मानी में बहुत सक्रिय नहीं होता। प्रश्न है, ऐसा निष्क्रिय वह क्यों है।

ऐसा दीखता है कि प्रेमचन्द के ध्यान में प्रश्न की तात्कालिकता नहीं है। वे प्रश्न की गहराई में बैठना चाहते थे और किसान–समस्या के विविध पहलुओं को प्रत्यक्ष करके उनका समाधान खोज रहे थे। चम्पारण और खेड़ा के किसान–आन्दोलन के पीछे एक निश्चित समस्या थी जिसका समाधान भी प्राप्त हुआ। लेकिन उस समाधान के बाद भी किसानों की विपन्नता तो नहीं मिटी, उनकी दशा का सुधार तो नहीं हुआ। प्रेमचन्द इसलिए 'प्रेमाश्रम' में उन मुख्य कारणों को ही प्रत्यक्ष करते हैं जिनके परिणाम–स्वरूप किसान मिट रहे हैं, बर्बाद हो रहे हैं।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने जिन तामसिक कीट–पतंगों का ऊपर उल्लेख किया है वे हैं सरकारी मुलाजिम जो नियुक्त तो हैं जनता की सेवा और भलाई के निमित्त लेकिन वे फसल के समय जोंक बनकर किसान का खून चूसने देहातों में पहुँच जाते हैं। प्रेमाश्रम में प्रेमचन्द ने इसी नौकरशाही के अनाचार–अत्याचार की पृष्ठभूमि में किसान वर्ग की मुसीबतों

का विवरण प्रस्तुत किया है। यह वह नौकरशाही है जिसके बल पर भारत में ब्रिटिश शासन टिका हुआ था।

प्रेमाश्रम' के लखनपुर गाँव में हाकिम का दौरा होने वाला है। प्रेमचन्द के शब्दों में दौरा करने वाला हाकिम कोई अंग्रेज साहब बहादुर नहीं है, ज्वालासिंह नामक हिन्दुस्तानी डिप्टी है। यह हाकिम अपने लाव–लश्कर के साथ देहात के मुकदमों की तहकीकात करने आया है। गरीबों को घर बैठे न्यायसुलभ करने आया है। लेकिन गाँव वालों को पूरा पता है कि ज्वालासिंह जैसे सरकारी हाकिमों के हाथों न्याय पाना कितना महँगा पड़ता है। प्रेमाश्रम' का कादिर कहता ही है–'हाकिमों का दौरा क्या है, हमारी मौत है।'[1] गॉव के दूसरे किसान मनोहर का कहना है कि दौरे के लिए आने वाले हाकिम बड़ा अन्धेर मचाते है। इन्तजाम करने, इन्साफ करने के लिए आने वाले ये हाकिम किसानों के गले पर ही छुरी चलाते हैं।[2] हाकिमों के जुल्म की यह कहानी अकस्मिक घटना नहीं है। हर साल ऐसा ही होता है। पिछले ही वर्ष डपट सिंह को पूरे तीन सौ की चपत पड़ी थी।[3] इसी से तो मनोहर कहता है– 'इससे तो कहीं अच्छा यह था कि दौरे बन्द हो जाते।' इन दौरों के न होने से गॉव के लोगों को मुकदमे के लिए शहर दौड़ना पड़ता लेकिन वह भी बुरा कहीं होता। जो मुकदमा लड़ना चाहे, वह चाहे जैसे भुगतान दे। यहाँ तो उनकी भी जान सांसत में है जो मुकदमें के पास फटकना भी नहीं चाहते। प्रेमचन्द के कहने का आशय यह है कि दौरों से लाभ कुछ होता नहीं, उल्टे किसानों पर बोझ पड़ता है। हाकिम एक है तो उसके अमले हजार–हजार। इनके शोषण से कृषक वर्ग बेहाल है। ब्रिटिश–शासन का अत्यन्त कुरूप पक्ष यह था कि देश का अधिपति रहता था सात समुद्र पार। इससे प्रजा के दुःख–दर्द उस तक पहुँच नहीं पाते थे। इधर राज्य चलाते थे सरकारी मुलाजिम जो जनता का शोषण करने के लिए पूर्ण स्वच्छन्द हो गये थे, उन पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था। प्रेमचन्द इशारा करते हैं कि भारतीय किसानों की इस परवशता, विवशता की ओर ध्यान देना होगा।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि अंग्रेजी अमलदारी में किसानों को न्याय नहीं मिल सकता, कानून का संरक्षण नहीं मिल सकता। ऐसी स्थिति में किसान सब तरह से निरूपाय हैं। लेकिन न्याय विधान के इस खोखलेपन और किसान वर्ग की निरीह विवशता का चित्र स्पष्ट कर ही प्रेमचन्द अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर लेते।

---

[1] प्रेमाश्रम, पृ० **54**

[2] वही

[3] वही

उनके आगे प्रश्न है कि किसानों की समस्याओं का समाधान कैसे किया जाय। उनके बलराज के पास लाठी की ताकत तो है। लेकिन प्रेमचन्द को भी हम यह मानते हुए नहीं देखते कि किसान वर्ग की नानाविध समस्याओं का समाधान क्रान्ति जैसी किसी हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा संभव है। गांधी जी ने हिंसा के स्थान पर अहिंसा को प्रतिष्ठित करके एक नये इतिहास का समारंभ किया था।

महात्मा जी का जो प्रभाव तत्कालीन युग पर पड़ रहा था उसने प्रेमचन्द के हृदय में भी नवीन आशा और आस्था का संचार किया। इसी से प्रेमचन्द ने एक ओर डा० प्रियनाथ चोपड़ा इर्फान अली और उनके साथ ही मुखबिर बिसेसर का हृदय–परिवर्तन कराया है और उसके कारण सत्य की विजय होती है और परिणामतः लखनपुर के किसान अपील में मुकदमा जीतते हैं।

दूसरी ओर वे यह भी विश्वास रखते दीखते हैं कि जमींदारों से भी सर्वथा निराश होने की जरूरत नहीं है। उनकी आशा है कि जमींदारों का भी हृदय–परिवर्तन होगा और वे अपना इतिहास बदल लेंगे। प्रेमचन्द का यही आशावाद मायाशंकर के रूप में जमींदारों की नयी परम्परा की कल्पना कर जाता है।

किसानों के स्वत्व के विषय में प्रेमचन्द की निश्चित धारणा है कि जिसे उन्होंने जमींदार मायाशंकर के मुँह से कहलाया है। मायाशंकर अपनी जमींदारी का प्रबन्ध भार ग्रहण करते समय घोषित करता है कि भूमि या तो ईश्वर की है, जिसने उसकी सृष्टि की है अथवा उस किसान की है जो उसकी सेवा करता है। ईश्वर की ईच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है, अस्तु, भूमि के ऊपर जमींदार का स्वत्व नहीं हो सकता। जमींदार की स्थिति मात्र रक्षक है। वह किसान की रक्षा करता है और इसलिए कर प्राप्त करने का अधिकारी है। लेकिन इसके आगे कुछ नहीं। मायाशंकर मीरास मिल्कियत, जायजाद, अथवा अधिकार के नाम पर जमींदार को इस बात की स्वीकृत नहीं दे सकता कि वह किसान का शोषण करे। साथ ही वह जमींदारी–प्रथा को वर्तमान समाज–प्रथा का कलंक–चिन्ह भी मानता है। उसकी आकांक्षा है कि कर उगाहने के लिए जमींदारी की संस्था के बदले किसी किसी अन्य व्यवस्था की कल्पना की जाय।

प्रेमचन्द यह भी चाहते है कि किसानों को न्याय सुलभ हो, उनको अपना पक्ष प्रस्तुत करने की सुविधा हो और इसलिए वे चाहते है कि अदालत से ही सरकार के प्रतिपक्ष के वकील को भी नियुक्ति की जाय। पुलिस के कारण किसान की जो तबाही है उसका अन्त

तो तभी हो सकता है जब पुलिस की नौकरी में सेवा भाव से प्रेरित सच्चरित्र व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय। सरकार जब तक पुलिस में चुन–चुनकर ऐसे लोगों को बहाल करती रहेगी जो जनता को अधिक से अधिक दबा सकें तब तक पुलिस से जनता का लाभ नहीं हो सकता है। लेकिन यह तो तब होगा जब शासन पुलिस को रक्षक की स्थिति में रखने के न्याय का अनुभव करे।

'प्रेमाश्रम' में कथाओं – अर्न्तकथाओं के फैलाव अनेक संयोगों, हत्याओं, आत्महत्याओं के समावेश आदि ने इसके रूप हो काफी विकृत कर दिया है। साथ ही कृत्रिम सुधारवादी समाधान का आकर्षण भी संघर्ष की महाकाव्योचित गरिमा और प्रभाव की सघनता को फीका बना देती है। इसलिए 'प्रेमाश्रम' एक उल्लेखनीय उपन्यास होते हुए भी महान उपन्यास नहीं बन पाता।

'रंगभूमि' में प्रेमचन्द औद्यौगीकरण' की समस्या को उठाते हैं। इसकी प्रधान कथा सूरदास को लेकर रची गई है जो जान सेवक के कारखाने से अपनी तथा गॉव की जमीन बचाने के लिए मरते दम तक संघर्ष करता है। यह ज़मीन उसके पुरखों की यादगार है और इस पर गाँव के जानवर भी चरते हैं। सूरदास यह भी मानता है कि कारखाना बनेगा तो गॉव में दुराचार फैलेगा। वह कहता है–" सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक ज़रूर बढ़ जायेगी, रोजगारी लोगों को फ़ायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ तक रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी–शराब का भी तो परचार बढ़ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जाएँगी, परदेशी आदमी हमारी बहू–बेटियों को घूरेंगे, कितना अधरम होगा। दिहात के अपना काम छोड़कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, बुरी–बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे–बुरे आचरण गॉव में फैलायेंगे" (रंगभूमि, पृ० **88**)। अपनी इसी धारणा के अनुरूप सूरदास औद्योगीकरण और इससे जुड़ी हुई पूँजीवादी प्रवृतियों से लड़ता है। उसकी लड़ाई का एक स्तर और भी है, जिस पर वह स्वार्थ से पागल बने हुए गाँव वासियों की ईर्ष्यालु प्रवृतियों से संघर्ष करता है। उसकी लड़ाई के शस्त्र सत्य, अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह हैं। इसे देखते हुए विद्वानों ने सूरदास को गांधी जी का प्रतीक ठहराया है। सूरदास का संघर्ष विफल रहता है, जमीन छिन जाती है और मिल चल निकलती है। मरते समय सूरदास कहता है–"तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हॉफने लगते हैं और खिलाड़ियो को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में

झगड़ते हैं हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार–हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक–न–एक दिन हमारी जीत होगी,ज़रूर होगी।" (रंगभूमि, पृ० **558**)। इस प्रकार सूरदास के माध्यम से प्रेमचन्द 'आर्थिक– सामाजिक स्तरों पर पूँजीवाद के फैलते प्रभाव और पूँजीवाद से लड़ते हुए स्वाधीनता की कामना रखने वाले भारतीय समाज की कथा अंकित करते हैं। इसके साथ ही स्वाधीनता संग्राम की असफलता से उत्पन्न निराशा और पराजय–बोध का संकेत करते हुए फिर से संघर्ष की प्रेरणा देते और आशा की किरण जगाते हैं।

'रंगभूमि' के सूरदास का पूँजीपति जान सेवक के साथ जमीन के मामले को लेकर सघर्ष होता है इस संघर्ष को किसी भी स्थिति में अंग्रेज विरोधी संघर्ष नहीं कह सकते। फिर भी यह तो सत्य ही है कि सूरदास अपने अधिकार और स्वत्व के प्रति वैसे ही तत्पर और सन्नद्ध है जैसे सारा राष्ट स्वराज्य–प्राप्ति के लिए सन्नद्ध है।

सूरदास अपने पुरखों की जमीन की रक्षा के लिए प्राणपन से भिड़ा हुआ है। वह जानता है कि वह शक्तिहीन है, दुर्बल है, गरीब है, अपने विरोधियों से लड़ सकने की स्थिति में नहीं है। फिर भी वह कमान रख नहीं देता। ईश्वर पर पूर्ण आस्था रखकर अपने स्वत्व की रक्षा के लिए सत्याग्रह करता है। सूरदास का यह सत्याग्रह असहयोग आन्दोलन का इस अर्थ में प्रतिरूप है कि प्रबल ब्रिटिश राजसत्ता के विरूद्ध गांधी जी केवल आत्म–बल के सहारे लड़ने के लिए खड़े हुए थे। सूरदास यह जानता है कि आज की दुनिया में रूपये वाले सब कुछ कर सकते हैं। उसे यह भी अच्छी तरह मालूम है कि उसकी जमीन उसके न देने पर भी उसके हाथ से निकल जायेगी। लेकिन इससे निराश होकर वह अन्याय और शोषण को सह ले यह भी तो अधर्म है। अन्याय करना और अन्याय सहना दोनों से अन्याय को ही पोषण मिलता है। गांधी जी के युग का सूरदास परिणाम के प्रति सर्वथा निरपेक्ष रह कर अपनी शक्ति भर अन्याय का विरोध करता है। सूरदास ने अन्याय का विरोध करने के लिए जो प्रणाली अपनायी है वह वही है जिसे लेकर गांधी जी उपस्थित हुए थे। ऐसी लड़ाई में ईर्ष्या–द्वेष के लिए स्थान नहीं होता। कुछ लोग लाठियां लेकर जब सूरदास की जमीन पर पहुँच कर हिंसात्मक कार्रवाई करने के लिए उतारू होते हैं तो सूरदास एक सच्चे सत्याग्रही की तरह आपत्ति करता है।

'रंगभूमि' के जिस दूसरे पात्र को गांधी से प्रभावित बताया गया है वह है कुँवर विनय सिंह। विनय सिंह को गांधी जी से प्रभावित इसलिए बताया जाता है कि वह जिस

बात को ठीक समझता है उस पर अड़ने का उसके पास मनोबल हैं। उसकी इस वृति का प्रमाण 'रंगभूमि' में उस जगह प्राप्त होता है जहां वह डाकिये की रक्षा में तत्पर होकर अन्यायी का विरोध करता है। विनय सिंह को गांधीवादी आदर्शो का अनुयायी इसलिए भी कहा गया होगा कि वह वीरपाल सिंह की सहायता से जेल से भागने से इन्कार करता है। गांधी जी ने भी अंग्रेजों का विरोध करने के बाद भी उनके दिये हुए दण्ड को सदा स्वीकार किया था।

किन्तु, ये तो ऊपरी बातें हैं। विनयसिंह गांधीवाद को मूर्त करता है यह मानते भी नहीं बनता। विनयसिंह समाज की सेवा करना अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझता है। किसी लोभ अथवा लाभ के कारण अपने इस व्रत को भंग करने में वह असमर्थ है। वह यह भी जानता है कि रियासतों में बड़ी अव्यवस्था है, कुशासन है। फिर भी वह वीरपाल सिंह की तरह उसके विरूद्ध सशस्त्र विद्रोह करना नहीं चाहता। क्योंकि आग से आग की शान्ति नहीं होती। अग्नि के शमन के लिए जल की आवश्यकता होती है। विनयसिंह आतंकवाद में विश्वास नहीं रखता। लेकिन इतने से ही उसे गांधीवादी कह दिया जाय यह भी ठीक नहीं। विनयसिंह की कार्य प्रणाली में हिंसा के लिए स्थान नहीं है। लेकिन सूरदास और विनयसिंह में अहिंसा के प्रति आस्था को लेकर स्पष्ट अन्तर है। सूरदास अहिंसा को विश्वास के रूप में ग्रहण करता है और उसे वीरों का अस्त्र मानता है अपाहिजों अन्धों के लिए सहारे की लाठी मात्र नहीं। इधर विनयसिंह अहिंसा को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन मात्र समझता है, इस साधन की, इस अस्त्र की चिन्ता उसे बराबर बनी रहे ऐसा नहीं है। उसका अगला इतिहास इस विषय में प्रमाण है।

रंगभूमि में देशी राज्यों की प्रतिक्रियावादी भूमिका का अंकन भी अवलोकनीय है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के एजेन्ट तथा प्रजा के शोषक के रूप में उनका चित्रण करके प्रेमचन्द ने अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त विनय–सोफ़िया की प्रेम–कहानी जैसी कुछ प्रासंगिक कथाएँ भी है, जिनका मुख्य कथा से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। फिर भी समूचे तौर पर यह कहा जा सकता है कि रंगभूमि अपने युग की संघर्ष–गाथा को वाणी देने और अपने अन्त के 'त्रासद भाव' की दृष्टि से उल्लेखनीय

उपन्यास है। 'यह त्रासद भाव कथा को जिस किस्म की गहराई देता है, वह प्रेमचन्द के उपन्यासों में पहली बार आई है।'[1]

'कायाकल्प' की कथा के तीन बिन्दु हैं– चक्रधर, रानी देवप्रिया और तीसरा किसान जनता। चक्रधर का लड़का शंखधर आगे चलकर देवप्रिया से मिलता है और पता चलता है कि वह भी उसका पूर्वजन्म का पति था। शंखधर के देहावसान के बाद देवप्रिया भोगविलास की जिन्दगी छोड़कर फिर से जगदीशपुर पर राज्य करने लगती है। चक्रधर शुरू में एक विद्रोही के रूप में उभरता है। उसे इसके लिए नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते है पर बाद मे उसमें लोभवृत्ति जागृत होती है और उसकी सद्वृतियॉ लुप्त हो जाती हैं। असद् वातावरण में नैतिक दृष्टि से पतित वह एक व्यक्ति के प्राण भी ले लेता है। पर उसकी आत्मा मरती नहीं है और वह वैराग्य ले लेता है।

विशालसिंह के माध्यम से प्रेमचन्द राजाओं की स्वार्थ–लोलुपता, शोषण, अत्याचार और अंग्रेज–भक्ति का चित्रण करते हैं। रानी देवप्रिया और विशालसिंह के सन्दर्भ में इन राजाओं की विलासिता की तस्वीर भी खींचते हैं। इनके बीच किसानों की दुरवस्था और उनके द्वारा सत्ता के दमन के प्रतिरोध और बेगार के विरूद्ध संघर्ष की मार्मिक कथा को भी नियोजित किया है। 'कायाकल्प' साम्प्रदायिकता की समस्या को उजागर करने की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से वह सेवासदन से अगला पड़ाव है। प्रेमचन्द हिन्दू–मुस्लिम एकता की भावना को चक्रधर के शब्दों में इस प्रकार प्रतिष्ठित करते हैं–"बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमांन से अच्छा हिन्दू।" (कायाकल्प, पृ० 227)। युगीन परिस्थितियों और साम्प्रदायिक दगों के सन्दर्भ में प्रेमचन्द का साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर करने का यह प्रयास निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है।

रियासती प्रजा की दशा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' की रचना के पूर्व 'रंगभूमि' में प्रकाश डाला था। 'रंगभूमि' में प्रजा की सेवा–सहायता के लिए सेवा समिति नामक संस्था की भी प्रस्तुति की गयी है। कायाकल्प' में एक बार फिर से प्रेमचन्द देशी रियासतों के विषय में विचार करते हैं। इस उपन्यास का चक्रधर अपनी सेवा समिति द्वारा रियासती प्रजा में जागरण संदेश फैलाता है, उनके बीच शिक्षा का प्रचार करता है, स्वार्थान्ध अमलों के फंदों से उनको बचाने का उपाय करता है और इस प्रकार उन्हें उपदेश देता है

[1] प्रेमचद, पृ० 137

कि वे अपने को मनुष्य बनावें, मनुष्य समझें और किसी स्वार्थ के वशीभूत अत्याचारी राज्यकर्मचारियों की चिरौरी न करें। ('कायाकल्प', पृ० 159-160)।

'रंगभूमि' से ही यह पता चलता है ताल्लुकेदारों के परिवारों में भी जागरण–संदेश पहुँच चुका है। कुंवर विनय सिंह इस विषय में प्रमाण है। 'कायाकल्प' का विशाल सिंह भी एक ऐसा ही पात्र है जो प्रजा की तबाही से दुखी होता है। लेकिन यही विशाल सिंह जब रियासत का राजा बनता है उसके सारे आदर्श तिरोहित हो जाते हैं। चक्रधर ने बड़े स्पष्ट शब्दों में उसके प्रति यह शिकायत की है–"अभी बहुत दिन नहीं गुजरे कि राजा साहब के विचार मेरे विचारों से पूरे–पूरे मिलते थे। उन्हें अपने विचारो को बदलने के नये कारण हो गये हों, मेरे लिए कोई कारण नहीं।" (वही, पृ० 160)।

विशाल सिंह के राज्याभिषेक के अवसर पर हल पीछे दस रूपये प्रजा से रियासत की प्रथा के अनुसार वसूलने का निश्चय होता है। चक्रधर सेवा–समिति के सेवकों के साथ इस वसूली के विरूद्ध आन्दोलन खड़ा करने के लिए गॅाव का दौरा करता है। यहीं से उसका राजसत्ता से संघर्ष आरम्भ हो जाता है। चक्रधर को इस बात की पीड़ा है कि पढ़े–लिखे लोग ऐसे पशु हो गए हैं कि वे उनकी गर्दन दबाते हैं–जिनको गले लगाना चाहिए था और इतने जड़ हो गए हैं कि जिनसे लड़ना चाहिए उनके तलुए चाटते हैं। राजा विशाल सिंह से उसके प्रगतिशील विचारों के करण बड़ी आशा के लिए संभावना थी लेकिन गद्दी पर बैठने के छः महीने के भीतर ही उसने पुराना ढङ्ग अख्तियार कर लिया। पराधीनता की परम्परा जिनकी नस–नस में व्याप्त है सद्वृतियां और सद्गुण उनके पास या तो पहुँच नहीं पाते, जो भूले–भटके आ भी गये तो रह नहीं पाते। राजा विशाल सिंह इस बात का प्रमाण हैं। लेकिन अब प्रजा जग चुकी है। चौधरी ने ठीक ही कहा है–'जब लात खाते थे तब खाते थे अब न खायेंगे।' स्पष्ट है सेवा–समिति ने रियासती प्रजा को अपने अपमान और अपने प्रति होने वाले अनाचार के विरूद्ध सिर उठाना सिखला दिया है।

किसी प्रकार का प्रत्यक्ष संघर्ष करने के पूर्व जैसे गांधी जी और दूसरे कांग्रेस नेता अन्यायी को अन्याय करने से रोकने का प्रयास करते थे वैसे कि 'कायाकल्प' का चक्रधर राजा विशाल सिंह के पास जाकर उसे समझाता–बुझाता है। लेकिन सम्पत्ति और वैभव के घटाटोप में राजा विशाल सिंह का सारा विवेक नष्ट हो चुका है। इसका परिणाम होता है–संघर्ष। रियासतों में जन–संगठन का कार्य जोर पकड़ता जा रहा था। सन् 1927 में तो

जाकर अखिल–भारतीय–रियासती–जन–सम्मेलन (आल इंडिया स्टेट्स पीपुल कान्फ्रेन्स) नामक संस्था का विधिवत प्रथम अधिवेशन भी हुआ। इस संस्था ने रियासती प्रजा में जागरण–संदेश फैलाया। अब रियासतों की जनता भी जगने लगी, अपने अधिकारों को पहचानने लगी और यह अनुभव करने लगी कि ब्रिटिश भारत की पराधीन जनता से उसकी स्थिति किसी भी रूप में अच्छी नहीं है।

'कायाकल्प' में सन् **1924–28** की कालावधि के बीच जो साम्प्रदायिक दंगे हुए, उनका चित्र प्रस्तुत है–

हिन्दुओं और मुसलमानों के परस्पर संघर्ष का एक बड़ा कारण गाय की कुर्बानी का प्रश्न था। लेकिन सच तो यह है कि गाय की कुर्बानी अपने में एक महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं थी, मुख्य थी कुर्बानी के पीछे छिपी हुई भावना। प्रश्न अधिकार का था–जिद का था। हिन्दुओं को यह सुझाया जा रहा था गाय उनकी संस्कृति के अन्तर्गत मातृ रूप है और उधर मुसलमानों को यह बहकाया जा रहा था कि गाय की कुर्बानी करना उनका धार्मिक अधिकार है और अपने धार्मिक कृत्य के लिए उनकी पूर्ण स्वच्छन्दता होनी चाहिए। इसलिए मुसलमान हिन्दुओं के मुहल्ले में ही कुर्बानी करेंगे।

जाहिर है, ऐसी स्थिति में हिन्दू यही समझेंगे कि उनकी धार्मिक भावना पर कुठाराघात हो रहा है। इस तरह दोनों के बीच संघर्ष के लिए आधार तैयार हो जाता है। प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' में इस स्थिति की भयानकता का सशक्त दिग्दर्शन कराया गया है।

कायाकल्प' में मुसलमानों का नेता ख्वाजा महमूद फरमाता है–'जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय उसे एक हजार हजों कर सवब होगा।'

अब हिन्दू भी क्यों कर चुप बैठे रहें। ? काशी के पण्डितों की व्यवस्था है–'एक मुसलमान का बध एक लाख गोदानों से श्रेष्य है।'

देश जब सदियों की गुलामी के बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा हो, धार्मिक मदान्धता को पश्रय देना किस राष्ट्रवादी अच्छा लगेगा ? ऐसे अवसर पर राष्ट्रवादी साहित्यकार का दायित्व होता है कि वह भेदभाव पैदा करने वाली शक्ति पर प्रहार करे और निष्पक्ष होकर अपनी जाति–सीमा से ऊपर उठकर सत्य और केवल सत्य का संदेशवाहक हो जाय।

'कायाकल्प' का चक्रधर प्रेमचन्द के अपने विचारों को प्रकट करता है और यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद को लक्ष्य कर कहता है–दोनों आदमी फिर धर्मान्धता के

चक्कर में पड़ गये होंगे। जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेगे हमारी यही दशा रहेगी। मैं तो नीति को ही धर्म समझता हूँ और सभी समुदायों की नीति एक–सी है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं।'

स्पष्ट है, प्रेमचन्द आर्य समाजी पीछे हैं, राष्ट्रवाद के प्रचारक पहले हैं। यह सत्य है कि प्रेमचन्द का झुकाव आर्य समाज की तरफ था और वे उसके सदस्य भी थे। लेकिन प्रेमचन्द उसके अन्धानुयायी नहीं थे। प्रेमचन्द आर्य समाज को तो पसन्द करते थे किन्तु उसके सघर्षशील रूप के प्रति जिसके अन्तर्गत वह शुद्धि आन्दोलन चाहता था–वह बहुत उत्सुकता नहीं रखते थे। आर्य समाज का कहना था कि यदि हिन्दओं को मांस खिलाकर अथवा कलमा पढ़ाकर मुसलमान बनाया जा सकता है तो फिर जनेऊ पहना कर किसी मुसलमान को हिन्दू क्यों नहीं बनाया जा सकता ?

प्रेमचन्द ने आर्य समाज के इस कार्य को बहुत नहीं सराहा। यह शायद इसलिए कि ऐसे प्रतिक्रियात्मक भावों के प्रचार से हिन्दू–मुस्लिम समस्या के समाधान में मदद नहीं मिलती थी बल्कि सनातनी को ही उत्तेजना मिलती थी। शिलीमुख जैसे कुछ आलोचकों को प्रेमचन्द से इस विषय में शिकायत भी है। वे ऐसा कहते हैं कि प्रेमचन्द ने मुसलमानों के प्रति ऐसा कहकर पक्षपात किया है।[1] किन्तु पो० शिलीमुख प्रेमचन्द की आलोचना करते समय देश की तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति आँखे बन्द कर लेते हैं। सन् **1924–25** में देश के नेता राष्ट्रीय हित का ध्यान करके किसी भी कीमत पर देश में आपसी ऐक्य बनाये रखना चाहते थे। प्रेमचन्द के एतद्विषयक विचारों को नेताओं की इसी भाव–स्थिति के संदर्भ में ग्रहण करना उचित होगा।

'कायाकल्प' में देवप्रिया और उसके पति के तीन–तीन जन्मों की जो कहानी आयी है वह क्षेपक जैसी जान पड़ती है। आलोचकों ने तदर्थ 'कायाकल्प' की आलोचना भी की है। इस योजना के पीछे प्रेरणा रूप है– श्रीमती एनी बेसेन्ट की थियासोफिकल सोसायटी का प्रभाव।

भारत के मनीषियों ने बताया है कि मनुष्य अपने कर्मों का भोग भोगता है और तदर्थ उसे बार–बार जन्म धारण करना पड़ता है। 'कायाकल्प' में इसी धारणा के फलस्वरूप देवप्रिया का पति फिर–फिर जन्म लेकर अपनी पत्नी के पास आता है। मनुष्य की आत्मा की

---

[1] प्रेमचंद और गोर्की, पृ० **312**

अतृप्त लालसाएँ उसे बार–बार संसार में भेजती हैं। 'कायाकल्प' की देवप्रिया का पति भी कहता है– यह अतृप्त तृष्णा फिर–फिर मुझे तुम्हारे पास लायंगी।'

देवप्रिया और उसके पति का वृतान्त एक अन्य कारण से भी उल्लेखनीय है। देवप्रिया का पति स्वयं अपने उद्धार के लिये जिस अर्थ में प्रयत्नशील है उसी अर्थ में वह देवप्रिया की वासनात्मक वृत्तियों के शमन के लिए भी उत्सुक है।

हिन्दुओं ने धार्मिक साधना के क्षेत्र में स्त्रियों को बाधक माना है। कबीर जैसे कुछ संत ऐसे अवश्य थे जिन्होंने गृहस्थी बसायी थी और स्त्री–संगति को सर्वथा त्याज्य नहीं माना था। इसके पीछे उनका वैष्णव आदर्श था जो अनासक्त कर्म विधान में विश्वास रखता था। लेकिन ऐसे संतो को भी कामिनी–रूपिणी माया बाधक स्वरूप दिखी थी। इस कारण नारी धर्म साधना के क्षेत्र में अनाहत थी।

प्रेमचन्द को धर्म के नाम पर होने वाले आडम्बरों से चिढ़ है। फिर भी वे सर्वथा निराश नहीं हैं। भविष्य के प्रति वे निश्चय ही आशावान है। इसीसे वे मानते हैं कि स्थिति बदलेगी और संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा।

पर इन विशेषताओं के बावजूद 'कायाकल्प' शैल्पिक दृष्टि से अत्यन्त दुर्बल उपन्यास है। अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं, सामाजिक चेतना की गौणस्थिति जैसे तत्वों ने इसे प्रेमचन्दीय कथा परम्परा से हटा हुआ उपन्यास बना दिया है और यह रचना 'कति' नहीं हो पायी।

'निर्मला' एक प्रकार से 'प्रेमा' और 'सेवासदन' की परम्परा का उपन्यास है। इसमें भी नारी–जीवन की समस्याओं को लिया गया है। पर एक दूसरी दृष्टि से उनसे भिन्न कोटि का भी है, क्योंकि यहाँ उन्होंने किसी सेवासदन या विधवाश्रम की स्थापना करके पाठक को झूठी सांत्वना नहीं दी और कहानी को 'अपने निर्मम तर्क संगत परिणाम की तरफ अविराम गति से बढ़ने दिया है।'[1] प्रारम्भ में भारतीय समाज में पुत्र–पिताओं की दहेज–लोलुपता का चित्रण है, जिसके कारण भुवन से निर्मला का विवाह होते–होते रह जाता है। मध्य में मुंशी तोताराम जैसे प्रौढ़ व्यक्ति से निर्मला नवयुवती के अनमेल विवाह के दुष्परिणामों का अंकन है। मुंशी तोताराम अपनी असमर्थता को अपने पुत्र मंसाराम पर सन्देह करके प्रकट करते हैं। मंसाराम की मृत्यु के जियाराम और सियाराम के सन्दर्भ में विमाता और सौतेली सन्तान के संबंधों की समस्या को उकेरा गया है। इसके बाद निर्मला की बहन

---

[1] प्रेमचद और उनका युग, पृ० 65

से भुवन के भाई की बिना दहेज के, विवाह की घटना है जिसके मूल में पश्चात्ताप की भावना काम करती दिखाई देती है। इसके साथ ही समाविष्ट है डॉ० भुवन की निर्मला से छेड़छाड़ और इसके लिए पत्नी की फटकार सुनकर आत्महत्या की अविश्वसनीय घटना। कहानी का अन्त निर्मला की मृत्यु और जियाराम की तलाश में गए मुंशी तोताराम के नाकाम लौटने से होता है। निर्मला की लाश को ठिकाने लगाने का प्रश्न लोगों को चिन्तित किए दे रहा था कि "सहसा एक बूढ़ा पथिक बकुचा लटकाए आकर खड़ा हो गया। यह मुंशी तोताराम थे। " (निर्मला, पृ० **208**) कहानी का यह त्रासद अन्त 'गोदान' के अन्त के समान ही त्रासद है और प्रेमचन्द द्वारा परिकल्पित अत्यन्त सफल समापनों में से एक है।

'निर्मला' निर्दोष कृति न होने पर भी एक अत्यन्त प्राणवान् कृति है, जिसमें निर्मला के माध्यम से भारतीय स्त्री की त्रासद जिन्दगी को उकेरा गया है। मुंशी तोताराम की तरूण–पत्नी को सन्तुष्ट करने की हास्यास्पद क्रियाएँ स्थिति की विद्रूपता को उजागर करती हैं। मंसाराम–निर्मला–तोताराम का त्रिकोण एक अलग ही प्रकार का त्रिकोण है, जो अपने द्वन्द्वात्मक स्वरूप के लिए ही नहीं, अपनी करुण परिणति के लिए भी उल्लेखनीय हो गया है। सियाराम–जियाराम की विमाता के प्रति प्रतिक्रिया और सम्बन्धों की जटिलता का व्यक्तिकरण प्रेमचन्द की मानवीय सम्बन्धों की तीखी पहचान का साक्षी है। अनावश्यक प्रतीत होने वाली डॉ० भुवन–सुधा की कहानी में सुधा के रूप में एक नारी मूर्ति उभरती है जो पति की आत्म–हत्या के बाद यह कहने का साहस करती है "ऐसे सौभाग्य से मैं वैधव्य को बुरा नहीं समझती। दरिद्र प्राणी उस धन से कहीं सुखी है, जिसे उसका धन साँप बनकर काटने दौड़े। उपवास कर लेना आसान है, विषैला भोजन करना उससे कहीं मुश्किल।" (निर्मला, पृ० **206**)

प्रेमचन्द ने अपने एक मित्र केशोराम सव्वरवाल के नाम अपने एक पत्र में लिखा था कि उन्होंने कमोवेश समाज की बुराईयों का पर्दाफाश करने के उद्देश्य से 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' शीर्षक दो छोटे उपन्यास लिखे हैं।

निर्मला के प्रतिपाद्य का निर्धारण करते हुए श्री अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' में लिखा है कि 'निर्मला' में समाज के जालिम ढकोसले, लेन–देन की नहूसते बेवा की बेचारगी और निपट अकेलापन और अनमेल व्याह की गुत्थियों की प्रस्तुति हुई है'। इस प्रकार निर्मला एक ऐसा छोटा सा सामाजिक उपन्यास है जिसमें मुख्य रूप से दहेज की प्रथा और तद्जन्य सामाजिक विकृतियों का चित्रण हुआ है।

इसके पहले प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' नामक अपने सामाजिक उपन्यास में बताया था कि जिन कारणों से सुमन वेश्या–वृति अपनाने के लिए विवश हुई उनमें दहेज प्रथा भी एक महत्वपूर्ण कारण थी। 'सेवासदन' के लेखक ने ऐसा अनुभव किया कि यदि हमारे समाज में दहेज की कुप्रथा नहीं होती तो सुमन का विवाह गजाधर जैसे व्यक्ति के साथ नहीं होता। और सुमन वेश्या नहीं होती। यह ठीक है कि सुमन के वेश्या होने के दूसरे कारण भी हैं लेकिन दहेज की कुप्रथा सबसे महत्वपूर्ण इसलिए है कि पैसे के अभाव में ही सुमन का विवाह उस व्यक्ति के साथ हुआ जिससे सुमन का कोई मेल हो ही नहीं सकता था।

'निर्मला' में इसी दहेज की समस्या की बुराइयों के विषय में प्रेमचन्द ने गम्भीरता के साथ विचार किया है।

निर्मला के पिता वकील उदयभानु लाल की कमाई तो खासी थी लेकिन उनमें सचय–वृति नहीं थी। इससे वकील साहब की मृत्यु के बाद परिवार आर्थिक–दृष्टि से विपन्न हो गया। वकील साहब के जीवन काल में ही निर्मला का विवाह आबकारी विभाग के भालचन्द्र सिन्हा के पुत्र भुवनचन्द्र के साथ निश्चित हुआ था। वर पक्ष ने वकील साहब की अच्छी खासी आमदनी को देखकर यह समझ लिया था कि वकील साहब अपनी लड़की की शादी धूम–धाम से करेंगे और ऐसे व्यक्ति के साथ दहेज की रकम स्थिर करने से अधिक लाभप्रद यही है कि उस प्रश्न को वकील साहब की मर्जी पर छोड़ दिया जाय। वकील साहब के दिवंगत होते ही भालचन्द्र सिन्हा की आशालता पर अनायास तुषारापात हो गया। इसी से उसने अपशकुन का बहाना लेकर विवाह सम्बन्ध तोड दिया। इस प्रकार निर्मला उस सम्पन्न घर में बहू बनकर न जा सकी।

इस सम्बन्ध के टूटने के बाद उसकी विधवा माँ कल्याणी उसके विवाह के लिए योग्यवर की खोज ढूँढ़ आरम्भ करती है। एक लड़का जिसे रत्न कहा जा सकता था मिलता तो है लेकिन घर में उसको खरीदने के पैसे नहीं हैं। एक दूसरे वर का पता चलता है जो रेलवे में नौकरी करता था। और सब तरह से निर्मला के योग्य था। किन्तु कल्याणी को उस वर के साथ निर्मला का विवाह इसलिए इष्ट नहीं हुआ कि उसका खानदान अच्छा नहीं था। उस समाज में हिन्दू–समाज में व्यक्ति की योग्यता का कोई अर्थ नहीं था। मुख्य थी कुल परम्परागत प्रतिष्ठा। इस कारण रेलवे की नौकरी करने वाले इस योग्य वर के साथ निर्मला का विवाह इसलिए नहीं हो सका कि कल्याणी उस हिन्दू समाज की है जिसने कुलीनता के झूठे दम्भ को दाँत से पकड़ रखा है और उसे वह किसी कीमत पर छोड़ेगी भी नहीं। और

इसी कुलीनता का लाभ उठा लेता है तीन बच्चों का बाप तोताराम जो अपनी 45 वर्षो की पक्की उम्र में कुल 15 वर्षो की फूल–सी कोमल निर्मला का पति बन जाता है। विपन्नता और निस्हायता की स्थिति में ही भाग्यवाद का सहारा लेकर कल्याणी ने अपनी बेटी का व्याह इस बूढ़े तोताराम के साथ कराया होगा।

हिन्दू–समाज की दृष्टि में कन्या की योग्यता का भी कोई अर्थ नहीं होता। प्रेमचन्द ने बताया है कि बेटे वालों के आगे एक ही बात का महत्व है और वह है दहेज। इधर हिन्दू घरों में लड़की क्वाँरी रखी नहीं जा सकती। इससे वर पक्ष का पलड़ा भारी पड़ जाता है।

दहेज की कुप्रथा माँ की ममता पर भी हावी हो जाती है। उसे अनुभव करना पड़ता है कि बेटे और बेटी में प्रत्यक्ष अन्तर है। बेटी के विवाह में दहेज देना पड़ता है, बेटे के विवाह में दहेज मिलता है। इसी से तो कल्याणी भी कहती है–लड़के हल के बैल हैं भूसे खली पर उनका पहला हक है। उनके खाने से जो बचे वह गायों का। संभवतः अनजाने ही कल्याणी ने बेटी के लिए गाय शब्द को प्रयोग किया है। किन्तु इससे हिन्दू समाज की कन्या की निरीहता की ओर भी इशारा हो जाता है। सचमुच हिन्दू घरों की अविवाहित कन्याएँ गाय ही तो होती है–निरीह, विवश और मूक।

विवहोपरान्त अपने भरे–पूरे परिवार में निर्मला को किसी प्रकार का अभाव झेलना नहीं पड़ा किन्तु अपने पति तोताराम के पास बैठने और उसके साथ हंसने बोलने में उसे एक प्रकार का संकोच होता था। प्रेमचन्द ने इस संकोच को कारण निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था। अब उसी उम्र का यह तोताराम उसका पति है। तोताराम के प्रेम–प्रदर्शन के प्रति उसे घृणा होती थी। फिर भी निर्मला परिस्थितियों के साथ समझौता करने की अनथक चेष्टा करती है। अपने सौतेले बेटों के प्रति वह स्नेह का व्यवहार भी करती है। किन्तु यही उसका भयंकर अपराध हो जाता है। नवयुवक मंशाराम और निर्मला के परस्पर सम्बन्ध में तोताराम को वात्सल्य की पवित्रता के स्थान पर कलुषता नजर आती है।

दहेज–प्रथा का अभिशाप निर्मला की जिन्दगी खराब तो करता ही है तोताराम के परिवार को भी छिन्न–भिन्न कर डालता है। प्रेमचन्द जैसे यह कहना चाहते हैं कि दहेज की इस कुप्रथा का परिणाम किसी एक व्यक्ति को ही भुगतना पड़ता है ऐसा नहीं है। उस पाप की आग में अनेक लोग दग्ध होते हैं।

तोताराम सोचता है कि उसने निर्मला से विवाह करके ऐसा कौन सा पाप किया कि उसे भगवान का दण्ड मिले। उसी के पिता थे जिन्होंने पचपनवें वर्ष में विवाह किया था और उनका जीवन दुःखपूर्ण भी नहीं था। सोचते–सोचते उसे अपने दाम्पत्य जीवन की विफलता का एक ही कारण दृष्टिगत होता है जिसका उल्लेख करते हुए वह कहता है–'पहले स्त्रियाँ पढ़ी–लिखी न होती थीं, पति चाहे कैसा ही हो उसे पूज्य समझती थीं। तो क्या निर्मला का शिक्षिता होना उसके जीवन की व्यर्थता का कारण है ? तोताराम को इस सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय नहीं है। विकल्प के एक क्षण में वह भी यह सोचता है कि या यह बात हो कि पुरूष सब कुछ देख कर भी बेहयायी से काम लेता हो। तोताराम की विचार–सरिणी में यह दूसरी बात ही अधिक स्थिरता के साथ जाकर बैठती है। उसने कहा ही है–'अवश्य यही बात है। जब युवक वृद्धा के साथ प्रसन्न नहीं रह सकता तो युवती क्यों किसी वृद्धा के साथ प्रसन्न रहने लगी ?' कहना नहीं होगा कि तोताराम के मुंह में ये प्रेमचन्द के ही शब्द हैं। प्रेमचन्द यह बताना चाहते थे कि दहेज–प्रथा की अमानुषिकता किसी युवती को वृद्ध के पास पहुँचा कर या तो उसे जीवन की रिक्तता एवं व्यर्थता का अनुभव करने के लिए विवश करती है अथवा उसे कुलटा बनाती है।

हिन्दू–समाज की यह कुप्रथा एक भीषण सामाजिक समस्या के रूप में समाज के सामने थी। सुधारकों का ध्यान इस प्रश्न की ओर गया भी था। किन्तु दहेज के मोह का छूटना बड़ा ही कठिन व्यापार है। जिस समाज में भुवनचन्द्र जैसा पढ़ा–लिखा लड़का निर्लज्ज की तरह कहता हो कि कहीं ऐसी जगह शादी करवाइए कि खूब रूपये मिलें और न सही एक लाख का तो डौल हो। उस समाज में आशा के लिए आधार कहाँ रह जाता है ? लेकिन प्रेमचन्द इस विषय में सर्वथा निराश नहीं थे। वे जानते थे कि नारी–समाज में दहेज की कुप्रथा के प्रति प्रतिक्रियात्मक विद्रोह भाव उत्पन्न होगा और आज न सही कल पुरूष समाज भी इस प्रथा की बुराई का अनुभव करेगा ही।

निर्मला में एक लाख का डौल लगाने की आकाँक्षा रखने वाले भुवनचन्द की ही माँ है रंगीली बाई जो अपने पति और बेटे को वेवश विपन्न विधवा कल्याणी से दहेज की माँग करते देख व्यथित होती है। यदि रंगीली बाई की बात चलती तो शायद निर्मला की कहानी कुछ दूसरी ही होती। 'निर्मला' में ही उसी भुवनचन्द्र की जिसके साथ निर्मला का व्याह पैसे के अभाव में नहीं हो सका था पत्नी सुधा भी है जो भुवनचन्द्र की ऑख खोल देती है और इसका शुभ–परिणाम यह होता है कि भुवनचन्द्र के छोटे भाई का व्याह निर्मला की बहन

कृष्णा से बिना–तिलक के ही हो जाता है। प्रेमचन्द यह मानते हैं कि दहेज की प्रथा गलत है और जो चीज गलत होती है वह सदा सर्वदा तक बनी रह सकती है। आवश्यकता है बुरी चीज के विरूद्ध आन्दोलन करने की। मनुष्य में इतना न्याय विवेक तो हैं ही कि वह गलत चीज को गलत समझ सके। इसी का उदाहरण है भुवनचन्द्र का वह प्रायश्चित जिसके कारण निर्मला के घर अपनी ओर से संवाद भेज कर वह अपने छोटे भाई के लिए कृष्णा की माग करता है। इस प्रकार उसके जिस लोभ के कारण निर्मला की जिन्दगी बर्बाद हुई है उसका यत्किंचित् प्रायश्चित उसकी ओर से हो जाता है।

'प्रतिज्ञा' पूर्ववर्ती उपन्यास 'प्रेमा' के ही पात्रों को लेकर लिखा हुआ उपन्यास है। इस उपन्यास में भी विधवा–विवाह की समस्या का अंकन हुआ है लेकिन जहॉ प्रेमा का अमृतराय पूर्णा और प्रेमा दो विधवाओं से विवाह रचाकर इस समस्या का अधिक तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत करता है, वहॉ 'प्रतिज्ञा' का अमृतराय विधवा से विवाह की प्रतिज्ञा करके भी अन्त में विधवा–आश्रम (वनिता आश्रम) से अपने विवाह का बहाना बनाकर इसे टाल जाता है। कमलाप्रसाद–पूर्णा प्रसंग के माध्यम से प्रेमचन्द विधवा की सतीत्व सुरक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता की समस्याओं को उकेरते हैं। प्रेमचन्द मानते थे कि "हमारी लाखों बहनें केवल जीवन–निर्वाह के लिए पतित हो जाती हैं . . . अगर उन बहनों की रूखी रोटियों और मोटे कपड़ों का सहारा हो, तो वे अन्त समय तक अपने सतीत्व की रक्षा करती रहें। स्त्री हारे दर्जे की ही दुराचारिणाी होती है। अपने सतीत्व से अधिक उसे संसार की और किसी वस्तु पर गर्व नहीं होता, न वह किसी चीज को इतना मूल्यवान् समझती है ।" (प्रतिज्ञा, पृ० 87)। प्रेमचन्द के उपर्युक्त कथन में निहित सत्य को नकारा नहीं जा सकता, पर यह भी स्पष्ट है कि इसमें नारी की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की उपेक्षा कर दी गई है। यही नहीं, स्त्री की आवश्यकताओं की पूर्ति और सतीत्व–सुरक्षा जिस प्रकार पुनर्विवाह द्वारा हो सकती है वैसे वनिता–आश्रम द्वारा कैसे सम्भव है ? 'प्रेमा' में प्रेमचन्द 'विधवा–विवाह' का समाधान प्रस्तुत कर चुके थे और इसमें भी सैद्धान्तिक रूप से इसको स्वीकृति प्रदान कर देते हैं। इसे क्रियात्मक रूप में अंकित ने करने के पीछे उनका परिवर्तित दृष्टिकोण ही लगता है। डॉ० रघुवीरसिंह को अपने एक पत्र में वे स्पष्ट कर देते हैं कि 'वे विधवा–विवाह द्वारा हिन्दू–नारी का आदर्श नहीं गिराना चाहते।'

'प्रतिज्ञा' में स्थान–स्थान पर पुरूष प्रधान समाज में स्त्री के पराश्रय और उन पर पुरूष के शासन तथा पुरूष–स्त्री के पारस्परिक असामंजस्य का उल्लेख हुआ है। इसका

समाधान प्रेमचन्द दोनों की समान उन्नति में ढूँढते हैं –"समाज में स्त्री और पुरूष दोनों ही हैं। जब तक दोनों की उन्नति न होगी, जीवन सुखी न होगा। ' (प्रतिज्ञा, पृ० **16**)।

'गबन' की कथा रमानाथ की कथा है। यह कथा दो नगरों में विभाजित है – रमानाथ का इलाहाबाद का जीवन, रमानाथ का कलकत्ता प्रवास। इन दोनों खण्डों के अन्तर्गत प्रेमचन्द ने मध्यमवर्ग की महत्त्वाकांक्षाओं, उसकी पराजयों तथा समझौतावादी प्रवृति को उजागर किया है। नगरीकरण से सम्बद्ध मध्यवर्ग की बेहतर जीवन स्तर अपनाने की आकांक्षा, वास्तविक से उच्चतर दीखने की अभिलाषा उसे पत्नी के गहनों की चोरी, सरकारी रूपयों का गबन ही नहीं देशभक्तों के विरूद्ध 'मुखबिर' बनने के लिए भी तैयार कर देती है। नगरों और कस्बों में रहने वाली मध्यवित्तीय युवा पीढ़ी किस तरह मूल केन्द्र से विच्छिन्न होकर मूल्यहीनता की भूलभुलैयों में भटक रही है, इसे प्रेमचन्द 'गबन' में बड़ी कुशलता से उकेरते हैं। नगरीकरण के परिणामस्वरूप आर्थिक और सामाजिक दबावों को झेलते हुए मध्यवर्ग के लिए प्रेमचन्द जो समाधान सुझाते हैं वह आश्रमवादी न होने पर भी कृत्रिम और बनावटी प्रतीत होता है और गांधीजी के 'गाँव की ओर लौटो' नारे से प्रभावित लगता है। रमानाथ की पत्नी अपने श्रृंगार की वस्तुओं को गंगा की भेंट करती है तो प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं –हाँ, यह वास्तव में यात्रा ही थी, अँधेरे से उजाले की, मिथ्या से सत्य की।' (गबन, पृष्ठ **152**) इस कृत्रिम समाधान के अलावा देवीदीन के रूप में एक आदर्श चरित्र प्रस्तुत करने का लोभ भी प्रेमचन्द संवरण नहीं कर पाते। इस प्रकार 'गबन' भी प्रेमचन्दीय दुर्बलताओं से पूरी तरह मुक्त नहीं है पर शैल्पिक स्तर पर मुख्य कथा से देवीदीन, जौहरा, रतन, वकील साहब की प्रासंगिक कथाओं की समुचित अन्विति स्थापित करने और संयोगो और चमत्कारपूर्ण घटनाओं से उपन्यास को मुक्त रखने तथा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों को उकेरने में लेखक की सफलता और कथ्य की सांकेतिक शैली में प्रस्तुति के कारण 'गबन' शैल्पिक दृष्टि से एक उल्लेखनीय उपन्यास हो गया है। इसके अलावा जर्जर मूल्यों के कुहासे में भटकते मध्यवर्ग का चित्रण और भारतीय पुलिस के हथकंडों के अंकन में लेखक की वस्तुवादी और यथार्थाश्रित दृष्टि ने इसे कृति का दर्जा दिला दिया है।

मूल रूप में मध्यवर्गीय जीवन की एक समस्या को लेकर चलने वाला यह उपन्यास आगे चलकर सामाजिक उपन्यास मात्र नहीं रह जाता। सामाजिक उपन्यास के वृत्त से आगे निकल कर नयी राष्ट्रीय चेतना का दिग्दर्शक भी हो जाता है। उपन्यास का नायक रमानाथ उस मध्यवर्ग से आया है जिसे अपनी अवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु साधन जुटाने पड़ते हैं।

यह साधन प्रायः ऋण है और उससे हटकर न्यास का गबन। रमानाथ गबन के सिलसिले में भागकर कलकत्ता जाता है जहाँ केवल सन्देह पर उसे पुलिस गिरफ्तार कर लेती है। और वहीं से लेखक को पुलिस के हथकडों और उसके मनमाने अत्याचार को पर्दाफाश करने का सुयोग मिल जाता है। इस तरह गबन के कथानक के दो हिस्से हो जाते हैं। पूर्वार्द्ध तक तो वह एक पारिवारिक सामाजिक उपन्यास है और उत्तरार्द्ध में एक प्रकार का राजनैतिक उपन्यास।

'गबन' का रमानाथ म्युनिसिपल बोर्ड के रूपयों का गबन करके घर से अपराधबोध की स्थिति में निकल भागा था। कलकत्ते में सौभाग्यवश देवीदीन खटिक और उसकी पत्नी जग्गो जैसी उदार दम्पति के वात्सल्य की छाया उसे प्राप्त हो जाती है और लिखने का काम कर जीविका का अर्जन भी वह करने लगता है। इस प्रकार अपने कलकत्ता –प्रवास में रमानाथ सत्संगति में है और मेहनत–मजदूरी करके कालक्षेप कर रहा है। वह समाज या सरकार के विरूद्ध कोई आचरण नहीं कर रहा है। इससे पुलिस से डरने का उसके लिए कोई कारण नहीं है। फिर भी गबन के अपराध–बोध का खटका उसके मन में तो है ही। इसके कारण वह सहज ही पुलिस के चंगुल में फस जाता है।

कहना न होगा कि अंग्रजो की पुलिस **100** में से **99** अवसरों पर अनुमान के भरोसे ही अपने पंजे में गिरफ्तार किया करती थी। पुलिस के आतंक के कारण भारत के नागरिक अपने मौलिक अधिकारों की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। अंग्रेजों का राज्य सही मानी में पुलिस राज्य था। इससे उस जमाने में किसी में पुलिस का विरोध करने की हिम्मत ही नहीं थी। ऐसे परिप्रेक्ष्य में गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीय रङ्गमंच पर अवतीर्ण होकर प्रजा के मौलिक अधिकारों की मांग प्रस्तुत की और भय के उस भूत को हटाने का उद्योग किया जिसके कारण भारतीय जनता मूक पशु की दशा में पड़ी हुई थी।

परिणाम हुआ कि अब भारत में ऐसे लोग भी नजर आने लगे जो अपने अधिकरों के प्रति सजग थे और स्वयं कानून की मर्यादा निभाते हुए इस बात की भी अपेक्षा रखते थे कि शासन भी कानून का पालन करे। 'गबन' में इसी की प्रतिच्छाया वहाँ प्राप्त होती है जहाँ राह चलते जब रमानाथ पुलिस की नजर से अपने को बचाने के लिए आड़ खोजता है तब पुलिस की सतर्क आँखे यह देख लेती हैं कि वह उसके किसी काम आ सकता है। रमानाथ सिपाही के हाथ पकड़ने पर आपत्ति करता है और कहता है–वारंट लाओ तब हम चलेंगे।

रमानाथ आपत्ति करते हुए कहता है कि वह एक सम्भ्रान्त नागरिक है और उसे अपना अधिकार विदित है। वह कोई देहाती नहीं जो नागरिक अधिकार के प्रति अनजान हो। लेकिन अंग्रेजों की पुलिस नागरिकों के अधिकार की चिन्ता कहाँ किया करती थी ?

राष्ट्रभक्त के विरूद्ध जो राजद्रोह के मुकदमें गढकर चलाये जाते थे न्यायालय में उनकी सफलता के लिए पुलिस को मुखबिर करना पड़ता था। मुखबिर मामले से सम्बद्ध हों ही यह एकदम जरूरी नहीं था। पुलिस अपने पक्ष–समर्थन के हेतु झूठे मुखबिर खड़ा करती थी और उनकी झूठी शहादत के बल पर सरकारी मुकदमों का फैसला सरकार के पक्ष में हुआ करता था। 'गबन' में रमानाथ को जिस तरह मुखबिर बनाया गया है उससे मुखबिरों की असलियत का पर्दाफाश होता है।

'गबन' में रमानाथ को किसी डकैती के मामले में मुखबिर बनाया गया। सामान्यतः डकैती जैसे साधारण मामलों मे मुखबिर का प्रयोग पुलिस वाले नहीं करते। इससे प्रेमचन्द को अपने आलोचकों को सन्तुष्ट करने के लिए यह बताना पड़ा है कि डकैती का वह मामला एक विशेष महत्त्व का हो गया था। उसके अपराधियों का पता नहीं चल रहा था और इससे पुलिस कप्तान के आगे छोटे पुलिस कर्मचारियों की अकर्मण्यता सिद्ध हो रही थी। अस्तु, पुलिस के निम्न पदस्थ कर्मचारी बड़ी तत्परता के साथ उस डकैती के असली अभियुक्तों के बदले में चाहे जिस किसी निरपराध को फँसाकर मुकदमा चलाना चाहते थे। पुलिस के ऐसे मुकदमों में अक्सर निर्दोष आदमी ही दंडित होते थे। 'गबन' का दिनेश एक ऐसा ही पात्र है जिसको पुलिस के प्रपंच और रमानाथ की झूठी गवाही के प्रमाण पर डकैती के उस मामले में फाँसी की सजा दी गयी और दूसरे पाँच को दस–दस साल तथा अन्य आठ अभियुक्तों को पाँच–पाँच साल की कैद की सजा मिली।

प्रेमचन्द इस ब्याज से यह बताना चाहते थे कि पुलिस की चाल न्याय पर किस प्रकार हावी हो गयी थी।

उस जमाने में मुखबिर को अपने जाल में फँसाने के लिए पुलिस हर सम्भव अस्त्र का प्रयोग करती थी। 'गबन' में जौहरा नाम की वेश्या को पुलिस ने मुखबिर रमानाथ के मनुहार के लिए नियुक्त कर रखा था। रमानाथ को जाने क्या–क्या प्रलोभन दिये गये थे।

प्रेमचन्द ने पुलिस के हथकंडों का विवरण प्रस्तुत करने के साथ–साथ अँग्रेजी न्याय–विधान के दोषों की ओर भी संकेत किया है। अंग्रेजों का न्याय विधान झूठ पर टिका

हुआ था। कचहरी में जज के आगे मुकदमें का रूप क्या होगा यह उसी दिन सोच लिया जाता था जिस दिन मुकदमा थाना में दर्ज होने के लिए आता था। सचाई के ऊपर जितने भी बैठन लगाये जा सकते थे लगाये जाते थे। एक तरह से मुकदमों का पूर्ण नियमन पुलिस के हाथों होता था।

इस प्रकार 'गबन' के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजों के पुलिस राज्य की कुरूपताओं का चित्रण किया गया है। जनता की सुरक्षा के नाम पर बनने वाले पब्लिक सेफ्टी ऐक्ट से जनता की जो सुरक्षा और भलाई हो रही थी–'गबन' की इस कहानी से जाहिर है।

'कर्मभूमि' की कथा निर्धन और निम्न जनता की सामाजिक शासकीय पराधीनता से मुक्ति संघर्ष की कथा है।[1]. उपन्यास में निर्धन और धनी दो वर्ग हैं। गाँव के निर्धन किसान और चमार हैं और नगर के धोबी, नाई, मेहतर आदि। गॉव के शोषक वर्ग का प्रतीक जमींदार महंत। शहर की शोषक टोली में धनी व्यापारी और म्युनिसिपिल बोर्ड के चेयरमैन शामिल हैं। अँग्रेजी प्रशासन और उसकी पुलिस की सहानुभूति शोषकों के साथ है–वे चाहे शहर के हों या गाँव के। शहर का शिक्षित वर्ग गाँव और शहर दोनों जगहों के शोषितों के पूरी तरह साथ ही नहीं, उनके संघर्ष को नेतृत्व भी प्रदान करता है। इसलिए कतिपय विद्वानों द्वारा इसे अछूतोद्धार की कथा अथवा लगानबन्दी के आन्दोलन की कथा ठहराया जाना उचित नहीं कहा जा सकता। यह ता वस्तुतः "देश की गरीब और निम्न जाति की जनता द्वारा सरकारी और सामाजिक पराधीनता को जड़ से उखाड़ फेंकने के संघर्ष–आन्दोलन की कथा है।"[2]

कर्मभूमि' में प्रेमचन्द सफलता से सामूहिक चेतना को वाणी देते हैं और इस सत्य को उजागर करते हैं कि तथाकथित उच्चवर्गों की सारी विलासिता इन निम्न कहे और समझे जाने वाले वर्गो के श्रम पर आधृत है। एक ही शहर में बसे दो शहरों को प्रेमचन्द उपन्यास में इस तरह उकेरते हैं–'गली में बड़ी दुर्गन्ध थी। गन्दे पानी के नाले दोनों तरफ़ बह रहे थे। घर प्रायः कच्चे थे। ग़रीबों का मुहल्ला था। शहरों से बाजारों और गलियों में कितना अन्तर है ? एक फूल है–सुन्दर स्वच्छ सुगन्धमय दूसरी जड़ है–कीचड़ और दुर्गन्ध से भरी टेढ़ी–मेढ़ी लेकिन क्या फूल को मालूम है कि उसकी हस्ती जड़ से है ?' (कर्मभूमि, पृ० **40**)। अछूतों की मूलभूत समस्याओं और उनकी वास्तविक दशा के चित्रण की दृष्टि से भी

---

[1] प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान, पृ० **416**

[2] वही

'कर्मभूमि' पहला उपन्यास है। इसके अलावा सन् ३० के बाद जाग्रत और सक्रिय नारी की तस्वीर अंकित करने की दृष्टि से यह उल्लेखनीय रचना है। सुखदा, सकीना, नैना, मुन्नी के रूप में नारी के विविध रूपों को उपन्यास में उकेरा गया है। इससे यह भी लक्षित होता है कि धर्म के विकृत रूप के उद्‌घाटन से प्रेमचन्द की जो उपन्यास–यात्रा शुरू हुई थी वह 'कर्मभूमि' तक बराबर चलती आई है। गूदड़ चौधरी के शब्दो में–"यहॉ के पण्डे पुजारियों के चरित्र सुनो तो दॉतों तले उँगली दबा लो, पर वे यहाँ के मालिक हैं और हम भीतर कदम नहीं रख सकते।" (कर्मभूमि, पृ० 304)।

'कर्मभूमि' प्रेमचन्दीय कथा–शिल्प की बहुत–सी दुर्बलताओं से मुक्त है। इसमें अस्वाभाविक और चामत्कारिक घटनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। कथानक में बिखराव अवश्य आ गया है क्योंकि इसमें 'प्रेमाश्रम' के विविध कथा कोणों को जोड़ने वाला कोई ज्ञानशंकर नहीं है। इस उपन्यास को तो शहर और गॉव दोनों में चलने वाले संघर्ष की समानता ही एकसूत्रता में बाँधे प्रतीत होती है।

'कर्मभूमि' में आन्दोलन की सक्रियता, अछूतों के मंदिर प्रवेश के प्रश्न को लेकर प्रकट हुई है। धनी–मानी सेठों के मन्दिर के प्रांगण में कथा सुनने का उत्साह लकर आने वाले अंत्यजों को हिन्दू धर्म के रक्षक जब जूते मार कर मन्दिर से बाहर कर देते हैं तब डाक्टर शान्तिकुमार के मन में विद्रोह – भाव उत्पन्न होता है।[1] वह यह देखकर हैरान हैं कि घी में चरबी मिला कर बेचने–वाले सेठों और रिश्वतें खाने वाले मुलाजिमों के लिए तो मन्दिर का दरवाजा खुला हुआ है लेकिन सच्ची निष्ठा लेकर आने वाले हरिजनों के लिए भगवान के मन्दिर का दरवाजा बन्द है।[2] शान्तिकुमार जानता है कि धनियों के इस उत्याचार का अन्त तभी हो सकता है जब अछूत यह समझ ले कि मन्दिर किसी एक आदमी या सम्प्रदाय की चीज नहीं है। वह हिन्दू–मात्र की चीज है और ऐसी स्थिति में अछूतों को मन्दिर – प्रवेश के अपने अधिकार पर आत्मोन्नति का सजीव संदेश प्रचारित कर उन्हें संगठित करता है और मन्दिर प्रवेशार्थ मन्दिर के द्वार पर उन्हें ले आता है। शान्तिकुमार जानता है कि अछूतों के इस संगठन को भंग करने के लिए दमन हो सकता है, धनियों के इशारे पर गोलियों की वर्षा भी हो सकती है। लेकिन धर्म की रक्षा सदा प्राण देकर की गई

---

[1] कर्मभूमि – 200

[2] वही पृ० 01

है। इसलिए उत्सर्ग के लिए अछूतों को तैयार रहना होगा।[1] शान्तिकुमार न्यायोचित अधिकार के लिए अहिंसक आन्दोलन छेड़ता है। उसका उद्देश्य फौजदारी करने का नहीं है। वह इतना ही चाहता है कि भगवान के भक्तों को भगवान के मन्दिर में जाकर उनके दर्शन की सुविधा मिलती रहे। अवश्य ही हिन्दू होने के कारण भगवान तक पहुँचने का उनका जन्म–सिद्ध अधिकार है। इस अधिकार को अछूत अपने अज्ञान के कारण भूल बैठे थे। लेकिन यह भी तो सही है कि जब जग जायें तभी सबेरा है। लेकिन हमारा अनुदार उच्चवर्ग अछूतों को हिन्दू ही कहाँ तक समझता है जो उन्हें मन्दिर में घुसने दे? सेठों और धनियों को तो शान्तिकुमार के नेतृत्व में अछूतों की भीड़ को मन्दिर के द्वार पर देखकर ऐसा लगा होगा जैसे वह भीड़ उनके स्वत्व, उनकी तिजोरी छीन लेने के लिए बढ़ आयी है। इसी से वे भीड़ का मुकाबला करने के लिए शक्ति–प्रयोग करते हैं। अछूतों की भीड़ के ऊपर पडे–पुजारियों की लाठियाँ बरस पड़ती हैं। शान्तिकुमार को भी गहरी चोट लगती है।[2] इस घटना की प्रतिक्रिया भी हुई और परिणाम स्वरूप पुलिस ने गोलियाँ चलायीं। अन्त मे पडे–पुजारियों और धनी–मानी सेठों की मनमानी पर अछूतों की सच्ची निष्ठा की विजय हुई। इस घटना से यह सूचित होता है कि संघ–शक्ति बेबसों' में भी शक्ति का ज्वार उठा देती है। सेठों की शक्ति बड़ी थी, उनके पीछे पुलिस की ताकत भी थी फिर भी जनशक्ति के आगे वे सर्वथा निरुपाय सिद्ध हुए।

'कर्मभूमि' में जो दूसरा आन्दोलन खड़ा हुआ है उसका सम्बन्ध म्युनिसिपल बोर्ड से है। डॉ० शान्तिकुमार नागरिकों के उस वर्ग की सेवा में लीन है जो उपेक्षित, शोषित, अभाव–ग्रस्त और विपन्न है। रेणुका देवी की सम्पत्ति का ट्रस्टी बन कर वह इस वर्ग के उत्थान के हेतु प्रत्येक मुहल्ले में अपने सेवाश्रम की शाखाएं खोलता है।[3] उसने सेवाकार्य के लिए जो कार्यक्रम स्थिर किया है उसके अन्तर्गत गरीबों को नगर में सस्ते मकान देने की योजना भी है।[4] इन मकानों के लिए जमीन की व्यवस्था म्युनिसिपल बोर्ड ही कर सकता है। किन्तु, बोर्ड के स्वार्थी सदस्यों के हाथों शान्तिकुमार की आशालता पर तुषारपत होता है। डा० शान्तिकुमार इस दूसरे संघर्ष में बहुत सक्रिय होने का पहले विचार नही रखता था।

---

[1] वही पृ० 204–5
[2] वही 206
[3] कर्मभूमि – 234
[4] वही 234-5

वह चाहता है कि उसकी इस योजना के पक्ष में पहले जनमत तैयार हो ले ताकि बोर्ड[1] के सदस्यों को इस बात का अनुभव हो कि जो म्युनिसिपैलिटी स्कूलों और कालेजों और तो और मिलों के लिए जमीन का प्रबन्ध कर सकती है उसे ही गरीबों के लिए सस्ते मकान बनाने के लिए जमीन भी देनी चााहिए। रेणुका देवी की पुत्री सुखदा में शान्तिकुमार की सी सहनशीलता नहीं है। जब वह यह देखती है कि म्युनिसिपल–बोर्ड के सदस्यों की खुशामद व्यर्थ गई तब वह उसी जनशक्ति का आह्वान करना चाहती है जिसके खड़ा होते ही अछूतों के लिए मंदिर का दरवाजा खुल गया था। वह यह भी यह भी जानती है कि प्राणों की आहुति इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देनी होगी। लेकिन, वह उसके लिए तैयार है। सुखदा[2] का कहना है कि डाक्टर शान्तिकुमार अनुनय–विनय के रास्ते चल कर गरीबों के लिए बोर्ड से यह रिआयत नहीं प्राप्त कर सका, उसकी प्रार्थना निष्फल गई तो इससे स्पष्ट है अब अर्जियाँ भेजने से काम चलने वाला नहीं है, रिआयत न करने का बोर्ड को यदि अख्तियार है तो गरीबों को भी अपने हक पर जान देने का पूरा अधिकार है।[3] फलस्वरूप हड़ताल का प्रबन्ध होता है और लड़ाई ठन जाती है। ये हड़ताली भी उत्पात करने की नियत से नहीं आते हैं, सिर्फ यह दिखाने आते हैं कि बोर्ड के फैसले को उन्होंने अन्यायपूर्ण समझ कर स्वीकार नहीं किया है और वे तब तक हड़ताल जारी रखेंगे जब तक बोर्ड अपने अनुचित निर्णय को बदल नहीं देता।[4] इस आन्दोलन को भी दबाने के लिए पुलिस पहुँच जाती है। वह दमन करती है और आन्दोलन के सभी नेताओं को जैसे सुखदा, शान्तिकुमार, रेणुका देवी, पठानिन, अमरकान्त एक के बाद एक करके गिरफ्तार कर लेती है। नेताओं की गिरफ्तारी से आन्दोलन ठप्प नहीं पड़ता। अन्त में इसका नेतृत्व ग्रहण करने के लिए नैना आ जाती है। उसका पति सेठ मनीराम उसे इस स्थिति में देखकर आवेश में आ जाता है और उस पर गोली चला देता है।[5] मनीराम व्यक्तिगत रूप से इस आन्दोलन से प्रभावित नहीं है–फिर भी वह विरोध में खड़ा होकर अपनी ही पत्नी पर गोली चलाता है। इससे स्पष्ट है कि धनियों के हृदय में गरीबों के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति, समवेदना नहीं है। और निहित स्वार्थ वर्ग का एक ही स्वार्थ है। वह यह कि गरीब अनन्त काल तक गरीब

[1] वही पृ० 235
[2] कर्मभूमि, पृ० 255
[3] वही पृ० 255
[4] वही पृ० 259
[5] वही पृ० 386

बने रहें, बेचारे बने रहें। किन्तु नैना का यह बलिदान व्यर्थ नहीं जाता। म्युनिसिपल बोर्ड को अपना पहला निर्णय बदलना पड़ता है।[1]

'कर्मभूमि' में किसानों के प्रश्न को लेकर भी एक आन्दोलन चला है। घोर आर्थिक सकट में पड़े हुए किसान अपने जमींदार महंत के लगान की रकम दे सकने के योग्य नहीं रह गये हैं।[2] स्वामी आत्मानन्द और अमरकान्त के उद्योग से किसान अपने अधिकारों की पहचान करने लगे थे।[3] इस जन–जागरण के कारण कारकुनो–कारिन्दों के लिए अब स्थिति दिन प्रतिदिन विषम होती जा रही थी। मनमाने ढंग से वे किसानों पर अब सख्ती नहीं कर पाते थे। इन सारी बातों को महंत जी समझते थे और इसलिए किसानों की प्रार्थना पर यह मान लेते हैं कि उनके असामी कारिन्दों के हाथों सताये नहीं जायेंगे। लेकिन महंत जी ने जो कुछ नया वादा किया था उसके पीछे कोई सच्चाई नहीं थी। यह इससे स्पष्ट है कि जब महंत जी ने चालू–लगान में सरकारी फैसले के आने तक **4** आने की रूपये की दर से छूट देने की घोषणा की तो उनके करिन्दों ने बकाया लगान की वसूली, जिस पर कोई छूट नहीं थी, के लिए जबरदस्ती करना शुरू किया। प्रश्न चालू अथवा बकाया लगान का नहीं था। प्रश्न था कि किसानों की आर्थिक स्थिति ऐसी गिर गयी थी कि वे लगान की कोई भी रकम दे सकने की स्थिति में ही नहीं थे। महंत जी के दरबार में किसानों की इस असमर्थता का अनुभव नहीं किया गया और न वैसी कोई नीयत ही थी। ऐसी स्थिति में अमरकान्त के आगे एक ही उपाय शेष बचता है–लगान–बन्दी।

महंत जी की जमींदारी में होने वाले इस लगान–बन्दी–आन्दोलन के नेता अमरकान्त को सरकार गिरफ्तार कर लेती है। शासनाधिकारी सलीम उसे अपनी गाड़ी पर बैठा कर जब चल पड़ता है तब जनता के बीच प्रतिक्रिया–स्वरूप उत्तेजना फैलती है। अमरकान्त भीड़ को पीछे हटने का आदेश देता है और यह बताता है कि वैसी उत्तेजना से अमरकान्त का आन्दोलन विफल होगा।

अमरकान्त का यह आन्दोलन गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय–मुक्ति–आन्दोलन, अर्थात सविनय–अवज्ञा–आन्दोलन का प्रतिरूप है। अमरकान्त भी गांधी जी के ही समान कहता है–"यह हमारा धर्म युद्ध है और हमारी जीत हमारे त्याग,

---

[1] वही पृ० 387
[2] कर्मभूमि, पृ० 287
[3] कर्मभूमि, पृ० 288

हमारे बलिदान और हमारे सत्य पर है।" गांधी जी भी राष्ट्रीय–मुक्ति–आन्दोलन को धर्म–युद्ध ही तो मानते थे।

अमरकान्त की गिरफ्तारी के बाद सरकार की ओर से मि० घोष ने बड़े जोर के साथ दमन कार्य आरम्भ किया। सलीम ने किसानों की दुरवस्था के सम्बन्ध में सरकार के पास भेजे जाने वाले अपने प्रतिवेदन में किसानों की हिमायत की थी। यह हिमातयत उसके लिए भारी पड़ी। उसके कारण उसका स्थानान्तरण कर दिया गया। ब्रिटिश शासन भारतीय अधिकारियों से इस बात की अपेक्षा नहीं रखता था कि वे उसे जनता की दुःख गाथा का सच्चा वृतान्त सुनायें।

किसानों का यह आन्दोलन अपने लक्ष्य की पूर्ति की दृष्टि से पूर्ण सफल नहीं हो सका। सरकार ने किसानों की समस्या के समाधान के लिए सात व्यक्तियों की कमेटी बनाने का निश्चय किया। इस आन्दोलन की इतनी ही सफलता कही जा सकती है कि सरकार परम निरपेक्ष स्थिति में आकर जमींदार को अत्याचार करने के लिए खुला सांड़ नहीं बनाये रख सकी। उसे कुछ करना पड़ा। इस विषय पर विचार करने के लिए जिस कमिटी की स्थापना की घोषणा की गयी उसमें किसानों के प्रतिनिधियों को भी रखने से यही स्पष्ट होता है कि सरकार इस किसान आन्दोलन की नितान्त उपेक्षा न कर सकी।

'कर्मभूमि' में उपस्थित होने वाले ये तीन आन्दोलन या तो अछूत समस्या जैसी साम्प्रदायिक, धार्मिक समस्या, अथवा दीनहीन जनों के बसाने की समस्या अर्थात् विपन्नवर्ग के लिए यत्किंचित् सुविधा की उपलब्धि किंवा महंगाई और लगान के बोझ से दबे हुए किसानों की न्यायोचित मांग से सम्बद्ध हैं। इनमें कोई भी आन्दोलन ऐसा नहीं है जिसका सम्बन्ध विदेशी सरकार से हो। 'कर्मभूमि' के रचना–काल में महात्मा गांधी के निर्देशन में सविनय–अवज्ञा–आन्दोलन अपने पूरे बल के साथ विदेशी शासन का अन्त करने के लिए चल रहा था।

'कर्मभूमि' में अछूतों के मंदिर–प्रवेश के प्रश्न को लेकर जो इतना बृहत संघर्ष दिखाया गया है वह प्रश्न सामाजिक अथवा साम्प्रदायिक प्रश्न हो सकता है। प्रेमचन्द ने अछूतों की समस्या को अपने एकाधिक उपन्यासों प्रस्तुत किया भी है और वैसा करते समय उसे एक सामाजिक या साम्प्रदायिक समस्या के रूप में ही उन्होंने ग्रहण किया है। किन्तु, 'कर्मभूमि' में अछूत समस्या का सामाजिक पक्ष प्रेमचन्द का ध्यान खींच कर नहीं बैठा है। 'कर्मभूमि' के रचना–काल में परिस्थिति की विडम्बना के वश इस प्रश्न का एक राजनैतिक

पहलू भी हो गया था। 'कर्मभूमि' के लेखक के सामने अछूत समस्या का यह राजनीतिक पहलू ही प्रेरक हो गया है। अंग्रेजो ने जब यह देखा कि भारत में स्वशासन की मांग बहुत सशक्त और प्रबल रूप में खड़ी हो गयी है और अब उसकी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती तब उन्होंने शासन–सुधार के प्रश्न पर विचार करने के लिए गोलमेज परिषद् का आयोजन किया। लेकिन ईमान की बात तो यही है कि अंग्रेज भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण स्वशासन की स्थापना करना दिल से नहीं चाहते थे। इसलिए पहले तो उन्होंने हिन्दुओं के सामने मुसलमानों का सवाल रखवाया और बाद में डा० भीमराव अम्बेडकर जैसे अपने शतरंज के मोहरे को अछूतों के नेता के रूप में खड़ा किया। अब अम्बेडकर ने अछूतों को हिन्दुओं से सर्वथा स्वतंत्र घोषित कर उनके राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा का प्रश्न खड़ा किया।

गांधी जी इस बात को सह नहीं पाये कि जनगणना की विवरण–पुस्तिका में अछूतों को एक पृथक् जाति के रूप में उल्लिखित किया जाय। उन्होंने कहा–'सिख सदैव के लिए सिख, मुसलमान हमेशा के लिए मुसलमान और अंग्रेज सदा के लिए अंग्रेज रह सकते है किन्तु क्या अछूत भी सदैव के लिए अछूत रहेंगे ? अस्पृश्यता जीवित रहे इसकी अपेक्षा मैं यह अधिक अच्छा समझूँगा कि हिन्दू–धर्म डूब जाय।' गांधी जी तो इस बात के लिए भी तैयार थे कि अछूत मुसलमान अथवा ईसाई हो जायें लेकिन वे यह नहीं सह पाते थे कि प्रत्येक हिन्दू बस्ती में हिन्दुओं के दो भाग हो जायें। डा० अम्बेडकर को अछूतों का नेता स्वीकार करने से भी उन्होंने इन्कार किया। उन्होंने बताया कि जो अछूतों को हिन्दुओं से भिन्न एक स्वतंत्र जाति मानने का प्रस्ताव करते हैं वे भारत को ही नहीं पहचानते और इतना भी नहीं जानते कि हिन्दू–समाज बना कैसे है। गांधी जी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ यह भी दावा किया कि वे स्वयं अछूतों के विशाल समुदाय के प्रतिनिधि हैं।

गांधी जी और उनके अनुयायी उन सारे कारणों का अन्त करना चाहते थे जिनसे सवर्ण हिन्दुओं और अवर्ण हिन्दुओं अर्थात् अछूतों के बीच भेद–सृष्टि खड़ी होती है।

'कर्मभूमि' में डा० शान्तिकुमार एक ऐसा ही व्यक्ति है जो यह मानता है कि भगवान की दृष्टि में न कोई छोटा है न कोई बड़ा, न कोई शुद्ध है और न कोई अशुद्ध, न कोई सवर्ण, न कोई अवर्ण। शान्तिकुमार अछूतों को यह समझाता है कि वे ईश्वर के घर से गुलामी करने का बीड़ा लेकर नहीं आये हैं। यह समाज की विडम्बना है कि जो समाज की बुनियाद हैं उन्हें अछूत समझा जाता है और उनको मंदिरों में जाने नहीं दिया जाता। ऐसी अनीति भारत जैसे अभागे देश में ही चल सकती है। प्रश्न है, क्या अछूत अपनी गर्हित

जिन्दगी का संतोष करके अनाचार सहते जायेंगे ? नहीं, ऐसा नहीं करना है। इसी से शान्तिकुमार उनमें उत्साह पैदा करता है और अपने न्यायोचित अधिकार पर उनको दृढ़ता के साथ खड़ा रहने की प्रेरणा देता है।

गांधी जी ने अछूत समस्या की राजनीति का पूरे बल के साथ विरोध तो किया लेकिन वह यह तो समझ ही रहे थे कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म और जाति के लिए घोर कलंक है।

इस कलंक का प्रक्षालन इसलिए भी आवश्यक है कि जो शक्तिशाली साम्राज्यवादी नीति, हमारी दुर्बलताओं का लाभ उठाना चाहती है उसे एक अच्छा अवसर मिल जाता है। गांधी जी ने प्रश्न के इस पहलू को भी पहचाना था। अस्तु, सन् 1930 में अपनी गिरफ्तारी के समय जनता के नाम अपना अन्तिम संदेश देते हुए उन्होंने यह आदेश दिया था कि—हिन्दू किसी को अछूत न मानें। गांधी जी ने सन् 1932 अखिल भारतीय 'हरिजन—सेवक—संघ' नामक एक ऐसी संस्था का जन्म दिया जिसे अछूतों की दशा के सुधार के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्न करना था। यह संस्था कांग्रेस संगठन से स्वतंत्र रह कर अछूतों के सम्बन्ध में गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा कारने का उद्योग करती थी। इससे भी स्पष्ट है कि गांधी जी अछूत समस्या को राजनीति से बाहर निकालने के प्रयासी थे।

इस प्रकार 'कर्मभूमि' की रचना की कालावधि में एक ओर तो अछूतों की, हिन्दुओं से सर्वथा भिन्न जाति के रूप में परिगणना का विरोध किया गया, और दूसरी ओर अछूतों के उत्थान का भी प्रयत्न हुआ।

'कर्मभूमि' में इन दोनों आयोजनों के स्पष्ट चित्र मिलते हैं। डा० शान्तिकुमार अछूतों को उन अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है जो हिन्दू होने के नाते उनका सहज प्राप्य थे और इस विषय की प्रतिरोधिनी शक्तियों से सघर्ष करके अन्ततः अछूतों के न्यायोचित प्राप्यं की प्राप्ति भी कराता है। दूसरी ओर अमरकान्त है जो रैदासों की गन्दी बस्ती में ही आकर टिक जाता है। अछूतों के बीच पहुँचने वाला यह अमरकान्त जात—पॉत नहीं मानता। उनके बीच बिल्कुल उनके जैसे रहकर उनके हृदय में अपने प्रति विश्वास—भाव पैदा तो करता ही है साथ ही उनको यह भी अनुभव कराता है कि वे उसके जैसे सवर्ण से भिन्न नहीं हैं। उनकी हीन स्थिति से उनको ऊपर उठाने के हेतु वह उनको स्वच्छता का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें रोज नहाने के लिए प्रेरित करता है, उनके बीच शिक्षा का प्रचार करता

है और उनसे अनुरोध करता है कि वे मरे हुए पशुओं का मांस न खायें और मदिरा पीना छोड़ दें। अमरकान्त का ध्यान अछूतों के उत्थान की ओर है। इसी से वह उन कारणों को मिटाना चाहता है जिनके कारण अछूत हीन समझे जाते हैं।

'कर्मभूमि' में दूसरा आन्दोलन गरीबों को सस्ते मकान बनाकर देने की रेणुका देवी के ट्रस्टी डा० शान्तिकुमार और रेणुका देवी की पुत्री सुखदा की प्रगतिशील योजना के प्रति स्वार्थ के वात्याचक्र में पड़े हुए म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्यों की उदासीनता का परिणाम है।

यह आन्दोलन भी ऐसा कुछ नही हैं जिसके चलाने से देश की आशा–आकांक्षा के प्रति शत्रु–भाव रखने वाली अंग्रेज सरकार की कोई प्रत्यक्ष हानि है। फिर भी इस आन्दोलन की ओर ध्यान दो कारणों से जाता है।

पहली बात तो यह है कि प्रेमचन्द यह अनुभव करते थे कि देश के विपिन्न वर्ग की समस्याओं के प्रति निरपेक्ष रहना न तो उचित है और न अब उससे काम चलने वाला है। गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसक राष्ट्रीय–आन्दोलन चल रहा था। उसकी सफलता के लिए जनशक्ति की अपेक्षा थी। राष्ट्रीय कांग्रेस को अपेक्षित जनबल तभी मिल सकता था जब वह गरीबों की समस्याओं के सुधार का कोई प्रभावशाली कार्य–क्रम ग्रहण करती। गांधी जी ने कुछ समझबूझ कर ही तो नमक–आन्दोलन छेड़ा था। 'कर्मभूमि' का यह संघर्ष एक ओर गरीबों की सहायता के क्रम में है और दूसरी ओर इस बात की सूचना देता है कि राष्ट्रीय कांग्रेस भारत की कोटि–कोटि दैन्य–जर्जर जनता का प्रतिनिधित्व करने लगी है।

'कर्मभूमि' में महन्त के असामियों ने जो लगानबन्दी का आन्दोलन चलाया है उसके साथ भी सरकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो नहीं ही है। किन्तु उसमें सरकार कहीं न कहीं आ ही जाती है। किसानों की मांग है कि भयानक मंदी को देखते हुए लगान में छूट दी जाय। महन्त ने अमरकान्त को बताया था कि सरकार जितनी मालगुजारी छोड़ देगी वह भी किसानों को उतनी ही लगान छोड़ देगा। उसके कहने का मतलब है कि असामियों को उतनी ही छूट जमींदार की ओर से मिलेगी जितनी स्वयं जमींदार को सरकार की ओर से मिलती है। महन्त की यह बात ऐसे दीखती तो वाजिब है लेकिन यह संभव कैसे है कि अरबों कर्ज का भार ढोने वाली सरकार महन्त को जिसके करोड़ों रूपये बैंक में जमा हैं मालगुजारी में छूट दे दे। महन्त जानता है सरकार यह छूट नहीं देगी और उसे भी कुछ करना–धरना नहीं पड़ेगा।

महन्त के समर्थन में, उसकी रक्षा में सरकार को इसलिए भी पहुँचना था कि देश में जमींदारों का ही तो एक वर्ग था जिसका पूर्ण समर्थन उसे प्राप्त था। प्रेमचन्द का युग जमींदारों के इस राष्ट्रविरोधी वर्ग को विविध प्रकार से समझाता था कि उसे अपनी प्रजा से भिन्न होकर विदेशी सरकार का साथ नहीं देना चाहिए। सरकार और तो और अपने प्रबलतम समर्थक जमींदारों के वर्ग के प्रति भी ईमानदार नहीं है। उसकी नजर में जमींदार के लिए तभी तक स्थान है जब तक उसे यह दीखता रहे कि अपने असामियों पर जमींदार का दबदबा है। जिस दिन सरकार को यह विदित हो जायगा कि जमींदारों के निकाले जाने पर कोई एक बूँद आँसू बहाने वाला नहीं होगा उसी दिन जमींदारो का अन्त हो जायगा। इस प्रकार जनता की नजर में गिरने का सीधा मतलब जमींदार के लिए होता है उसकी नजर से गिरना जिसके बल पर वह कूदा करता है। लेकिन स्वार्थान्ध जमींदारों पर इन बातों का कोई असर नहीं होता।

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में जमींदारों से यह उम्मीद की थी कि वे ट्रस्टी (संरक्षक) की भूमिका निबाहेंगे और देश में जमींदारों और किसानों के बीच वर्ग–संघर्ष न आने देंगे। लेकिन प्रेमचन्द की यह आशा कल्पना–विलास सिद्ध हुई।

इधर राष्ट्रीय कांग्रेस दिनानुदिन जन–संस्था बनकर किसानों के अतिनिकट आती गयी। सन् **1929** के महाधिवेशन के अवसर पर कांग्रेस ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया था–

चूँकि कांग्रेस को गरीब जनता की प्रतिनिधि बनना है और दिसम्बर के अन्त में अधिवेशन होने से गरीबों को कपड़े के लिए खर्च करना और दूसरा भी कष्ट उठाना पड़ता है, इसलिए यह निश्चय किया जाता है कि अधिवेशन की तारीखें बदल कर फरवरी या मार्च में ऐसे समय रखी जायँ जो कार्यसमिति सम्बद्ध प्रान्तीय समिति की सलाह से मुकर्रर करे।

इस प्रकार कांग्रेस भावना और कर्तव्य दोनों से यही सिद्ध कर रही थी कि स्वराज्य का आन्दोलन गरीबों को आन्दोलन है। राष्ट्र का सबसे बड़ा यह वर्ग अन्याय–पीड़ित था और स्वभावतः भारत की कोटि–कोटि जनता की आशा–आकांक्षा को वाणी देने का दावा करने वाली कांग्रेस चुप नहीं बैठी रह सकती थी। गांधी जी ने लार्ड इरविन के पास संधि के लिए सन् **1930** में जो ग्यारह सूत्री प्रस्ताव भेजा था उसमें भी यह माँग की गयी थी कि जमीन का लगान आधा कर दिया जाय। लार्ड इरविन के नाम ता० **2** अप्रैल **1930** के अपने पत्र में गांधी जी ने लिखा था–सरकारी आय का मुख्य भाग जमीन की आय है।

इसका बोझ इतना भारी है कि स्वाधीन भारत को इसमें काफी कमी करनी पड़ेगी। स्थायी बन्दोबस्ती अच्छी चीज है, परन्तु इसमें भी मुट्ठी भर अमीर जमींदारों को ही लाभ है, गरीब किसानों को कोई लाभ नहीं। ये तो सदा से बेबसी में रहे है। उन्हें जब चाहें बेदखल किया जा सकता है। भूमिकर को ही घटा देने से ही काम नहीं चलेगा। सारी कर–व्यवस्था ही फिर से इस प्रकार बदलनी पड़ेगी कि रैयत की भलाई ही उसका मुख्य हेतु रहे।

12 अप्रैल **1930** को सविनय–अवज्ञा–आन्दोलन की दिशा का निर्देश करते हुए कांग्रेस कार्यसमिति ने जो प्रस्ताव पास किया था उसमें भी लगानबन्दी आन्दोलन खड़ा करने के लिए आवाहन किया गया था।

'कर्मभूमि' में किसान–संघर्ष के दो नेता थे। एक था अमरकान्त जो गांधी जी और काग्रेस की तरह शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक संघर्ष चलाने का पक्षपाती था। वह संघर्ष में कूदने के पहले महन्त के पास जाकर असामियों की करूण–दशा का वृत्तान्त सुनाता है और उम्मीद करता है कि वह अपनी प्रजा के घोर कष्ट का अनुभव करके ऐसा कुछ करेगा जिससे उनका उपकार हो और संघर्ष की नौबत न आवे। महन्त से उसकी भेंट बड़ी मुश्किल से ही सही लेकिन हो जाती है। किन्तु, वास्तविक लाभ कुछ होता नहीं है। इजाफा लगान में छूट मिलती भी है तो बकाया लगान की वसूली को लेकर सख्ती होती है।

अब अमरकान्त को विदित हो गया कि लगान बन्दी के प्रत्यक्ष संघर्ष के बिना कुछ होने से रहा। किसानों का दूसरा नेता है स्वामी आत्मानन्द जो उस उग्र प्रकृति का है। वह चाहता है कि किसान महन्त का मकान और ठाकुरद्वारा घेर लें और जब तक वह लगान बिल्कुल न छोड़ दे, कोई उत्सव न होने दें। यह तो अमर की हिम्मत है कि उसने आत्मानन्द की उग्र नीति का विरोध किया और बताया कि यह रास्ता उद्धार का नहीं, सर्वनाश का रास्ता है। परिणामस्वरूप किसानों की ओर से कोई ऊधम नहीं हुआ।

इधर सरकार यह सोचती थी कि शासन में कुछ न कुछ खौफ और रोब का होना जरूरी है। किसानों को यदि ऐसे आसार मिल जायें कि लगान की आधी रकम देने से आज काम चल सकता है तो वे कल एक चौथाई रकम ही देना चाहेंगे और परसों पूरी लगान की माफी के लिए आन्दोलन खड़ा करेंगे। उसके आगे किसानों की समस्या बिल्कुल भिन्न स्थिति में खड़ी है– वह किसानों के बीच उत्पन्न इस जागरण को सह नहीं पाती और पूरे बल के साथ दमन करती है। किसान भी जुल्म के सामने झुकने से मर मिटना अधिक अच्छा समझते हैं और लड़ाई ठन जाती है।

आत्मानन्द की उग्र नीति को अमरकान्त ने किसी तरह रोक लिया था लेकिन उसके गिरफ्तार होने के बाद किसानों में उग्रता फैलती है। सरकार ने अपने अधिकरी सलीम को सिर्फ इसलिए अपमानित किया कि वह किसानों की दुर्दशा से प्रभावित है और उसने सरकार के नाम अपने प्रतिवेदन में सच्ची-सच्ची बातें लिखी थीं। लेकिन् सरकार को सच्ची बात सुनने का धैर्य कहाँ था ? यही सलीम सरकार-विरोधी हो जाता है और इसके नेतृत्व में जो संघर्ष होता है वह सरकारी दमन के आगे ईंट का जबाब पत्थर भी हो जाता है।

राष्ट्रीय अहिंसक आन्दोलन का इतिहास यह बताता है कि कांग्रेस आवाहन तो करती थी अहिंसात्मक, शांतिपूर्ण संघर्ष का लेकिन संघर्ष कालान्तर में हिंसा पर उतर आता था और वह शान्तिपूर्ण न रह कर उग्र हो उठता था। सरकार कांग्रेस के ऊपर इस हिंसा का उत्तरदायित्व डाल कर दमन के लिए स्वतंत्र हो जाती थी। प्रेमचन्द ने सरकार की इस नीति का भी पर्दाफाश 'कर्मभूमि' में किया है। उन्होंने दिखाया हैं कि अमरकान्त के नेतृत्व में चलने वाला आन्दोलन अहिंसक और शान्तिपूर्ण रहता है। अपने प्रिय नेता अमरकान्त की गिरफ्तारी के समय किसानों में उत्तेजना फैलती है और वे उसे गिरफ्तार होने देना नहीं चाहते। किन्तु, अमरकान्त उनको शान्त करता है और सहज भाव से गिरफ्तार हो जाता है। अमरकान्त की गिरफ्तारी के बाद जो कुछ होता है उसका उत्तरदायित्व उस पर नहीं हो सकता। प्रेमचन्द कहना चाहते हैं कि कांग्रेस को जेल में डाल कर जनता को नेता-विहीन बनाने वाली सरकार ही आन्दोलन हिंसात्मक बनाती है, न कि जेल में पड़ी हुई कांग्रेस।

'कर्मभूमि' के सलीम का जन-आन्दोलन के नेता के रूप में अवतरण कई दष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक ओर वह इस बात से आश्वस्त है कि भारत के शिक्षित समाज की आत्मा सरकारी नौकरी में जाकर सर्वथा कलुषित नहीं हो जाती और स्वाभिमान पर जब धक्का लगेगा वह विद्रोह कर उठेगा।

सलीम एक मुसलमान है। अंग्रेज सरकार मुसलमानों को राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से उदासीन बनाये रखने के लिये अपने जानते पूरा प्रयत्न करती थी। किन्तु सलीम, सकीना और पठानिन का आन्दोलन में कूद पड़ना इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रीय-मुक्ति-आन्दोलन साम्प्रदायिकता की क्षुद्रता से बाधित नहीं हो सका। तेग मुहम्मद किसानों के कुर्क किये हुए जानवरों को जब ले जाने आता है सलीम उसे इस्लाम के पवित्र उपदेश का स्मरण कराता है और उससे आग्रह करता है कि वह मजहब की गरदन पर छुरी

में दिये गये तर्क भी कम पुरअसर नहीं है। इस सम्बन्ध में सलीम का निम्नलिखित कथन ध्यातव्य है–

''लगान हम दे नहीं सकते। वह लोग कहते हैं, हम लेकर छोड़ेगें। क्यों अपना सब कुछ कुर्क हो जाने दें? अगर हम कुछ कहते हैं तो हमारे ऊपर गोलियां चलती हैं। नहीं बोलते तो तबाह हो जाते हैं। फिर दूसरा कौन सा रास्ता है? हम जितना ही दबते जाते हैं, उतना वह शेर होते हैं। मरने वाला बेकार दिलों में रहम पैदा कर सकता है, लेकिन मारने वाला खौफ पैदा कर सकता है, जो रहम से कहीं ज्यादा असर डालने वाली चीज है।''[1]

प्रेमचन्द समस्या के इस पहलू को इसलिए जोरदार ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि वे हिंसा के लिए स्वयं सरकार को उत्तरदायी मानते हें। एक राष्ट्र की आत्मा को कुचलना भी तो एक प्रकार की हिंसा है और फिर हिंसा के लिए उत्तेजना भी तो वही देती है। इस हिंसा को जो रोक सकता है उसे सरकार कैदखाने में सीखचों में भर कर बन्द रखती है। ऐसी स्थिति में हिंसा के लिए दूसरे को दोषी बनाने का उसे हक नहीं हो सकता।

'कर्मभूमि' में मुन्नी पर होने वाले गोरों के अनाचार का वृत्तान्त भी कितना उत्तेजक है! प्रेमचन्द ने जून सन् १६३१ में लिखा था– भारत में तो गोरे सोल्जरों का यह हाल है कि जिस इलाके में इनका पड़ाव पड़ जाता है वहाँ स्त्रियों का राह चलना बन्द हो जाता है।[2] एक शासित देश को दुर्भाग्य की जो–जो पीडाएँ भोगनी पड़ती है, अंग्रेजों के शासन काल में भारतीय जनता को भोगनी पड़ीं। ऐसे में प्रजा का यदि कोई धर्म हो सकता है तो वह है – राजद्रोह। अंग्रेजों के भाग्य से भारतीय राजनीति का नियन्त्रण करने के लिए महात्मा गांधी खड़े हो गये जिन्होंने अहिंसा का मंत्र देश को देकर उग्र राजनीति को सशक्त नहीं होने दिया। अन्यथा इस देश में भी अंग्रेजों को नाकों चने चबाने पड़ते।

असहयोग – आन्दोलन के समय सरकारी शिक्षण संस्थाओं से असहयोग करके विद्यार्थी राष्ट्रयज्ञ में भाग लेने के लिए आये थे। उस युग में ऐसा अनुभव किया गया था कि उन संस्थाओं में जिस तरह की शिक्षा दी जाती है उससे जीवन की शिक्षा नहीं मिलती, आत्मा जागरित नहीं होती।[3] इनसे जो छात्र निकलते हैं वे पैसों पर जान देने वाले, पैसे के लिए गरीबों का गला काटने वाले, पैसे के लिए अपनी आत्मा को बेचने वाले होते हैं।[4]

---

[1] कर्मभूमि – पृ० 372
[2] विविध प्रसग– २, पृ० 77
[3] कर्मभूमि – पृ० 104
[4] वही पृ० 5

देश के सामने अपने अतीत के गुरुओं का गौरवपूर्ण इतिहास था जिससे उसे ज्ञात होता था कि हमारे वे शिक्षक झोपड़ों में स्वार्थ और लोभ से सर्वथा स्वतंत्र रह कर रहते थे। वे सात्विक जीवन के जीवित आदर्श और निष्काम सेवा के उपासक थे। वे राष्ट्र से कम से कम लेकर अधिक से अधिक देते थे। उनसे सर्वथा भिन्न आदर्श था इस युग के अध्यापकों का। वे स्वयं अन्धकार में पड़े थे, अपने मनोविकारों के कैदी थे, अपनी इच्छाओं के दास थे। उनकी दशा यह थी कि जिसके पास जितनी बड़ी डिग्री थी उसका स्वार्थ भी उतना ही बढा हुआ था। उनको रहने के लिए बंगले चाहिए थे, मोटर की सवारी चाहिए थी, नौकरों की पूरी पलटन होनी चाहिए थी। ऐसे शिक्षक शिक्षार्थी को डिग्री दे सकते थे, ज्ञान नहीं।[1] इस तरह 'कर्मभूमि' युगीन यथार्थ के चित्रण और सीधे साक्षात्कार का दृष्टि से महत्वपूर्ण उपन्यास है।

'गोदान' प्रेमचन्द का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास ही नहीं, हिन्दी उपन्यास की वयस्कता का प्रतीक भी है। इसके साथ ही प्रेमचन्द न केवल अपनी रचना–यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचते हैं बल्कि हिन्दी उपन्यास साहित्य को एक ऐसे शिखर पर भी ले जाते हैं जहाँ से आगे बढ़ना परवर्ती रचनाकार के लिए बहुत कठिन सिद्ध होता रहा है। गोदान का कथ्य क्या है? यह प्रश्न इसके प्रकाशन काल से ही विवाद का विषय रहा है। इसे 'भारतीय जीवन का महाकाव्य', 'किसान जीवन का महाकाव्य' बताकर इसे भारतीय राष्ट्र का प्रतिनिधि उपन्यास और कृषक जीवन को उसकी समग्रता में अंकित करने वाला उपन्यास ठहराने का प्रयास किया जाता रहा है। इसकी मूल समस्या कभी ऋण की समस्या को ठहराया गया है[2] और कभी 'कृषक संस्कृति के ध्वंस' को यह स्थान दिया गया है।[3] इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'गोदान' में ऋण की समस्या को विस्तार से अंकित किया गया है और इसके अधिकांश पात्र किसी–न–किसी अवसर पर ऋणदाता या ऋणी के रूप में अंकित हुए हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि स्वयं प्रेमचन्द भी इसके प्रणयन–काल में इस समस्या से जूझ रहे थे।[4] परन्तु समग्रता से विचार करने पर इसे कृषक संस्कृति के ध्वंस की कहानी मानना अधिक तर्कसंगत लगता है। प्रेमचन्द अपने 'महाजनी सभ्यता' लेख में पूँजीवादी सभ्यता के

---

[1] वही – पृ० 104
[2] प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 125
[3] प्रेमचन्द के उपन्यासों का शिलप–विधान, पृ० 485
[4] हस, मई, 1939

मानवता – विरोधी रूप का विवेचन करके अपने अन्तर्मन में पूँजीवादी समाज व्यवस्था के प्रति विद्यमान वितृष्णा को व्यक्त करते हैं।

इसके अतिरिक्त अपनी पूर्व कृतियों में वे किसान के उस निरन्तर संघर्ष को भी दिखाते हैं जो कि किसान के रूप में बने रहने के लिए उसके द्वारा किया जा रहा हे। 'किसान' के रूप में उसे जो 'मरजाद' दीखती है, वह मजदूर बन जाने में नहीं। पर अपनी कहानी 'पूस की रात' और उपन्यास 'गोदान' दोनों के माध्यम से प्रेमचन्द यह स्वीकार करते दीखते हैं कि इस महाजनी युग में किसान के लिए अपने अस्तित्व को बनाए रखना असम्भव सा हो गया है। गोदान का होरी समूची जिन्दगी जूझता है लेकिन अन्त में मजदूर बन जाता है। इसके लिए वह कौन सा कष्ट नहीं झेलता, कौन सा अपमान नहीं सहता। उसे तो इस कारण अपनी बेटी तक बेच देनी पड़ती है। रामसेवक जैसे अधेड़ से अपनी बेटी रूपा के बदले दो–सौ रुपये पाकर होरी की जो दशा होती है, उसे प्रेमचन्द इस तरह उकेरते हैं– 'उसका हाथ कॉप रहा था। सिर ऊपर न उठा सका.... एक शब्द न निकला, जैसे अपमान के अथाह गढ़े में गिर पड़ा है.....। आज वह परास्त हुआ है – मानो नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, मुँह पर थूक देता है। चिल्ला–चिल्लाकर कह रहा है, भाइयों, मैं दया का पात्र हूँ, मैने नहीं जाना जेठ की लू कैसी होती है और माघ की वर्षा कैसी होती है....... उस पर यह अपमान! और वह अब भी जीता है, कायर, लोभी, अधम।' (गोदान, पृ० 359) तीस साल के दुर्धर्ष और निरन्तर संघर्ष के बाद परास्त होरी की दशा का यह चित्र त्रासद भाव को गहराता है और देश में व्याप्त पराजय बोध को उकेरता है। 'पूस की रात' कहानी का हल्कू भी यही महसूस करता है कि खेती को बचाने के लिये किया गया उसका सारा प्रयास अर्थहीन है क्योंकि इसके द्वारा अपने परिवार के भरण–पोषण के लिए तो उसे कुछ मिलता ही नहीं, लगान चुकाने के लिए मजदूरी फ़ालतू में करनी पड़ती है। इस प्रकार इन दोनों रचनाओं के माध्यम से प्रेमचन्द ने किसान को इस निष्कर्ष पर पहुँचाया है कि 'जिस पेट के लिए रोटी ही मयस्सर नही, उसके लिए मरजाद और इज्जत सब ढोंग है।

'गोदान' के होरी की विवशताओं का लाभ उठाने वालों में नये ढंग के जमींदार रायसाहब भी हैं जो कि अपनी आसामियों के शोषण के लिए जहर की अपेक्षा गुड़ का प्रयोग अधिक कारगर मानते हैं और जिनकी जमींदारी में वे सब दोष आ गए हैं जो अनुपस्थित जमींदार की रियासत में आमतौर पर आ जाया करते हैं। रायसाहब जैसे जमींदार किसान के

शोषण की भित्ति पर आश्रित अपनी विलासचर्या में डूबे रहते हैं। वे गरजने – गुर्राने की अपेक्षा मीठी बोली बोल कर शिकार खेलते हैं और अपने ऐशो–आराम के साधन जुटाते हैं। इससे वे होरी जैसे किसानों के मन में अपने प्रति सहानुभूति का भाव भी जाग्रत करने में सफल रहते हैं – 'सच पूछो तो वह हम से भी ज्यादा दुखी हैं। हमें अपने पेट ही की चिन्ता है, उन्हें हजारों चिन्ताएँ घेरे रहती हैं।' (गोदान) पर उनका दुःख नई पीढ़ी की दृष्टि से धूर्तता और 'मोटमर्दी' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। गोबर के ये शब्द 'जिसे दुख होता है वह दर्जनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा, पूरी नहीं खाता और न नाच–रंग में लिप्त रहता है'– सत्यांश लिए हुए है। पर अपने शोषक व्यक्तित्व के बावजूद व्यक्ति के रूप में रायसाहब दुःखी हैं और शहर के महाजनों की धूर्तताओं का मुकाबला करने में असमर्थ हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं इस प्रकार पतनोन्मुख सामन्तवाद को हम उभरते हुए पूँजीवाद के सम्मुख बहुत लाचार पाते हैं। अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए उन्हें इस महाजनी सभ्यता के अनुरूप 'व्यवसाय को व्यवसाय' ही समझने वाले खन्ना के सम्मुख गिड़गिड़ाना पड़ता है।

इस प्रकार प्रेमचन्द कृषि सभ्यता के दोनों स्तम्भों के धराशायी होने की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं। वे दिखाते हैं कि उभरता हुआ पूँजीवाद औद्योगिकरण और नगरीकरण के माध्यम से प्रकट होता है। परिणामतः गॉव उजड़ रहे हैं और गाँव के लोग शहर में रोज़गार की तलाश में घूम रहे हैं। वैसे तो मिल में मज़दूरों की स्थिति भी अच्छी नहीं हैं। मेहता खन्ना से ठीक ही कहते हैं – आपके मज़दूर बिलों में रहते हैं। गन्दे बदबूदार बिलों में जहाँ आप एक मिनट भी रह जाएँ तो आपको कै हो जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा।'' लेकिन गॉव के समान यहाँ न धर्म और न बिरादरी के नाम पर व्यक्ति का शोषण होता है।

'महाजनी सभ्यता' के व्यापक प्रसार को प्रेमचन्द सभी वर्गों की अधिक धन प्राप्ति के लिए बेचैनी द्वारा भी अंकित करते हैं। फटेहाल लोगों के इस गाँव में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने दो–चार रुपये जमा हो जाने पर महाजनी न की हो। गाँव में अनेक महाजन हैं और उनकी चालाकी और धूर्तता के सामने किसान स्वयं को लाचार और बेबस पाता है। कठोर श्रम से पैदा की गई उपज महाजन द्वारा खेत में ही तुलवा ली जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि किसान कर्ज में ही पैदा होता है, जीवित रहता है और मर जाता है। महाजनी सभ्यता के घिनौने रूप को कुछ घटनाएं विशेषरूप से उजागर करती है। अपने भाई के लिए सब कुछ सहने और झेलने वाला होरी साझे के बाँसों के लिए मिली हुई

तुच्छ रकम में से उसी भाई का हिस्सा दबाने का प्रयत्न करता है। शहर में अपने आश्रयदाता मिर्जा खुर्शीद को गोबर कुछ रुपये देने से इनकार कर देता है जबकि कुछ ही देर बाद तांगे वाले को खुशी से रुपये दे देता है, क्योंकि जहाँ तांगे वाले से उसे ब्याज मिलेगा, वहाँ मिर्जा द्वारा मूल का लौटाया जाना भी निश्चित नहीं होता। खन्ना रायसाहब के सामने 'बिज़निस इज बिज़निस' का सिद्धान्त बघारतें हैं और उनसे कोई रू–रियायत करने को तैयार नहीं हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द दिखाते हैं कि पूँजीवादी सभ्यता में मानवीय सम्बन्ध अपना सही रूप खोकर विकृत हो उठते हैं। प्रेमचन्द का संकेत यह भी है और यही कृषि–संस्कृति के विनाश का मुख्य कारण है।

अपने प्रारम्भिक उपन्यास 'असरारे मआबिद' से ही प्रेमचन्द धर्म के विकृत रूप को उजागर करने लगे थे। गोदान में भी वे दिखाते हैं कि हमारा धर्म खान–पान छुआछूत पर ही आश्रित होकर रह गया है– 'हमारा धर्म है हमारा भोजन, भोजन पवित्र रहे धर्म पर आँच नहीं आ सकती।' इसके अलावा अपनी पूर्ववर्ती कृतियों में– विशेषतः 'कर्मभूमि' में – उन्होंने महंत और जमींदार के व्यक्तित्वों को एक ही व्यक्ति में समाविष्ट कर धर्म और सामन्तवाद के गँठजोड़ का संकेत कर दिया था। इसी संदर्भ में धर्म के प्रतिनिधि दातादीन का महाजन के रूप में उकेरा जाना निरुद्देश्य नहीं है। इसके माध्यम से प्रेमचन्द धर्म और महाजनी सभ्यता की ओर इंगित करना चाहते हैं। इसी कारण जहॉ झुनिया को अपनी स्त्री बनाने के लिए गोबर को अपने घर से भागना पड़ता है और उसके बाप होरी को बिरादरी को डाँड देना पड़ता है। वहाँ सिलिया के साथ शारीरिक सम्बन्धों के बावजूद मातादीन को कुछ कहने का साहस समाज को नहीं होता। इस प्रकार 'गोदान' के माध्यम से प्रेमचन्द कृषक–संस्कृति के विनाश का ही नहीं पूँजीवाद के निरन्तर बढ़ते हुए चरणों का भी संकेत करते हैं। किसान की दुरवस्था के उत्तरदायी कारणों में प्रेमचन्द किसान की अपनी रूढ़िवादिता, बिरादरी, धर्म और व्यवस्था के आतंक से अपनी भीरुता और 'एका का अभाव' (गोदान, पृ० 26) को गोदान में विशेष स्थान देते हैं इसीलिये वे इसमें कोई कृत्रिम समाधान नहीं सुझाते, उपचार नहीं बताते, रोग का निदान भर कर देते हैं।

इस संदर्भ में देखने पर 'गोदान' पर दुहरे–तिहरे कथानक का आरोप भी निराधार हो जाता है। यह स्पष्ट ही है कि गाँव छोड़कर शहर में जा बसने वाले रायसाहब और उनके शहरी मित्रों – खन्ना, तनखा, खुर्शीद आदि के बिना पूँजीवादी व्यवस्था की निरन्तर मजबूत होती हुई जकड़न और ढहती हुई ग्रामीण – व्यवस्था का चित्रण सम्भव नहीं था।

इसमें यदि किन्हीं प्रसंगों की सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगाया जा सकता है तो वे मालती–मेहता, गोविन्दी–खन्ना के प्रसंग ही हैं जिनके माध्यम से वे पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण के लिए तत्पर नारी और परम्परागत मूल्यों में जीती नारी – भारतीय नारी की इन दो परस्पर विरोधी स्थितियों को उकेरते हैं। 'गोदान' के अध्ययन के बाद, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि नारी से पूरी तरह सहानुभूति रखते हुए तथा स्थान–स्थान पर उसकी पक्षधरता करते हुए भी प्रेमचन्द एक सीमा से नारी को बढने देने के पक्ष में नहीं थे। 'असरारे मआविद' के पात्र 'दूसरा' के माध्यम से जो दृष्टिकोण प्रेमचन्द व्यक्त कर चुके थे उसे ही तनिक अधिक परिष्कृत ढंग से मेहता के माध्यम से 'गोदान' में प्रस्तुत करते हैं। गोदान का मेहता, जो प्रेमचन्द का प्रवक्ता माना जा सकता है, यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि स्त्री और पुरुष में समान शक्तियां और समान प्रवृत्तियां होती हैं।(गोदान, पृ० 163) वह स्त्री में सेवा, त्याग के गुणों को विशेष महत्व देता है और इसी के आधार पर प्राणियों के विकास में स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ बताता है (वही, पृ० 162)। उसकी दृष्टि में नारी केवल माता है और उसके उपरान्त जो कुछ है,वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है (वही, पृ० 202)। प्रेमचन्द का नारी– सम्बन्धी यह दृष्टिकोण परम्परागत ही है और युगीन विचारधारा के अनुरूप है।

'गोदान' में प्रेमचन्द न केवल स्त्री और पुरुष की समता की धारणा को अस्वीकार कर देते हैं, मनुष्य और मनुष्य की समता पर भी संदेह प्रकट करते दीखते हैं। इसलिए 'गोदान' को गांधीवादी आस्था के त्याग और मार्क्सवादी दृष्टिकोण के स्वीकार का उपन्यास ठहराते हुए मेहता के इन शब्दों को दृष्टि–ओझल करना उचित नहीं हैं –– 'संसार में छोटे–बड़े हमेशा रहेंगे और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव जाति के सर्वनाश का कारण होगा।'(वही, पृ० 59) यही नहीं रूसी समाज–व्यवस्था पर मेहता की एक अन्य टिप्पणी भी उल्लेखनीय है– आप रूस की मिसाल देंगे। यहाँ इसके सिवाय और क्या है कि मिल के मालिक ने राजकर्मचारी का रूप ले लिया है(वही, पृ० 59)।

इस प्रकार 'गोदान' में भी प्रेमचन्द की शंकाएं निर्मूल नहीं हो पाई थीं और न ही भावी समाज–व्यवस्था की तस्वीर ही उनके मन में साफ़ हो सकी थी। एक निष्कर्ष पर वे अवश्य पहुँच गए थे कि शोषित को 'अपना भाग्य खुद बनाना होगा। अपनी बुद्धि और साहस से इन आफ़तों पर विजय पानी होगी।'(वही, पृ० 358) अतएव इस सबके बावजूद 'गोदान' प्रेमचन्द के अधिक परिपक्व चिंतन का प्रतीक अवश्य है। इसके साथ ही वह उनके अधिक

प्रौढ़ एवं परिष्कृत शिल्प का उदाहरण भी है। शिकार, नौका–विहार और कबड्डी–मैच जैसे प्रायः निरर्थक प्रसंगों के बावजूद कथाप्रस्तुति की सिनेरियों पद्धति, यर्थाथवादी चरित्र परिकल्पना, जीवन–सन्निकट भाषा, दुरुह बिम्बाश्रयी शैली की अपेक्षा मुहावरों और लोकोक्तियों से समन्वित प्रभावशाली अभिव्यंजना प्रणाली, व्यंग्य की तिक्ष्णता तथा त्रासद अत की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस प्रकार होरी की ठंडी हथेली से किया गया गोदान भारतीय जीवन में सामन्त युग के अन्त और हिन्दी उपन्यास–यात्रा के एक सोपान के समापन का प्रतीक है।

'मंगलसूत्र' एक अधूरा उपन्यास है जिसमें पहली बार प्रेमचन्द एक साहित्यकार को प्रमुख पात्र के रूप में स्थापित करते दीखते हैं। इसमें प्रेमचन्द द्वारा निजी अनुभवों को संजोने का प्रयास लक्षित होता है। इसलिए कतिपय विद्वानों ने इसे 'आत्मकथात्मक उपन्यास' भी ठहराया है। दो पीढ़ियों के टकराव की भूमिका का उद्‌घाटन भी उपलब्ध पृष्ठों में दृष्टिगत होता है। अपनी पूर्ववर्ती कृतियों के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से 'गोदान' के प्रायः यथार्थवादी रूप तक की एक लम्बी यात्रा प्रेमचन्द तय कर चुके थे। 'मंगलसूत्र' के प्राप्त अंशों में इसके पूर्णतया यथार्थवादी कृति होने की संभावना भी उजागर होती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों के इस सर्वेक्षण के बाद प्रेमचन्द के कृतित्व के विषय में कुछ निष्कर्षों पर पहुँचना सरल हो जाता है।

प्रेमचन्द ने साहित्य–सर्जन के क्षेत्र में विशेष लक्ष्य से प्रवेश किया था। वे साहित्य को केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते थे। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं "साहित्य अब केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका कुछ और भी उद्देश्य है। वह विरह और मिलन के राग नहीं अलापता। वह अब जीवन की समस्याओं पर विचार करता है, उनकी आलोचना करता है और उनको सुलझाने की चेष्टा करता है। नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का कार्यक्षेत्र एक है, केवल उनके रचना–विधान में अंतर है (हंस, फरवरी 36)। इस प्रकार निश्चित रूप से एक सामाजिक उद्देश्य से वे लेखन–कार्य में प्रवृत्त हुए थे। उनके मानस में शोषण, अन्याय और अत्याचार से पीड़ित मानवता की जिन्दगी को बेहतर बनाने के लिए ललक थी। उनके मन में एक कुरेदन थी जो उन्हें यह सब लिखने के लिए विवश करती रहती थी। इसीलिए वे कहते हैं कि वे यह सब अपनी 'आत्मा की शान्ति के लिए लिखते हैं।' (प्रेमचन्द घर में, शिवरानी देवी, पृ० 172)

परिणामस्वरूप वे युगों–युगों से वंचित शोषित, दलित एवं मर्दित जनता के प्रवक्ता बनकर सामने आते हैं। उनके अनुसार "साहित्यकार मानवता का, प्रगति का, शराफत का वकील है। जो दलित है, पीड़ित है, जख्मी है, चाहे व्यक्ति हों या समाज उनकी वकालत और हिमायत उसका धर्म है। उसकी अदालत समाज है। इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तग़ासा पेश करता है।" (हंस, फरवरी 36) इस प्रकार प्रेमचन्द व्यक्ति और समाज दोनों को समुचित महत्व देते हैं पर वे व्यक्ति को अलग करके नहीं समाज की अभिन्न इकाई के रूप में ही स्वीकार करते हैं। इसीलिए उनके उपन्यासों में सभी वर्गों, पेशों और स्थितियों के पात्रों का चित्रण हुआ है और उनमें वैयक्तिक विशेषताएँ भी हैं लेकिन मूलतः वे एक ही महासागर के अंग– नदी, नाले और झरने दीखते हैं।

प्रेमचन्द ने समष्टि और व्यष्टि जीवन को विकृत बना देने वाले तत्वों में धर्म को विशेष रूप से उकेरा है। उन्होंने उसमें आ गई विकृतियों और बुराइयों का ही चित्रण नहीं किया, शोषण और अत्याचार के प्रमुख सहयोगी के रूप में भी उसे अंकित किया है। बिरादरी को भी प्रेमचन्द अन्याय के पोषणकर्ता की भूमिका ही अदा करते हुए दिखाते हैं। इस प्रकार आर्थिक व्यवस्था में सत्ताधारियों– जमींदारों और पूँजीपतियों के घिनौने और शोषक रूपों को ही सामने लाते हैं। उनकी सहानुभूति साफ तौर पर शोषित, दलित, वंचित और पीड़ित के साथ थी। वस्तुतः उनके मन में धन के प्रति शत्रुता का भाव था और वे यह मानते थे कि धनी होने के लिए बेईमानी करना अनिवार्य है और धन का आधिक्य कभी सुखी नहीं बना सकता। इस प्रकार धनियों को दुःखी और पीड़ित दिखाकर प्रेमचन्द उनसे प्रतिकार लेते हुए दिखाई देते हैं। अपने दृष्टिकोण को उन्होंने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे गये एक पत्र में इस प्रकार रखा था – "जो व्यक्ति धन–सम्पदा में विभोर और मगन हो, उसके महान् पुरुष होने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। जैसे ही किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमता की बातों का प्रभाव काफ़ूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है ' कि इस़ शख़्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को – उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा गरीबों के दोहन पर अवलम्बित है – स्वीकार कर लिया है।"[1] तत्कालीन शासन की वास्तविकता और शोषक रूप को वे पुलिस, न्याय–व्यवस्था आदि के चित्रण के माध्यम से उद्घाटित करते हैं। विदेशी शासन को वे अन्याय, अत्याचार, शोषण और दोहन का प्रमुख सहयोगी ही नहीं, स्रोत भी मानते थे और

[1] 3 जून 1930, हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, पृ० 21 पर उद्धृत

स्वराज्य के समर्थक थे। वे कहते हैं कि 'स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अंग को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हाँ, उनकी अवश्य हानि होगी जो खुशामद और लूट और अन्याय के मजे उड़ा रहे हैं।' (हंस, अप्रैल 30) इससे यह बात भी बिल्कुल साफ हो जाती है कि वह स्वराज्य का अर्थ आर्थिक स्वराज्य ही अधिक समझते थे। उन्हें शोषक अंग्रेज के बदले शोषक भारतीय का शासन स्वीकार्य नहीं था। स्वराज्य का अर्थ केवल आर्थिक स्वराज्य है। आज भारत का उद्योगधन्धा पनप उठे, आज भारत के घर घर में खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न, पहनने के लिए दो गज कपड़ा हो जाए .... जीवन में कुछ कविता, कुछ स्फूर्ति, कुछ सुख मालूम पड़े तो कौन कल इस बात की चिन्ता करेगा कि भारत की पार्लियामेंट में अंग्रेज हैं या हिन्दुस्तानी (जागरण, 17 अप्रैल, 1933 सम्पादकीय टिप्पणी)। उपर्युक्त कथन से यह तो स्पष्ट है कि प्रेमचन्द आर्थिक स्वतन्त्रता को राजनैतिक स्वतत्रता से अधिक महत्व देते थे और राजनैतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य भी आर्थिक स्वतंत्रता को ही ठहराते थे। पर इसके आधार पर यह कहना कि प्रेमचन्द ने स्वातन्त्र्य–युद्ध का अपेक्षाकृत कम चित्रण किया है और उसके मूल में विदेशी सरकार की दमन नीति का भय था, उचित नहीं है। यदि प्रेमचन्द ऐसा करते तो ''सरकार उनके (उपन्यासों के) पठन–पाठन में बाधक होती।'' – एक विद्वान की इस टिप्पणी को स्वीकार करना प्रेमचन्द के प्रति अन्याय करना है। प्रेमचन्द के समग्र साहित्य में कही भी 'भय' की वृत्ति नहीं है। धन, समाज और सरकार सभी का वे यथार्थ और वास्तविक चित्रण पूरी निर्भयता से और दो टूक शैली में करते हैं।

प्रेमचन्द ने अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की तरह नारी – जीवन की समस्याओं को अपने उपन्यासों में विस्तार से उकेरा है। पर यह भी निर्विवाद है कि नारी के समुचित सम्मान और महत्व के पक्षधर होते हुए भी नारी और पुरुष की समानता उन्हें स्वीकार्य नहीं हैं। मेहता के लम्बे भाषण और मालती की तुलना में गोविन्दी के आदर्श–चरित्र की स्थापना से यह बात बिल्कुल साफ़ हो आती है कि वे प्रसाद तथा अपने अन्य समकालीनों के समान नारी को महान् और आदरणीय तो ठहराते हैं पर पुरुष के समकक्ष उसे नहीं मानते हैं, जिस प्रकार इड़ा की अपेक्षा प्रसाद श्रद्धा को उत्कृष्ट मानते हैं, उसी तरह मालती की बजाय गोविन्दी प्रेमचन्द का भी आदर्श हैं।

यहाँ यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि प्रेमचन्द से पूर्ववर्ती उपन्यास रोमांस और आदर्श की भूल–भुलैयों में भटक रहा था। प्रेमचन्द हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार थे, जिन्होंने

उसे महज़ किस्सा–कहानियों से उठाकर जीवन के यर्थाथ से जोड़ा। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में उनका झुकाव अवश्य आदर्श की ओर कुछ ज्यादा है लेकिन यथार्थ उनमें भी उपेक्षित नहीं है। उनका पहला उपन्यास 'असरारे मआबिद' या अपने मामा को लेकर लिखा गया अनुपलब्ध व्यंग्य इस बात के साक्षी हैं कि प्रेमचन्द की प्रवृत्ति मूलतः यथार्थ की ओर ही थी। पर यह भी साफ़ है कि उनकी यथार्थ चेतना किसी विशिष्टवाद से नियंत्रित नहीं थी। अपने युग में होने वाले गांधी जी के ह्रदय परिवर्तनवादी उपायों को व्यवहार में अनुपयुक्त पाए जाने से पूर्व ठुकराने की हठधर्मिता उनमें न थी। उन्होंने जब इन उपायों को सामाजार्थिक व्यवस्था के सन्दर्भ में अर्थहीन पाया, उन्हें त्यागने में कोई हिचकिचाहट भी नहीं दिखाई। इसलिए उनके उपन्यासों में यथार्थ की ओर झुकाव क्रमशः गहरा होता गया है।

'प्रेमचन्द' के वास्तविक महत्व को उन्हें प्राप्त उपन्यास परम्परा के परिप्रेक्ष्य में देखने से ही पहचाना जा सकता है। प्रेमचन्द का पूर्ववर्ती उपन्यास या तो तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी कोटि का था या नारी की समस्याओं के आदर्शवादी–सुधारवादी निरुपण में संलग्न था। तत्कालीन सामाजिक उपन्यासों की उद्देश्यमूलकता बड़ी स्थूलता से उन पर आरोपित थी। प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को इससे मुक्ति दिलाई। पर यह कार्य सहसा घटित नहीं हुआ। इसलिये उनके कई उपन्यासों में सुधारवादी प्रवृत्ति भी है, आदर्श के प्रति आग्रह भी। इसके अलावा वे कहीं कहीं चमत्कारपूर्ण घटनाओं को भी अपने उपन्यासों में स्थान देते हैं। प्रारम्भिक कृतियों में तो घटना और चरित्र में घटना पर ही अधिक बल देते हुए दीखते हैं तथा तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों की परम्परा में, वे किस्सा–गो की शैली अपनाते हुए, वर्णनों और विवरणों को अनावश्यक विस्तार भी देते हुए प्रतीत होते हैं, पर यह साफ़ है कि प्रेमचन्द का उपन्यासकार निरन्तर विकसित होता रहा है। उन्हें न तो अपनी वैचारिक मान्यताओं के दोषों[1] का परिहार करने में कोई संकोच होता था और न ही कलात्मक कमियों को दूर करने में हिचकिचाहट। इसलिए प्रेमचन्द के उपन्यास साहित्य के क्रमिक विकास में हिन्दी उपन्यास की प्रगति–यात्रा निहित है।

स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द के उपन्यास अपने युग की कुछ समस्याओं, कतिपय घटनाओं और आन्दोलनों को लेकर लिखे गए लगते हैं। परन्तु मात्र समकालीन

---

[1] उनकी विचारधारा मे निरन्तर स्पष्टता आती गई और वे इस जीवन को परिचालित करने वाले भौतिक – आर्थिक कारणों को पूरी तरह समझने लगे थे। केवल नारी के विषय मे उनका दृष्टिकोण आगे की ओर बढन की बजाय पीछे की ओर ही लौटता दीखता है।

जीवन और उसकी परिस्थितियों के यर्थाथ एवं जीवन्त दस्तावेज होने में ही उनका महत्व नहीं है। उनका महत्व होरी, सुमन, निर्मला, सूरदास जैसे अविस्मरणीय पात्रों की परिकल्पना से और उनके माध्यम से मानव मात्र की आशाओं आशंकाओं, जय-पराजयों, सबलताओं-दुर्बलताओं को वाणी देने की ही दृष्टि से अधिक है। इन मुख्य पात्रों की अपेक्षा भी गौण, तुच्छ और बहुधा नामविहीन पात्रों की जीवन्तता में प्रेमचन्द की कला का वास्तविक उत्कर्ष निहित है। उनके रचना संसार में विभिन्न वर्गों, धर्म-सम्प्रदायों और मनोवृत्तियों के पात्रों को हम जिन्दगी जीते, काटते और झेलते पाते हैं। इस संसार में प्रविष्ट होने पर पाठक के सामने एक औपन्यासिक जगत् मात्र नहीं होता, जीते-जागते मनुष्यों का एक संसार होता है।

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य शैल्पिक स्तर पर भी अपरिपक्व था। उसमें घटना-संयोजन, चरित्र-अंकन, संवाद-परिकल्पना सभी दृष्टियों से अपरिष्कार और अधकचरापन है। प्रेमचन्द ने अपने औपन्यासिक शिल्प के विकास के माध्यम से हिन्दी उपन्यास को निजी चेहरा दिया, एक अपना मुहावरा सुलभ करवाया। उनके योगदान की वास्तविक पहचान, किसी भी अन्य भारतीय भाषा में रचनाशील, उनके समकालीनों से तुलना द्वारा ही हो सकती है। उनके महत्व को समान परिस्थितियों में क्रियाशील किसी भी अन्य उपन्यासकार के साहित्य को उनके कृतित्व के आमने-सामने रखकर आंका जा सकता है।

तृतीय अध्याय :

प्रेमचन्द युग का कथा साहित्य (कहानी)

प्रेमचन्द का कथा साहित्य

कहानी

प्रेमचन्द की कहानियों का रचना–काल स्थिर करना संभव नहीं है। प्रेमचन्द की कहानियों के निश्चित रचना–काल के अभाव में हम कहानीकार प्रेमचन्द के वैचारिक विकास–क्रम के विभिन्न सोपानों का वैज्ञानिक और वस्तुपरक अध्ययन नहीं कर सकते। प्रेमचन्द के प्रकाशक उनकी कहानियों के प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक संपादन तथा प्रकाशन में इतनी रुचि नहीं रखते हैं। प्रेमचन्द की कहानियों के इस समय बाजार में इतने अधिक संग्रह उपलब्ध हैं कि प्रेमचन्द का अध्येता उनके द्वारा एक अच्छी–खासी उलझन में फँस जाता है। 'मानसरोवर' नाम से प्रेमचन्द की कहानियों के जो आठ भाग बाजार में उपलब्ध हैं, उनमें प्रेमचन्द की सभी कहानियाँ नहीं हैं। इसके अलावा उनका संपादन भी सर्वथा अवैज्ञानिक तथा क्रम विहीन हुआ है।

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने प्रेमचन्द के कुछ कहानी – संग्रहों का प्रकाशन क्रम स्थिर करने का प्रयास किया है, जो इस प्रकार है :– (1) सप्त सरोज (2) नवनिधि (3) प्रेम–पूर्णिमा (4) प्रेम–पचीसी (5) प्रेम–प्रतिमा (6) प्रेम–द्वादशी (7) समय–यात्रा (8) मानसरोवर, भाग 1,2 (9) कफन।[1] जनवरी 1960 के त्रैमासिक 'साहित्य' में 'प्रेमचन्द के जीवन तथा साहित्य संबंधी तिथियों में भ्रान्तियाँ' विषय पर पटना की प्रो० श्रीमती गीतालाल का एक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें प्रेमचन्द की जीवन और साहित्य – संबंधी तिथियों को स्थिर करने का एक महनीय प्रयास किया गया है। इस लेख के आधार पर प्रेमचन्द के कतिपय कहानी संग्रहों का प्रथम प्रकाशन काल इस प्रकार है :–

(1) सप्त सरोज	1917 ई०
(2) नवनिधि	1918 ई०
(3) प्रेम–पूर्णिमा	1920 ई०
(4) प्रेम–पचीसी	1923 ई०

[1] प्रेमचन्द . एक अध्ययन : डॉ० राजेश्वर गुरु, पृ० 250-51

(5) प्रेम–प्रसून	1924 ई०
(6) प्रेम–प्रमोद	1926 ई०
(7) प्रेम–प्रतिमा	1926 ई०
(8) प्रेम–द्वादशी	1926 ई०
(9) प्रेम–तीर्थ	1929 ई०
(10) प्रेम–चतुर्थी	1929 ई०
(11) अग्नि– समाधि तथा अन्य कहानियाँ	1929 ई०
(12) पाँच फूल	1929 ई०
(13) समर–यात्रा और ग्यारह अन्य राजनीतिक कहानियाँ	1930 ई०
(14) सप्त सुमन	1930 ई०
(15) प्रेम–पंचमी	1930 ई०
(16) प्रेरणा और अन्य कहानियाँ	1932 ई०
(17) प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ	1933 ई०
(18) मानसरोवर, भाग 1	1936 ई०

यद्यपि इस सूची में प्रेमचन्द के कई कहानी–संग्रहों, यथा प्रेम–पीयूष, कफन आदि का उल्लेख नहीं है, किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द के कहानी–संग्रहों का प्रकाशन–काल स्थिर करने का यह सर्वप्रथम प्रयास है।

प्रो० गीतालाल द्वारा दिए गए प्रेमचन्द के प्रमुख कहानी–संग्रहों के प्रथम प्रकाशन – काल के आधार पर हमें कहानीकार प्रेमचन्द के विकास–क्रम की एक सरसरी रूपरेखा अवश्य ज्ञात हो जाती है, लेकिन प्रेमचन्द विचारधारा के सम्यक् आकलन के लिए इतना पर्याप्त नहीं है। प्रेमचन्द के कहानी–संग्रहों के प्रकाशन – काल के आधार पर उनमें संकलित कहानियों के रचना–काल तक पहुँचना सर्वदा निरापद या खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि अनेक कहानियाँ ऐसी भी है जो उनके विभिन्न कालों के अलग–अलग संग्रहों में पाई जाती :– 'बैंक का दिवाला' (प्रेम–द्वादशी, प्रेम चतुर्थी), 'शांति' (प्रेम–द्वादशी, प्रेम चतुर्थी), 'लाग–डाँट' प्रेम चतुर्थी), 'गृह–दाह' (प्रेम प्रसून, सप्त सुमन, प्रेम–द्वादशी), 'बैर का अंत' (सप्त सुमन, प्रेम पचीसी), 'मंदिर' (प्रेम–तीर्थ, प्रेम–पीयूष, सप्त सुमन), 'ईश्वरीय न्याय' (प्रेम

पूर्णिमा, सप्त सुमन), 'सुजान भगत' (प्रेम पीयूष, सप्त सुमन), 'ममता' (नवनिधि, सप्त सुमन), 'मन्त्र' (प्रेम पीयूष, प्रेम तीर्थ), 'सती' (प्रेम तीर्थ, प्रेम पीयूष, सप्त सुमन), 'कजाकी' (प्रेम तीर्थ, प्रेम पीयूष), 'आत्माराम' (प्रेम पचीसी प्रेम–द्वादशी), 'दुर्गा का मंदिर' (प्रेम पूर्णिमा, प्रेम–द्वादशी), 'बड़े घर की बेटी' (सप्त सरोज, प्रेम–द्वादशी), 'डिक्री के रुपये' (प्रेम पीयूष, प्रेम–द्वादशी), 'मुक्ति मार्ग' (प्रेम पीयूष, प्रेम–द्वादशी), 'पंच परमेश्वर' (सप्त सरोज, प्रेम–द्वादशी), 'शंखनाद' (प्रेम पूर्णिमा, प्रेम–द्वादशी), 'आहुति' (समर–यात्रा, कफन) आदि। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में कहानी–संग्रहों के प्रकाशन–काल के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों का रचना–काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि कहानीकार प्रेमचन्द के अध्ययन को एक वस्तुपरक भूमिका प्रदान करने के लिए वर्तमान अराजकतापूर्ण स्थिति को समाप्त करके उनकी कहानियों का एक वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित करना नितान्त आवश्यक है।

प्रेमचन्द की कहानियों को आलोचकों ने विभिन्न आधारों पर एवं विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। अधिकांश आलोचकों ने विषय–वस्तु की दृष्टि से ही उन्हें वर्गीकृत किया है। काल–क्रम के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों का वर्गीकरण करने वालों में डॉ० राजेश्वर गुरू मुख्य है। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है :–

"(1) प्रारम्भिक युग : देश–प्रेम–संबन्धी भावुकतापूर्ण कहानियाँ, एवं बुन्देलखण्ड के इतिहास की गौरवपूर्ण गाथाएँ – जैसे 'सोज़ेवतन्' क्रम की कहानियाँ और 'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'विक्रमादित्य का तेगा' आदि।

"भारतीय मन और भारतीय प्राचीन व्यवस्था के उदात्त स्वरूप को चित्रित करने वाली कहानियाँ जैसे – 'शंखनाद', 'पंच परमेश्वर' आदि।"

"(2) विकास युग : भारतीय ग्राम – जीवन के विभिन्न प्रसंग और सामाजिक, राजनैतिक और साम्प्रदायिक जीवन की कहानियाँ।"

"(3) यथार्थोन्मुख कहानियाँ – सन् 1930 के राजनेतिक आन्दोलन के दिनों के चित्रण एवम् अनेक यथार्थवादी कहानियाँ"[1]

डॉ० गुरू ने प्रारम्भिक युग को सन् 1920 तक[1], विकास युग को 1930 तक और यथार्थोन्मुख कहानियों के युग को 1930 के पश्चात् माना है।

---

[1] प्रेमचन्द : एक अध्ययन , पृ० 250

विषय–वस्तु के आधार पर प्रेमचन्द की कहानियों को राजनीतिक, सामाजिक, ग्राम्य –जीवन संबंधी आदि वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

यद्यपि हिंदी में प्रेमचन्द का सर्वप्रथम कहानी–संग्रह 'सप्त सरोज' 1917 ई० में प्रकाशित हुआ था, किन्तु हिंदी में कहानियाँ लिखना प्रेमचन्द ने सन् 1913 से ही आरम्भ कर दिया था,[2] और उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पंच परमेश्वर' 'सरस्वती' में जून 1916 में प्रकाशित हुई थी। यूँ प्रेमचन्द की सर्वप्रथम कहानी 'संसार का अनमोल रत्न' है जो 1907 में 'जमाना' में छपी थी।[3] प्रेमचन्द का सर्वप्रथम कहानी – सग्रह 'सोज़ेवतन' सन् 1909 में प्रकाशित हुआ था और प्रकाशित होने के छः महीने बाद ही सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। ब्रिटिश सरकार को 'सोज़ेवतन' की कहानियों में राजद्रोह की गंध आई थी।[4] इस घटना के बाद धनपतराय श्रीवास्तव 'नवाबराय' के बजाए 'प्रेमचन्द' के नाम से लिखने लगे। हिंदी साहित्य उन्हें इसी नाम से जानता है। डॉ० राजेश्वर गुरू का कहना है कि प्रेमचन्द नाम से उनकी पहली कहानी 'ममता' थी जो सन् 1909 या 1910 के 'जमाना' में छपी थी।[5]

'सप्त सरोज' (सन् 1917) संग्रह की कहानियाँ उस समय की रचनाएँ हैं जब कि प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना और जीवन–दृष्टि पर सुधारवाद और आदर्शवादी परंपरागत भारतीय संस्कृति का घना कोहरा तथा धुंध छाई हुई थी। 'बड़े घर की बेटी' और 'पंच परमेश्वर' – जिनकी गणना प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में की जाती है – कहानियों में परंपरागत आदर्शवादी जीवन–दर्शन का प्रभाव अपने चरमोत्कृष्ट रूप में देखा जा सकता है। यद्यपि प्रेमचन्द को अपने निजी जीवन में संयुक्त परिवार के काफी कटु अनुभव हुए थे, किन्तु फिर भी वे संयुक्त परिवार–प्रथा की सामाजिक उपयोगिता और आवश्यकता के प्रति सर्वथा आस्थाहीन नहीं हुए थे। उन्होंने अपनी कई कहानियों में इस प्रथा का समर्थन एव उसकी पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया है। 'बड़े घर की बेटी' प्रेमचन्द की एक ऐसी ही कहानी है। इसमें वे दिखाते हैं कि बड़े घर की बेटी आनन्दी की उदारता और बड़प्पन के कारण एक संयुक्त परिवार का विभाजन होते–होते रह जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि बड़े घर की बेटी से प्रेमचन्द का तात्पर्य उच्च्व अर्थात् अभिजात घर की बेटी से है अथवा शरीफ खानदान की बेटी से? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने पहला ही अर्थ लिया है।

---

[1] उपरोक्त, पृ० 256
[2] प्रेमचन्द घर में, पृ० 22
[3] कफन · पृ० 65
[4] उपरोक्त : पृ० 65-66
[5] प्रेमचन्द एक अध्ययन, पृ० 250

वे स्वयं कहते है: ''आनन्दी एक बड़े कुल की लड़की थी। उसके बाप एक छोटी–सी रियासत के ताल्लुकेदार थे। विशाल भवन, एक हाथी, तीन कुत्ते, बाज, बहरी, शिकरे, झाड़–फानूस, आनरेरी मजिस्ट्रेटी और ऋण, जो एक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार के योग्य पदार्थ हैं, वह सभी यहाँ विद्यमान थे।''[1] स्वभावतः अगला प्रश्न उठता है कि आनन्दी की इस उदारता का मूल उसके अभिजात पितृ कुल में खोजना कहॉ तक उचित है? उदारता और उच्च कुल में क्या कोई अन्योन्याश्रित संबंध होता है? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द का यह विश्लेषण सर्वथा अवैज्ञानिक है। यह नहीं कि बड़े घर की लडकियों में आनन्दी की उदारता, सहाश्यता और बड़प्पन होता ही नहीं। हमारा तात्पर्य केवल इतना है कि किसी एक विशिष्ट वर्ग या कुल के व्यक्तियों के साथ ही इन मानवीय गुणों को अनिवार्यतः संबद्ध नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत कहानी में आनन्दी की इस उदारता और बड़प्पन के संबंध में उसके एक बडे ताल्लुकेदार की बेटी होने की बात पर इतना अधिक बल दिया गया है कि मानों इन दोनों बातों में कोई आन्योन्याश्रित या अनिवार्य संबंध हो!

'बड़े घर की बेटी' के अतिरिक्त 'अलग्योझा' (मानसरोवर, भाग 1) कहानी में भी प्रेमचन्द ने टूटती हुई संयुक्त परिवार – प्रथा की समस्या को उठाया है। काफी बाद की रचना होने पर भी 'अलग्योझा' में सम्मिलित परिवार के प्रति प्रेमचन्द का मोह लक्षित किया जा सकता है। सामन्तवाद और पूंजीवाद में एक मूलभूत अतर यह होता है कि सामन्ती समाज–व्यवस्था में परिवार एक इकाई होता है जब कि पूंजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति इकाई होता है। सामन्तवाद में अधिकांश लोग खेती तथा उससे सबद्ध दूसरे घरेलू धंधों पर निर्भर करते हैं जबकि पूंजीवाद में बड़े–बड़े कल–कारखानों या दफ्तरों की नौकरी पर। कृषि प्रधान होने के कारण सामन्ती समाज–व्यवस्था परिवार को– और परिवार के साथ जमीन को– छोटे–छोटे टुकड़ों में बाँटने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करती। यही कारण है कि इस व्यवस्था में संयुक्त परिवार पर इतना बल दिया जाता है और उसे कुल की इज्जत और आदर –सम्मान का मूल कारण समझा जाता है। जब परिवार का कोई सदस्य अलग होने की बात करता है तो उसे कुल की इज्जत में बट्टा लगाने वाला कुल–द्रोही समझा जाता है। जब 'अलग्योझा' के रग्घु की पत्नी मुलिया उसे परिवार से अलग होने पर बाध्य करती है तो वह इस कल्पना से ही काँप उठता है। वह सोचता है : ''आह! मेरे मुँह में कालिख

[1] सप्त सरोज , पृ० ७

लगेगी, दुनिया यही कहेगी कि बाप के मर जाने पर दस साल भी एक में निबाह न सका । ...... उसका गला फंस गया। काँपते हुए स्वर में बोला – तू क्या चाहती है कि मैं अपने भाईयों से अलग हो जाऊँ? भला सोच तो, कहीं मुँह दिखाने के लायक रहूंगा?"[1] रग्घु को और बातों के अलावा सबसे बड़ा दुःख यह है कि अलग होने से उसके मुँह पर कालिख लग जायेगी और वह कहीं मुँह दिखाने लायक भी नहीं रहेगा।

बड़े–बड़े कल–कारखानों और नगरों की वृद्धि के रूप में पूंजीवाद के आगमन के कारण टूटती हुई सामन्ती संयुक्त परिवार – प्रथा के विघटन को प्रेमचन्द का आदर्शवाद रोक अवश्य लेता है, पर प्रश्न यह है कि कब तक? स्पष्ट है कि पुरानी समाज–व्यवस्था के विघटन की प्रक्रिया को बड़े–से–बड़ा आदर्शवाद और सुधारवाद भी रोक नहीं सकता, क्योंकि यह एक सामाजिक और ऐतिहासिक अनिवार्यता है।

यहाँ पर प्रेमचन्द के आदर्शवाद के अतिरिक्त एक और तथ्य पर भी विचार करना होगा। प्रेमचन्द के युग में परंपरागत भारतीय संयुक्त परिवार का ढाँचा टूटने तो लगा था, पर अभी उसके स्थान पर नई व्यवस्था विकसित नहीं हो पा रही थी। इसका कारण साम्राज्यवाद की उस नीति में खोजा जाना चाहिए, जो सामाजिक और ऐतिहासिक आवश्यकताओं के विरुद्ध भारत को कृषि – प्रधान देश बनाए रखने की पूरी कोशिश कर रही थी। विघटित होती हुई पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था के उभर पाने के कारण स्वभावतः समाज–व्यवस्था में एक रिक्ति का भाव उत्पन्न होने लगा था। पूँजीवाद की घृणित व्यक्तिवादी सभ्यता के स्थान पर किसी नवीन प्रगतिशील व्यवस्था के अभाव में स्वभावतः प्रेमचन्द जैसे विचारकों ने पुरानी सामन्ती व्यवस्था को ही भारत के लिए अधिक श्रेयस्कर समझा। प्रेमचन्द में परंपरागत भारतीय जीवन के प्रति जो इतना मोह, लगाव और आकर्षण दिखाई देता है, अन्य कारणों के अतिरिक्त निस्संदेह उसका यह भी एक कारण है।

'पंच परमेश्वर' का मूल प्रतिपाद्य भी यही है। 'पंच परमेश्वर' में प्रेमचन्द ने भारतीय गाँवों – जहाँ अभी आधुनिक व्यक्तिवादी सभ्यता का प्रवेश नहीं हुआ है– वे सरल, निश्छल, सत्यपरायण, अकृत्रिम, त्यागपूर्ण तथा उदार जीवन का एक उत्यन्त ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। जुम्मन शेख और अलगू चौधरी के रूप में प्रेमचन्द ने हमें दो ऐसे अमर

---

[1] मानसरोवर, भाग 1 पृ० 21

चरित्र दिए हैं जो सत्यपरायणता, न्यायपरायणता, साम्प्रदायिक, ऐक्य, क्षमा आदि उदात्त मानवीय विभूतियों – संक्षेप में मानवता – के प्रतीक हैं। उनके चरित्र को हम आदर्शवादी भी कह सकते हैं, किन्तु यह वह आदर्शवाद नहीं है जो अस्वाभाविक या अकृत्रिम आदर्शवाद हो। आदर्शवाद शब्द के साथ आज हालाँकि परंपरा और प्रतिक्रिया का अर्थ संबद्ध किया जाने लगा है, लेकिन जुम्मन और अलगू के चरित्रों के निमार्ण में जो आदर्श काम कर रहा है, वह ऐसा आदर्श है जिससे बड़े से बड़ा यथार्थवादी भी इकार नहीं कर सकता। यह वही आदर्श है जो प्रत्येक यथार्थवादी के अंतस् में बसा होता है। जुम्मन और अलगू का आदर्श ही मानवता का आदर्श है। इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य अलगू चौधरी और जुम्मन शेख का है; ज्ञानशंकर, राय कमलानन्द, रानी गायत्री, राजा विशालसिंह, रायसाहब अमरपालसिंह, मातादीन, झिंगुरीसिंह का नहीं!

गाँधी जी की भॉति प्रेमचन्द भी आधुनिक नागरिक जीवन की अपेक्षा प्राचीन भारतीय ग्रामीण जीवन के प्रशंसक एवं समर्थक थे। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने शहरी जीवन की बुराईयों का मनोयोग के साथ चित्रण किया है। शहरी बनाम ग्रामीण जीवन की समस्या को उन्होंने अपनी अनेक कहानियों का भी विषय बनाया है। उदाहरण के निए उनकी मन्त्र (पाँच फूल) और लोकमत का सम्मान('प्रेम–पचीसी') कहानियों को लिया जा सकता है। 'मन्त्र' का डाक्टर चड्ढा आज की घोर व्यक्तिवादी एवं स्वार्थी नागरिक सभ्यता और बुड्ढा भगत सरल, निश्छल, निस्स्वार्थ तथा दूसरे की भलाई में प्रसन्न होने वाली ग्रामीण संस्कृति का प्रतिनिधि है। नागरिक और ग्रामीण सभ्यता के पारस्परिक अन्तर **(Contrast)** को अपनी पूरी नग्नता में उभार कर सामने रखने में प्रेमचन्द को इस कहानी में अपूर्व सफलता मिली है। भगत का ह्रदय इतना उदार; व्यक्तिगत स्वार्थ, राग–द्वेष तथा बदले की भावना से ऊपर उठा हुआ और परोपकार की भावना से आकण्ठ पूरित है कि वह बिना बुलाए ही डाक्टर चड्ढा – जिसने अपने आमोद–प्रमोद के आगे कभी उसके मरते हुए रोगी पुत्र को एक नजर देखना भी अस्वीकार कर दिया था–के बेटे को बचाने के लिए पहुँच जाता है। भगत की सद्वृत्तियों और असद्वृत्तियों (बदले की भावना आदि) में होने वाले संघर्ष को प्रेमचन्द ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक अंकित किया है। डाक्टर चड्ढा और भगत के इस 'कन्ट्रास्ट' को दिखाते हुए प्रेमचन्द कहते हैं :– "मोटर चली गई। बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो अपने

आमोद–प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवा नहीं करते, शायद इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने जमाने के जीवों में था जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कन्धा देने, किसी कें छप्पर को उठाने और किसी कलह को शान्त करने के लिए सदैव तैयार रहते थे।"[1]

'मन्त्र' में नागरिक और ग्रामीण सभ्यता के 'कन्ट्रास्ट' को प्रकट किया गया है। इसके विपरीत 'लोकमत का सम्मान' कहानी में प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन पर शहरी जीवन के अनिष्टकारी प्रभाव का एक चित्र प्रस्तुत किया है। गाँव का सरल, निश्छल और परिश्रमी बेचू धोबी शहर में आकर किस प्रकार शराब इत्यादि की बुरी आदतें सीखता है, झूठ बोलने और ग्राहकों के कपड़ों को किराए पर उठाने के लिए मजबूर होता है–संक्षेप में यही इस कहानी की कथावस्तु है। गाँव में बेचू को आधे पेट रूखी–सूखी खाकर रहना पड़ता था और जमींदार के चपरासियों की गालियाँ और मार भी खानी पड़ती थी। लेकिन इतना हेते हुए भी वह गाँव का एक सम्मानित सदस्य था। गाँव की बहुएँ उसे बेचू दादा कहकर पुकारती थीं और शादी–गमी के प्रत्येक अवसर पर उसका बुलावा होता था।[2] शहर में उसकी आमदनी अवश्य बढ़ जाती है, उसका और उसके परिवार के अन्य सदस्यों का जीवन–स्तर भी सुधर जाता है, लेकिन साथ ही शहर की बुराईयाँ भी उसे घेर लेती हैं। स्वभावतः आमदनी में वृद्धि के बावजूद दसके खर्च का पलड़ा भारी रहने लगा।[3] वह अनुभव करने लगता है कि शहर में ईमानदार बनकर रहना संभव नहीं है। वह कहता है : "मुझे मालूम हो गया कि शहर में अच्छी नीयतवाले आदमी का निर्वाह नहीं हो सकता।"[4]

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रेमचन्द जब शहरी जीवन की बुराइयों और उसके अनिष्टकारी प्रभाव की ओर संकेत करते हैं तो वे वस्तुतः अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीवादी सभ्यता (जिसे वे महाजनी सभ्यता कहा करते थे) एवं तज्जन्य व्यक्तिभेद की ही बुराई करते हैं।

'सप्त सरोज' में ऐसी कहानियाँ भी है जिनमें 'कफन' और 'पूस की रात' का यथार्थवादी प्रेमचन्द का मन झाँकता हुआ मिलता है। 'उपदेश' और 'सज्जनता का दण्ड'

---

[1] पाँच फूल, पृ० 36 (सातवाँ संस्करण)
[2] प्रेम–पचीसी, पृ० 114-15 (बनारस, 1958)
[3] वही, पृ० 116-17
[4] वही, पृ० 117

ऐसी ही कहानियाँ हैं। इन कहानियों में समाज–सुधारक प्रेमचन्द के अलावा व्यंग्यकार प्रेमचन्द, नश्तर लगाने वाले प्रेमचन्द के भी दर्शन होते हैं। 'सज्जनता का दण्ड' में प्रेमचन्द ने एक ऐसे ईमानदार इंजीनियर की कठिनाइयों का वर्णन किया है जो ठेकेदारों से किसी भी रूप में – कमीशन के रूप में भी नहीं – रिश्वत नहीं लेता। रिश्वत आज के सरकारी विभागों के जीवन का एक अनिवार्य और अविच्छेद्य अंग बन गई है। उसने अनेक रूप धारण कर लिए है। कहीं वह दस्तूरी के रूप में प्रचलित है और कहीं कमीशन के रूप में तो कहीं डालियों के रूप में। कहानी के अंत में विचारशील पाठक के मन में उस समाज और शासन–व्यवस्था के प्रति – जिसका इस सीमा तक पतन हो गया है कि उसमें एक ईमानदार आदमी को अपनी ईमानदारी की रक्षा के लिए भी सघर्ष करना पड़ता है – बरबस एक आक्रोश की भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहतीं। इस कहानी के द्वारा प्रेमचन्द ने तत्कालीन शासन–व्यवस्था पर आघात किया है।

'सप्त सरोज' संग्रह की कहानियो में व्यंग्यकार प्रेमचन्द का सबसे अधिक निखरा हुआ रूप 'उपदेश' कहानी में मिलता है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने अखबारों में लेख लिखकर तथा 'सोशल सर्विस लीग', 'फ्री लाइब्रेरी', 'स्टूडेण्टस् एसोसिएशन' आदि के पदाधिकारी बनकर देशभक्ति और जाति–सेवा का स्वाँग रचने वाले नकली नेताओं की पोल खोली है।[1] प्रेमचन्द दिखाते हैं कि उँगली पर खून लगाकर शहीद बनने वाले नकली देशभक्त समय आने पर किस प्रकार अपनी जिम्मेदारी से बचकर निकल भागते हैं।[2] 'उपदेश' के शर्माजी ऐसे ही नकली देशभक्त है। प्रेमचन्द मानते थे कि "देश पर मिट जाने वाले को देश–सेवक का सर्वोच्च पद प्राप्त होता है, वाचलता और कोरी कलम घिसने से देश–सेवा नहीं होती। कम–से–कम तो अखबार पढ़ने को यह गौरव नहीं दे सकता।"[3]

'उपदेश' 'सप्त सरोज' संग्रह की अकेली कहानी है जिसमें प्रेमचन्द ने जमींदार–किसान–संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। इस कहानी में प्रेमचन्द किसानों की वर्त्तमान अवस्था का कारण समाज–व्यवस्था में नहीं बल्कि कर्मपरायण, नीतिज्ञ और विद्वान जमींदारों के अभाव में खोजते हैं। वे दिखाते हैं कि जमींदार यदि अपने इलाकों की

---

[1] सप्त सरोज, पृ० 65
[2] वही, पृ० 66-67
[3] वही, पृ० 68

देख–भाल कारिन्दों पर न छोड़कर स्वयं करे तो किसानों की हालत बहुत जल्द सुधर सकती है।[1] 'उपदेश' का बाबूलाल प्रेमचन्द के इन्हीं विचारो का वाहक है। किन्तु स्पष्ट है कि किसानों की दुरवस्था के कारणों का यह गांधीवादी विश्लेषण और समाधान सर्वथा अवैज्ञानिक है। प्रश्न जमींदारों के कर्मपरायण, नीतिज्ञ और विद्वान होने का नहीं, वरन उस समाज–व्यवस्था के बदले न बदले जाने का है, जिसने एक अल्पसंख्यक उपजीवी वर्ग को जनता के शोषण की छूट दी हुई है।

'उपदेश' कहानी में प्रेमचन्द ने पुलिस–विभाग की धाँधलियों का भी उद्‌घाटन किया है। पुलिस के हथकण्डों की ओर प्रेमचन्द का ध्यान आरम्भ से ही रहा है। पुलिस–विभाग पर प्रेमचन्द का आक्रमण हमेशा सीधा और प्रत्यक्ष होता था। पुलिस–विभाग पर प्रेमचन्द का यह आक्रमण वस्तुतः ब्रिटिश साम्राज्य पर ही आक्रमण है। पुलिसवाले गरीब और बेजबान किसानों को किस प्रकार लूटते हैं–प्रेमचन्द ने इसका आँखें खोल देने वाले वर्णन किया है।[2] पुलिस के हथकण्डों का इतना यथार्थ और व्यंग्यपूर्ण वर्णन प्रेमचन्द– साहित्य की अपनी विशेषता है। प्रेमचन्द की यह विशेषता उनके प्रगतिशील दृष्टिकोण की परिचायक है।

'सप्त सरोज' की एक अन्य कहानी–'नमक का दरोगा' – का भी हम यहाँ उल्लेख करना चाहते हैं। 'नमक का दरोगा' में प्रेमचन्द का आदर्शवाद अपने स्थूलतम, सर्वाधिक अनाकर्षक, अविश्वसनीय और भोंडे रूप में देखा जा सकता है। पं० अलोपीदीन के बारे में मुंशी बंशीधर के मत में परिवर्तन बड़ा ही हास्योत्पादक तथा कृत्रिम है। नमक के दरोगा की हैसियत से मुंशी बंशीधर ने कल जिस व्यक्ति को समाज की, राज्य की और कानून की चोरी करते हुए पकड़ा था; आज वही सज्जन और कीर्तिवान हो जाता है। कल जो व्यक्ति चालीस बार रिश्वत लेने से इन्कार कर देता है, आज वही छः हजार वार्षिक वेतन पर पं० अलोपीदीन की चाकरी करना स्वीकार कर लेता है।[3] पं० अलोपीदीन के मैनेजरी करने का अर्थ इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि अब से मुंशी बंशीधर भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष

---

[1] सप्त सरोज, पृ० 88

[2] "आजकल किसानो के फसल के दिन हैं। यही जमाना हमारी फसल का भी है। शेर का भी तो मॉद मे बैठे–बैठे शिकार नही मिलता, जगल मे घूमता है। हम भी शिकार की तलाश मे हैं। किसी पर खुफिया–फरार्शी का इलजाम लगाया, किसी को चोरी का माल खरीदने के लिए पकड़ा, किसी को हमल–हराम का झगड़ा उठाकर फॉसा। अगर हमारे नसीब से डाका पड़ गया तो हमारी पॉचो अॅगुलियॉ घी में समझिये। डाकू तो नोच–खसोटकर भागते है, असली डाका हमारा पडता है। आस–पास के गॉवो में झाड़ू फेर देते हैं। X X X X अगर देखा कि तकदीर पर शाकिर रहने से काम नहीं चलता तो तदबीर से काम लेते हैं। जरा से इशारे की जरूरत है, डाका पड़ते क्या देर लगती है। आप मेरी साफ–गोई पर हैरान होते होंगे। अगर मैं अपने सारे हथकडे बयान करूँ तो आप यकीन न करेंगे ओर लुत्फ यह कि मेरा शुमार जिले के निहायत होशियार, कारगुजार, दयानतदार सब–इस्पेक्टरो मे है। फर्जी डाके डलवाता हूँ। फर्जी मुल्जिम पकड़ता हूँ। मगर सजाएँ असली दिलवाता हूँ।"

–सप्त सरोज, पृ० 83

[3] सप्त सरोज, पृ० 62-63

रूप से अलोपीदीन के चोरी के व्यापार में सहयोग देंगे। अलोपीदीन ने कहीं भी इस बात का संकेत नहीं किया है कि वह अब चोरी का व्यापार नहीं करेगा! अतः प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में अलोपीदीन की नौकरी करते हुए मुंशी बंशीधर अपने को उस घृणित व्यवसाय से अलग कैसे रख सकेंगे? स्पष्ट है कि मालिक के बदल जाने मात्र सच्चाई और ईमानदारी का स्वरूप नहीं बदल सकता।

'नमक का दरोगा' का यह अंत सर्वथा अनावश्यक और अस्वाभाविक है। यदि प्रेमचन्द नमक का दरोगा के पद से मुंशी बशीधर की बर्खास्तगी के साथ ही अपनी कहानी को समाप्त कर देते तो प्रस्तुत कहानी वर्त्तमान अर्थ–प्रधान न्याय–व्यवस्था पर एक बहुत ही तीखा और चुभता हुआ व्यंग्य बन जाती। उस अवस्था में 'नमक का दरोगा' की गणना प्रेमचन्द की कतिपय श्रेष्ठ कहानीकारों में की जाती–इसमें सन्देह नहीं।

'सप्त सरोज' के अनन्तर प्रेमचन्द का 'नवनिधि कहानी – संग्रह प्रकाश में आया। सग्रह की अधिकांश कहानियाँ – 'ममता' और 'पछतावा' को छोड़कर – ऐतिहासिक 'राजा हरदौल' कहानी में एक और जहाँ सामन्ती युग के त्याग, उत्सर्ग और बलिदान के आदर्श को प्रस्तुत किया गया है; वहाँ दूसरी ओर उस ह्रासोन्मुख **(Decadent)** ईर्ष्या, विद्वेष एवं अविश्वासमय दूषित वातावरण का भी चित्र उपस्थित किया गया है। हरदौल का चरित्र उस युग की आदर्श वीरता, त्याग और बलिदान का चित्र है तो जुझारसिंह का ईर्ष्या और अविश्वासमय वातावरण का। इस प्रकार कहानी सामंती युग के विषाक्त वातावरण का एक यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने में सफल हो सकी है। इसके विपरीत 'रानी सारन्धा' एक साधारण कहानी है जिसमें आन पर मिटने के राजपूती आदर्श की पुनरावृति मात्र की गई है। संग्रह की अन्य कहानियों में कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य लक्षित नहीं होता। इसी संग्रह की 'मर्यादा की वेदी' कहानी में प्रेमचंद चलते–चलते भोजन भट्ट साधुओं पर व्यंग्य करने से नहीं चूके है।[1] "भोजन भट्ट साधुओं और पंडे–पुजारियों को प्रेमचंद ने अनेक कहानियों में अपने अचूक व्यंग्य का निशाना बनाया है। मोटेराम सीरीज की उनकी अधिकांश कहानियाँ समाज के इस मुफ्तखोर अंग के हथकण्डों को अनावृत करने के उद्देश्य से लिखी गई है। इस संबंध में उनकी 'सत्याग्रह' (मानसरोवर भाग 3) और 'नियन्त्रण' (मानसरोवर, भाग 5) कहानियों

---

[1] "दस बजे रात का समय था। रणछोड़जी के मन्दिर में कीर्तन समाप्त हो चुका था और वैष्णव साधु बैठे हुए प्रसाद पा रहे थे। X X X X साधुगण जिस प्रेम से भोजन करते थे, उससे यह शंका होती थी कि स्वादपूर्ण वस्तुओं में कहीं भक्ति–भजन से भी अधिक सुख तो नही है। X X X X कभी पेट पर हाथ फेरते और कभी आसन बदलते थे। मुँह से 'नहीं' कहना तो वे घोर पाप के सम्मान समझते थे। X X X X इसलिए ये महात्मागण घी और खोये से उदर को खूब भर रहे थे।"

का उल्लेख किया जा सकता है। मुफ्तखोर साधुओं की समस्या पर प्रेमचंद की एक छोटी–सी कहानी है– 'बाबाजी का भोग' (मानसरोवर, भाग 3) दो पृष्ठों की यह लघु कथा प्रेमचंद की कतिपय श्रेष्ठतक यथार्थवादी कहानियों में से है। कहानी में प्रेमचंद ने एक परिश्रमी किन्तु भूखे किसान–परिवार और एक मुफ्तखोर बाबाजी के 'कन्ट्रास्ट' को पूरे यथार्थ में प्रस्तुत किया है। कहानीकार अपनी तरफ से कुछ नहीं कहता। सब कुछ पाठक को सोचना पड़ता है। कहानी में किसी आदर्श की स्थापना नहीं की गई है, न कोई सुधारवादी समाधान कहानीकार की ओर से सुझाया गया है। किसान परिवार की गरीबी का चित्र एक ओर तथा बाबाजी की मुफ्तखोरी का चित्र दूसरी ओर–इन दो चित्रों के अंतर को ही प्रस्तुत कहानी में उपस्थित किया गया है। कहानी के अंत में पाठक सोचने पर विवश हो जाता है कि आखिर क्या कारण है कि रामधन जैसे परिश्रमी इंसान रात को भूखे सोएँ और बाबाजी जैसे अकर्मण्य, आलसी, मुफ्तखोर और दूसरों के श्रम पर जिंदा रहने वाले दाल–बाटी उड़ाएँ?

'नवनिधि' के प्रकाशन के बाद भी प्रेमचंद ने समय–समय पर कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी है, जैसे 'परीक्षा', 'वज्रपात', 'दिल की रानी', 'लैला', 'क्षमा', 'धिक्कार', 'शतरंज के खिलाड़ी' इत्यादि। 'परीक्षा' (मानसरोवर, भाग 3) और वज्रपात (मानसरोवर, भाग 3) दोनो ही मुगलकालीन कहानियॉ हैं, जिनमें मुगलकाल के नैतिक, चारित्रिक और सामाजिक पतन का चित्रण किया गया है। प्रेमचंद दिखाते हैं कि स्त्रियाँ किसी जाति अथवा समाज की नैतिक और चारित्रिक चेतना की प्रतीक होती है। जब स्त्रियाँ अपने समाज और गौरव की रथा का प्रयत्न त्यागकर किसी भी परिस्थिति से समझौता करने को तैयार हो जावें तो हमें समझ लेना चाहिए कि उस जाति और समाज की जीवनी शक्ति नष्ट को चुकी है और वह कहानी भी विनाश के गर्त में समा सकती है। 'परीक्षा' में शाही हरम की बेगमों की कायरता दिखाकर प्रेमचंद ने इसी सत्य का उद्घाटन किया है।

'दिल की रानी' (मानसरोवर, भाग 1) और 'क्षमा' (मानसरोवर, भाग 3) कहानियों में प्रेमचंद ने अहिंसा और हिंसा, प्रेम और घृणा, न्याय और अन्याय के संघर्ष को प्रस्तुत किया है। इस्लाम पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उनका प्रसार तलवार के बल पर हुआ है, उसमें प्रेम की शक्ति से अधिक तलवार की ताकत पर विश्वास किया जाता है। 'दिल की रानी' और 'क्षमा' में उन्हीं आक्षेपों का उत्तर दिया गया है। हिंसा, घृणा, जुल्म, रक्तपात, धर्मान्धता, असहिष्णुता आदि की प्रवृत्तियाँ किसी धर्म या संप्रदाय विशेष के मानने

वाले में ही पाई जाती हों– ऐसी बात नहीं है। विश्व का कोई भी धर्म इन विनाशक प्रवृत्तियों की शिक्षा नहीं देता। इस्लाम इस सामान्य तथ्य का अपवाद नहीं है। 'क्षमा' का शेख हसन अपने बेटे को मारने के लिए ईसाई दाऊंद से कहता हैः "दाऊद, मैने तुम्हे माफ किया। मैं जानता हूँ, मुसलमानों के हाथ ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुँती हैं, मुसलमानों ने उन पर बड़े–बड़े अत्याचार किये हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है। लेकिन यह इस्लाम का नहीं मुसलमानों का कसूर है। विजय–गर्व ने मुसलमानों की मति हार ली है। मैं इसलाम के नाम पर बट्टा न लगाऊँगा।"[1] देखा जाय तो प्रेमचंद की यह कहानी नाम के लिए ऐतिहासिक है, वर्ना उसमें आधुनिक युग की ज्वलन्त सामाजिक और राजनीतिक समस्या धार्मिक असहिष्णुता की समस्या का चित्रण हुआ है। प्रस्तुत कहानी में गाँधीजी के सर्वधर्म समभाव–व्रत का संदेश दिया गया है और दिखाया गया है कि क्षमा तथा सहिष्णुता ही वास्तव में धर्म की आत्मा है। धार्मिक सहिष्णुता को गॉधीजी सर्वधर्म समभाव के नाम से पुकारते थे। 'सहिष्णुता' या 'सर्वधर्म–आदर' शब्द उन्हें पसन्द नहीं थे, क्योंकि सहिष्णुता में सहने का भाव है और आदर में कृपा का भाव। गाँधीजी मानते थे कि दूसरे धर्मी को सहन करना या उन्हें आदर की दृष्टि से देखना ही पर्याप्त नहीं है। अहिंसा हमें विश्व के सभी धर्मो के प्रति समभाव रखना सिखाती है।[2]

'दिल की रानी' का मूल प्रतिवाद्य भी यही सन्देश है। इस कहानी में प्रेमचंद ने अपने विचारों को और भी अधिक स्पष्टता और विस्तार से प्रस्तुत किया है। वे कहते हैः 'मजहब खिदमत का नाम है, लूट और कत्ल का नहीं।[3] 'दिल की रानी' का तैमर प्रेमचंद के इन्हीं उदार और मानववादी विचारों का वाहक है। वह कहता हैः– बेशक जजिया मुआफ होना चाहिए। मुझे कोई मजाज नहीं है कि दूसरे मजहब वालों से उनके ईमान का तावान लूँ। कोई मजाज नहीं है, अगर मस्जिद में अजान होती है, तो कलीसा में घण्टा क्यों न बजे? घण्टे की आवाज में कुफ्र नहीं है। +++++++ काफ़िर वह है, जो दूसरों का हक छीन ले, जो गरीबों को सताये, दयावान हो, खुदगरज हो। काफिर वह नहीं, जो मिट्टी या पत्थर के टुकड़ों में खुदा की सूरत देखता है जो नदियों और पहाड़ों में दरख्तों और झाड़ियों में खुदा का जलवा पाता हो, ++++++ किसी को काफिर समझना ही कुफ्र है। हम सब खुदा के

[1] मानसरोवर भाग 3 पृ० 208
[2] गॉधी साहित्य, भाग 5 पृ० 157
[3] मानसरोवर भाग 1 पृ० 203

बन्दे है, सब।"[1] 'दिल की रानी' में प्रेमचंद युद्ध और शांति, हिंसा और अहिंसा, घृणा और प्रेम के संघर्ष में प्रेम, अहिंसा और शांति की शक्तियों की अतिम विजय दिखाते हैं। पशुबल के ऊपर आत्मबल तथा प्रेम की शक्ति की प्रतिष्ठा ही प्रस्तुत कहानी का मूल प्रतिवाद्य है।

प्रेमचंद इस तथ्य से भलि–भॉति परिचित थे कि हिन्दू–मुस्लिम एकता सांस्कृतिक आर्थिक स्तर पर संभव है, केवल राजनीतिक स्तर पर नहीं। यही कारण है कि उन्होंने अपनी कहानियों में इस्लाम के इतिहास और मुस्लिम–सस्कृति को प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इस संबंध में उनकी 'न्याय' (मानसरोवर, भाग 2) कहानी और 'कर्बला' नाटक का उल्लेख किया जा सकता है। 'ईदगाह' (मानसरोवर, भाग1) कहानी में बाल–मनोविज्ञान के अतिरिक्त मुस्लिम–संस्कृति का भी एक चित्र प्रस्तुत किया गया है। प्रेमचंद दिखाते है कि मूलतः मुसलमानों की भी वही समस्याएँ है जो हिन्दुओं की है– भूख, गरीबी व अभाव। हामिद के रूप में प्रेमचंद ने एक अमर बाल–चरित्र की सृष्टि की है। हामिद के जीवन–संघर्ष के द्वारा प्रेमचंद ने वर्तमान अन्यायपूर्ण समाज–व्यवस्था के संबंध में अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। कहानी के अन्त में पाठक के मन में आज की उस समाज–व्यवस्था के प्रति एक तीव्र विरोध की भावना उठे बिना नहीं रहती, जो हामिद को उसमय ही प्रौढ़ो जैसा व्यवहार करने पर विवंश करती है। प्रेमचंद की ऐतिहासिक कहानियों की चर्चा करते हुए उनकी 'शतरंज के खिलाड़ी' (प्रेम द्वादशी) कहानी को भी नहीं छोड़ा जा सकता। 'शतरंज के खिलाड़ी' में प्रेमचंद ने ह्रासोन्मुख सामन्ती समाज–व्यवस्था के सामाजिक, नैतिक और चारित्रिक पतन का अत्यन्त मार्मिक व्यंगपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। 'शतरंज का खिलाड़ी' के माध्यम से उस युग का घोर आलस्यपूर्ण, विलासमग्न, उत्तरदायित्वहीन, अनैतिक तथा आसामाजिक जीवन मूर्त हो उठा है। शतरंज के खिलाड़ी व्यक्तिगत रूप से कायर नहीं हैं। लेकिन राष्ट्रीय और सामाजिक रूप से कायर और क्लीव व्यक्तियों से भी बढ़कर हैं। मिजी सज्जादअली और मीर रोशनअली प्रेमचंद की कुछ सर्वश्रेष्ठ चरित्र–सृष्टियों में से है। हिन्दुस्तान आज स्वतंत्र हो चुका है, किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश में आज भी अनेक मिजी सज्जादअली और मीर रोशनअली विद्यमान हैं, जो कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' के अस्वस्थ एवं घोर असामाजिक जीवन–दर्शन में विश्वास रखते है। मिजी और मीर जैसे व्यक्तियों के कारण हिन्दुस्तान को गुलामी का तौक पहनना पड़ा था। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी को ऐतिहासिक केवल इस अर्थ में कहा जा सकता है कि

[1] मानसरोवर, भाग 1 पृ० 210

उसमें कहानीकार ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी है, वर्ना वह एक शुद्ध राजनीतिक और सामाजिक व्यंग्य है। प्रस्तुत कहानी में व्यंग्यकार प्रेमचंद को अपनी उत्कृष्टतम रूप में देखा जा सकता है।

'प्रेम–पूर्णिमा' (सन् 1920) के प्रकाशन तक डॉ० राजेश्वर गुरू प्रेमचंद की कहानियों का प्रारम्भिक काल मानते हैं। 'सप्त सरोज' और 'नवनिधि' की कहानियों की तरह इस सग्रह की अधिकांश कहानियाँ भी स्थूल आदर्शवाद से ओत–प्रोत तथा कच्ची भावुकता के रग में हुई थी। 'ईश्वरीय न्याय' में सत्य की अंतिम विजय दिखयी गयी है। प्रेमचंद दिखाते हैं कि मनुष्य मूलतः सत्यप्रिय और न्यायप्रिय होता है। स्वभावगत सत्य और परिस्थितिगत असत्य के इस संघर्ष में यदि किसी प्रकार मनुष्य के ह्रदय के तत्व को जागृत कर दिया जाए तो इसमें संदेह नहीं कि सत्य और न्याय की रक्षा एवं पुर्नस्थापन के लिए वह बडे–से–बड़ा त्याग और आत्म–बलिदान कर सकता है। महात्मागॉधी का ह्रदय–परिवर्तन इस सिद्धान्त जिसे हम उनकी राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक आदि मान्यताओं की धुरी कह सकते हैं – इसी विश्वास पर, इसी आस्था पर टिका हुआ है। 'ईश्वरीय न्याय' में प्रेमचन्द कहते हैं : "कुछ विद्वानों का कथन है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप की ओर होती है, पर यह कोरा अनुमान ही अनुमान है; बात अनुभवसिद्ध नहीं। सच तो यह है कि मनुष्य स्वभावतः पाप–भीरू होता है. . . . ।"[1] इसी संग्रह की 'शंखनाद' कहानी में भी प्रेमचन्द ने गांधीवाद के इस सिद्धान्त का अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं : "जिस तरह पत्थर और पानी में आग छिपी रहती है, उसी तरह मनुष्य के ह्रदय में भी – चाहे वह कैसा ही क्रूर और कठोर क्यों न हो, उत्कृष्ट और कोमल भाव छिपे रहते हैं।"[2] 'बेटी का धन' (प्रेम–पूर्णिमा) कहानी में भी इसी सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इसमें दिखाया गया है कि सूदखोर महाजन भी सर्वथा ह्रदयहीन और क्रूर नहीं होते। प्रेमचन्द के महाजन सिर्फ सूदखोर ही नहीं हैं, उनमें कुछ उदार ह्रदय वाले भी हैं। 'बेटी का धन' का झगडू साहू और 'मूक्तिधन' (मानसरोवर, भाग 3) का दाऊदयाल ऐसे ही उदार – ह्रदय महाजन हैं। मनुष्य–ह्रदय के देवत्व की प्रबलता को प्रेमचन्द ने अपनी कतिपय अन्य कहानियों का भी विषय बनाया है। उदाहरण के

[1] प्रेम–पूर्णिमा, पृ० 13 (दसवॉ सस्करण, सं० 2011)
[2] वही, पृ० 41

लिए उनकी 'माता का ह्रदय' (मानसरोवर, भाग 3) और 'शूद्रा' (मानसरोवर, भाग 2) कहानियो का उल्लेख किया जा सकता है। 'माता का ह्रदय' में दिखाया गया है कि मनुष्य के ह्रदय में स्थित देवता इतना प्रबल होता है कि वह मनुष्य को अनजाने ही भलाई की ओर प्रेरित करता है।[1] 'शुद्रा' में भी प्रेमचन्द ने अपने इसी गांधीवादी विश्वास को वाणी दी है कि क्रूर–से–क्रूर अत्याचारी में भी मानवीय भावों को उद्‌बुद्ध किया जा सकता है। 'शुद्रा' के जण्ट साहब का ह्रदय–परिवर्तन अविश्वसनीय अवश्य है, किन्तु सर्वथा असभव नहीं। 'माता का ह्रदय' कहानी में पुलिस के हथकण्डों का भी वर्णन किया गया है। राजनीतिक कार्यकर्ताओं को चोरी–डाके के झूठे अपराधों में फाँसकर लंबी–लंबी सजाएँ दिलाना साम्राज्यवाद की पुरानी नीति रही है। अपने समय के अन्य सैकड़ों–हजारों देशभक्त नवयुवकों की तरह प्रस्तुत कहानी का आत्मानन्द भी साम्राज्य की इस नीति का शिकार बनता है।[2]

'सेवामार्ग' (प्रेम–पूर्णिमा) में प्रेमचन्द ने गांधीवाद के एक अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कहानी का बाह्य आवरण अलौकिकता से परिपूर्ण हं, किन्तु उसके माध्यम से एक नितान्त लौकिक एवं मानवीय सत्य का उद्‌घाटन किया गया है। वह सत्य है – निस्स्वार्थ और फल की आशा के बिना की जाने वाली सेवा ही सच्चे आत्मिक संतोष का मार्ग है, धन और विलास के मार्ग से वह तोष नहीं प्राप्त हो सकता। हम देख चुके हैं कि 'कायाकल्प' में भी प्रेमचन्द ने अलौकिक तथा अतिमानवीय घटनाओं के माध्यम से इसी सत्य का उद्‌घाटन किया है।

'प्रेम–पूर्णिमा' में एक ऐसी कहानी भी है जो प्रेमचन्द की निरन्तर विकसित हो रही सामाजिक चेतना का दिग्दर्शन कराती है। 'बलिदान' में प्रेमचन्द ने एक किसान को मजदूर होते दिखाया है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि आज से बीस वर्ष पूव्र हरखचन्द्र कुरमी के यहाँ शक्कर बनती थी और कई हल की खेती होती थी, लेकिन विदेशी चीनी ने उसका मटियामेट कर दिया। सत्तर वर्ष का बूढ़ा हरखू जो पहिले एक तकियेदार माचे पर बैठा हुआ

---

[1] मानसरोवर, भाग 3 पृ० 101

[2] ''आत्मानन्द के सेवा–कार्य ने, उसकी वक्तृताओं ने और उसके राजनीतिक लेखो न उसे सरकारी कर्मचारियो की नजरो मे चढा दिया था। सारा पुलिस–विभाग नीचे से ऊपर तक, उससे सतर्क रहता था, सबकी निगाहे उस पर लगी रहती थीं। आखिर जिले मे 'एक भयकर डाके ने उन्हे इच्छित अवसर प्रदानप कर दिया। आत्मानन्द के घर की तलाशी हुई, कुछ पत्र और लेख मिले जिन्हे पुलिस ने डाके का बीजक सिद्ध किया। लयभग 20 युवकों की एक टोली फास ली गयी। आत्मानन्द इनका मुखिया ठहराया गया। शहादतें तैयार हुई। इस बेकारी और गिरानी के जमाने में आत्मा से ज्यादा सस्ती और कौन वस्तु हो सकती है! बेचने को और किसी के पास

नारियल पिया करता था, अब सिर पर टोकरी लिए खाद फेकता है।[1] किसान से मजदूर होने की यह कहानी उस समय अपने निर्मम किन्तु यर्थाथ चरमान्त पर पहुँच जाती है जब कि हरखू का पोता 20) मासिक पर एक ईंट के भट्टे पर काम करने लगता है।[2] इस प्रकार पूंजीवाद की बाढ़ में एक और किसान परिवार बह जाता है। इस संबन्ध में 'गोदान' में पूंजीवादी सभ्यता के जिस निर्मम सत्य का उद्घाटन किया गया है, प्रस्तुत कहानी में भी उसी सच्चाई को चित्रित किया गया है।

यहाँ पर 'प्रेम–पूर्णिमा' की एक अन्य कहानी 'शिकारी राजकुमार' का उल्लेख किया जा सकता है। कथावस्तु, चरित्र–चित्रण और कलात्मक दृष्टि से यह एक साधारण कहानी है, किन्तु इसकी विशेषता इस बात में है कि इसमें प्रेमचन्द के उस मानववादी रूप का दर्शन होता है जो अन्याय–प्रतिकार में सदैव तत्पर रहता था। 'शिकारी – राजकुमार' में प्रेमचन्द ने मनुष्यरूपी कतिपय ऐसे हिंस्र जीवों – डाकू, महंत और अन्यायी राज्य कर्मचारी – का परिचय दिया है जो इंसानों के रक्त और मांस पर जीवित रहते हैं। प्रेमचन्द शिकारी राजकुमार को भोले–भाले और निरीह जानवरों को मारने के बजाए इन मनुष्यरूपी हिंस्र जीवों का शिकार करने के लिए प्रेरित करते हैं। कलात्मक दृष्टि से यह एक असफल कहानी है, क्योंकि उसकी उद्देश्यमूलकता सूक्ष्म और सांकेतिक न रहकर स्थूल और उपदेशात्मक बन गई है।

'प्रेम–पचीसी' संग्रह में पहली बार कहानीकार प्रेमचन्द की सामाजिक और राजनीतिक चेतना का क्रमशः प्रखर होता रूप दिखता है। 'प्रेम–पचीसी' का प्रकाशन 1923 ई० में हुआ था। प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' उपन्यास भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ था। स्वभावतः कहानीकार प्रेमचन्द को इस संग्रह की कहानियों में पहले–पहल सामाजिक प्रश्नों के अतिरिक्त आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों पर भी विचार करते देखते हैं। प्रेमचन्द के आर्थिक विचारों को जानने के लिए इस संग्रह की 'पशु से मनुष्य' कहानी का महत्त्व निर्विवाद है। इस कहानी का नायक प्रेमशंकर 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर का ही प्रतिरूप है। दोनों के विचारों में अद्भुत साम्य है। प्रेमचन्द प्रस्तुत कहानी में घोषित करते हैं कि पूंजी और श्रम में – शोषक और शोषितों में – आज जो संघर्ष चल रहा है, उसमें जल्द ही श्रम की – शोषितों

---

[1] "अब रह ही क्या गया है। नाममात्र का प्रलोभन देकर अच्छी–से–अच्छी शहादते मिल सकती हैं, और पुलिस के हाथों मे पडकर तो निकृष्ट से निकृष्ट गवाहियाँ भी देव वाणी का महत्व प्राप्त कर लेती हैं। शहादते मिल गयीं, महीने भर तक मुकदमा चला, मुकदमा क्या चला एक स्वाँग चलता रहा, और सारे अभियुक्तों को सजाएँ दे दी गयीं!"

– मानसरोवर, भाग ३ पृ० ६६

[2] प्रेम–पूर्णिमा, पृ० 151

की – विजय होने वाली है। यूँ तो आज से पहले भी पूंजी के प्रभुत्व को अनेक बार धक्का लग चुका है, लेकिन लक्षण बता रहे हैं कि इस बार पूंजी के प्रभुत्व की जो पराजय होगी वह अंतिम और निर्णायक होगी।[1] वर्त्तमान वर्ग संघर्ष में श्रम की इस विजय के पश्चात् जिस युग का आगमन होगा, वह सहकारिता का युग होगा।[2] वर्त्तमान समाज–व्यवस्था इतनी भ्रष्ट हो चुकी है कि उसमें परिश्रम का फायदा परिश्रम करने वाली बहुसंख्यक जनता को नहीं, वरन् उपजीवी वर्ग के कुछ अन्य व्यक्तियों को मिलता है। प्रेमचन्द मानते थे कि "यदि एक मजूर 5) रुपया में अपना निर्वाह कर सकता है, तो एक मानसिक काम करने वाले प्राणी के लिये इससे दुगुनी–तिगुनी आय काफी होनी चाहिये और यह अधिकता इसलिये कि उसे कुछ उत्तम भोजन, वस्त्र तथा सुख की आवश्यकता होती है। मगर पाँच और पाँच हजार, पचास और पचास हजार का अस्वाभाविक अन्तर क्यों हो? इतना ही नहीं, हमारा समाज पाँच और पाँच लाख के अन्तर का भी तिरस्कार नहीं करता; वरन् उसकी और भी प्रशंसा करता है।"[3]

प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्द ने अपने शिक्षा – संबंधी विचारों को भी व्यक्त किया है। वे मानते थे कि जो शिक्षा हमें दूसरों का शोषण करने के लिए प्रेरित और शिक्षित करे, वह शिक्षा नहीं भ्रष्टता है। शिक्षा वास्तव में प्रेम और सेवा का साधन है, शोषण का नहीं। वर्त्तमान शिक्षण – प्रणाली लोगों को घोर स्वार्थी, व्यक्तिवादी, अर्कमण्य, आलसी और निकम्मा बनाती है। यही कारण है कि आज का शिक्षित वर्ग दूसरों के श्रम के ऊपर ऐश करता है, स्वयं परिश्रम करना नहीं जानता।[4] हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बौद्धिक वाद–विवाद के आधिक्य के कारण प्रस्तुत कहानी 'कहानी' न रहकर एक भाषण' मात्र बन गई है। कहानीकार ने अपने सामाजिक–आर्थिक विचारों को इतनी स्पष्टता से प्रस्तुत करने का प्रयास किया हे कि कहानी की कलात्मकता पूर्णतः नष्ट हो गई है।

---

[1] प्रम–पचीसी, पृ० 23 (बनारस, 1958)

[2] वही, पृ० 20

[3] वही, पृ० 21-22

[4] "प्रेमशकर – +++ मुझे वर्त्तमान शिक्षा और सभ्यता पर विश्वास नही है। +++ जो शिक्षा हमें निर्बलों को सताने के लिए तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनाये, जो हमे भोग–विलास में डुबाये, जो हमे दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने का इच्छुक बनाये वह शिक्षा नही भ्रष्टता है। +++ हमने विद्या और बुद्धि – बल को विभूति के शिखर पर चढ़ने का मार्ग बना लिया। वास्तव मे वह सेवा और प्रेम का साधन था। +++ मैं समस्त शिक्षित समुदाय को केवल निकम्मा ही नहीं, वरन् अनर्थकारी भी समझता हूँ।"

प्रेम–पचीसी,

पृ० 20–21

प्रस्तुत संग्रह में प्रेमचन्द की कतिपय राजनीतिक कहानियाँ भी संकलित हैं। 'आदर्श विरोध' में उन राजनीतिक नेताओं पर व्यंग्य किया गया है जो अधिकार पाते ही पक्के शासन–भक्त हो जाते हैं। 'दुस्साहस' में गांधीजी के शराबबदी और नशाबंदी–आंदोलन का चित्रण है। इस कहानी के मुंशी मैकूलाल और उनके साथियों का जो हृदय–परिवर्तन दिखाया गया है, वह सर्वथा आकस्मिक अतः अस्वाभाविक है। अपनी एक अन्य कहानी 'राजभक्त' में प्रेमचन्द स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि "मानव–चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन बहुत कम हुआ करते हैं।"[1] 'सुहाग की साड़ी' में स्वदेशी–आंदोलन का चित्रण है। प्रेमचन्द दिखाते हैं कि स्वदेशी – आंदोलन के कारण असंख्य जुलाहों और कोरियों को बेकारी तथा दूसरों की गुलामी के शाप से मुक्ति मिल जाती है।[2] किन्तु प्रेमचन्द यह भूल जाते हैं कि इस आंदोलन का असली लाभ बड़े बड़े उद्योगपतियों और मिल–मालिकों को ही पहुँचा था, जुलाहों और कोरियों को नहीं। इस आंदोलन ने सूत और कपड़े के मिलों **(Textile industry)** के विकास में अभूतपूर्व योग दिया था। यही कारण है कि देश का पूँजीपति वर्ग गांधीजी के स्वदेशी और खद्दर–विकास कार्यक्रम का समर्थन करते हुए भी नए–नए कारखानें और मिलें स्थापित करता रहा।[3] स्वदेशी–आंदोलन के कारण देश के छोटे दूकानदार–वर्ग **(Petty ShopKeeper class)** को कितना पिसना पड़ा था, कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थीं – इसका चित्रण प्रेमचन्द ने अपनी 'तावान' (मानसरोवर, भाग 1) कहानी में किया है। प्रेमचन्द ने इस आंदोलन के एक ही पक्ष का चित्रण नहीं किया है – 'तावान' इसका प्रमाण है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने स्वदेशी – आंदोलन और कांग्रेस पर एक गहरा व्यंग्य किया है। कांग्रेस के स्वयं सेवकों और अधिकारियों का पुलिस को भी मात कर देने वाला निर्मम व्यवहार देखकर 'तावान' की अंबा पूछती है : "जो अभी इतने निर्दयी हैं, वह कुछ अधिकार हो जाने पर न्याय करेंगे।"[4] प्रस्तुत कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि इस आंदोलन का असली बोझा छकौड़ीमल, उसकी वृद्धा माता, रोगिणी पत्नी एवं उसके

---

[1] मानसरोवर, भाग 6 पृ० 269

[2] प्रेम पचीसी, पृ० 55–57

[3] **"The industrialists, with their historical sense and knowledge of laws of economy, did not regard Ghandhiji's parallel propaganda of khaddar as a danger to their industrial programme. In fact, while operating and multiplying modern machine-hbased industries in India and deriving profits out of them, some of them, anomalous though it be, donned handspun khaddar and even subsidized the khaddar movement."**

- Social Background of Indian Nationalism, P. 178

[4] मानसरोवर, भाग 1 पृ० 306 (नवाँ संस्करण)

पाँच बेटे–बेटियों को उठाना पड़ा था; जब कि उसका असली लाभ देश के उद्योगपति वर्ग को पहुँचा था।

'प्रेम–पचीसी' की सामाजिक कहानियों में भी हम प्रेमचन्द के इसी यथार्थोन्मुख रूप की झलक पाते हैं। 'नैराश्य – लीला' में एक ऐसी बाल–विधवा की कहानी कही गई है जो भगवद्भक्ति, समाज–सेवा आदि विभिन्न दिशाओं में अपनी शक्तियों का उपयोग करती है, किन्तु उसे पग–पग पर सन्देह और झूठे लांछनों का सामना करना पड़ता है। धीरे–धीरे वर्त्तमान पुरुष–प्रधान समाज–व्यवस्था के प्रति कैलाशी के मन में तीव्र विद्रोह के भाव जगने लगते हैं।[1] वह एकादशी और तीज के व्रतों को, जिनको वह अपने मृत पति के कल्याण की कामना से पिछले आठ वर्षों से रखती आ रही थी, रखना छोड़ देती है। वर्त्तमान समाज–व्यवस्था में स्त्री का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। वह अपनी आवश्यकताओं के लिए ही नहीं, अपने आत्म–सम्मान के लिए भी पुरुष की आश्रिता है। आज स्त्री का महत्व और उपयोगिता केवल दो रूपों में है – पुरुष के मान–बहलाव की सामग्री के रूप में तथा पुरुष के पुत्रों – वे पुत्र जो पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी और उसकी कुल का नाम चलाने वाले होते हैं– को जनम देने वाली के रूप में । दुर्भाग्य से यदि किसी स्त्री की कोख से केवल पड़कियाँ ही जन्म लें तो परिवार में उस स्त्री का जीवन नरक तुल्य हो जाता है। 'नैराश्य' (मानसरोवर, भाग 3) कहानी में प्रेमचन्द ने इसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्रण किया है।

विधवा समस्या पर प्रेमचन्द ने अपनी कुछ और कहानियों में भी विचार किया है, उदाहरणार्थ 'धिक्कार' (मानसरोवर, भाग 1)(धिक्कार शीर्षक से प्रेमचनद की एक और कहानी भी है, जो मानसरोवर, भाग 3 में संगृहीत है।), स्वामिनी (मानसरोवर, भाग 1) इत्यादि। लगभग एक ही समय की रचनाएँ होने पर भी उक्त दोनों कहानियों में प्रेमचन्द के दो रूप दृष्टिगत होते हैं। 'धिक्कार' की मानी और 'स्वामिनी' की प्यारी के चरित्रों में दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव जितना अंतर है। प्रेमचन्द मानी का पुनर्विवाह करवाकर भी उसका वैवाहिक जीवनल नहीं दिखा सके हैं। वह क्षणिक आवेश में आकर चलती गाड़ी से कूदकर

---

[1] 'कैलाशी – तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है। मुझ मे जीव और चेतना है, जड़ क्योंकर बन जाऊँ? मुझसे यह नही हो सकता कि अपने को अभागिनी दुखिया समझूँ और एक टुकडा रोटी खाकर पडी रहूँ। +++ मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग पग पर मुझ पर शका की जाय, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिये घूमता रहे कि किसी के खेत में न जा पड़ूँ।+++ यह दशा मेरे लिये असह्य है। +++ कुछ दिनो से उसे अपनी बेकसी का यर्थाथ ज्ञान होने लगा था। स्त्री पुरुषो के कितने अधीन है, मानों स्त्री विधाता ने इसीलिये बनायी है कि पुरुषों के अधीन रहे! यह सोचकर वह समाज के अत्याचारो पर दाँत पीसने लगती थी।"

आत्महत्याकर लेती है।[1] इसे हम मानी की मध्यवर्गीय दुर्बलता कहें अथवा उसके सृष्टा प्रेमचन्द की– बात एक ही है। मानी के विपरीत प्यारी एक स्वस्थ्य – तन से भी और मन से भी – स्त्री है, जो केवल अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी जीना जानती है। उसमें बाबू – सुलभ आत्मदंडीय प्रवृत्ति या मानसिक ग्रन्थियाँ और कुंठाएँ बिल्कुल नहीं हैं। वह भर–जवानी में विधवा हो जाती है, किन्तु वैधव्य का यह दुःख उसकी जीवनैषण को नष्ट नहीं कर पाता। वह प्रेमचन्द की पूर्णा(प्रतिज्ञा), गायत्री(कायाकल्प), रतन(गबन), मानी(धिक्कार) आदि विधवा चरित्रों से सर्वथा भिन्न है। प्यारी की इस अपूर्व जीवनैषणा का कारण यह है कि उसे परिश्रम से एक स्वाभाविक लगाव है। अपनी समस्त मर्यादावादिता के बावजूद कहानी के अंत में प्रेमचन्द ने प्यारी और हलवाहे जोखू के स्वस्थ प्रणय की एक मधुर झाँकी भी प्रस्तुत की है। मध्यवर्गीय लोगों की भाँति विधवा–विवाह के पक्ष–विपक्ष के सैद्धान्तिक विवाद में न पड़कर प्यारी अपने लिए एक स्वस्थ जीवन–मार्ग तथा साथी चुन लेती है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत कहानी के द्वारा प्रेमचन्द ने विधवा समस्या का एक स्वस्थ और व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत किया है।

विधवा – समस्या के अतिरिक्त अनमेल विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, दहेज की प्रथा, वेश्या – समस्या, मृतक भोज आदि समस्याओं पर भी प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में विचार किया है। 'नया विवाह' (मानसरोवर, भाग 2), नरक का मार्ग(मानसरोवर, भाग 3) आदि कहानियों में अनमेल विवाह या वृद्ध विवाह की समस्या को उठाया गया है। यों तो इस समस्या को 'सेवा सदन', 'निर्मला', 'कायाकल्प' और 'गबन' उपन्यासों में भी उठाया गया है; किन्तु 'नया विवाह' कहानी में उसे एक सर्वथा नए दृष्टिकोण से देखा गया है। प्रेमचन्द को आम तौर पर मर्यादावादी कहा जाता है, जो वे किसी हद तक हैं भी; किन्तु 'नया विवाह' में प्रेमचन्द ने अपनी मर्यादावादिता को ताक पर रख दिया है। प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्द लाला डंगामल की जवान पत्नी आशा को अपने युवक नौकर जुगल से प्रेम करते दिखाते हैं। प्रेमचन्द साहित्य में यह एक सर्वदा नवीन बात है। 'नरक का मार्ग' की नायिका भी अनमेल विवाह की शिकार है। अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को दबाने के लिए वह भक्ति का मार्ग अपनाती है, किन्तु भक्ति के पास उसकी समस्याओं का समाधान नहीं है। अंत में वह वेश्या हो जाती है। कहानी के अंत में कहानीकार एक शुष्क उपदेशक का रूप धारण कर लेता है, फलतः कहानी की समस्त प्रभावत्मकता नष्ट हो गई है।

---

[1] मानसरोवर, भाग 1

अपनी कुछ कहानियों में प्रेमचन्द ने अन्तर्जातीय विवाह की समस्या को भी उठाया हैं। उदाहरण के लिए उनकी कायर(मानसरोवर, भाग 1) कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। इस कहानी का नायक केशव एक ऐसा युवक है जो बातें बड़ी – बड़ी कर लेता है, किन्तु उन बातों को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति और साहस उसमें नहीं है। प्रेमचन्द कहते हैं : ''वह साधारण युवकों की तरह सिद्धान्तों के लिये बड़े बड़े तर्क कर सकता था, जबान से उनमें अपनी भक्ति को दोहाई दे सकता था; लेकिन इसके लिये यातनाएँ झेलने की सामर्थ्य उसमें न थी।''[1] केशव के विपरीत उसकी प्रेमिका प्रेमा बड़ी बड़ी बाते नहीं करती, लेकिन समय आने पर वह अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा त्याग कर सकती है। प्रेमा के पिता हालॉकि पुराने विचारों के व्यक्ति हैं, लेकिन उनमें भी केशव से अधिक साहस है। वह प्रेमा के अन्तर्जातीय विवाह के सबंध में अपनी पत्नी से कहते हैं: ''...... कुल मर्यादा के नाम को कहाँ तक रोयें +++ कुल मर्यादा के नाम पर मैं प्रेमा की हत्या नहीं कर सकता। दुनिया हँसती हो, हँसे; मगर वह जमाना बहुत जल्द आने वाला है, जब ये सभी बन्धन टूट जायेंगे। आज भी सैकड़ों विवाह जात–पाँत के बन्धनों को तोड़कर हो चुके हैं। अगर विवाह का उद्देश्य स्त्री और पुरुष का सुखमय जीवन है, तो हम प्रेमा की उपेक्षा नहीं कर सकते।''[2] केशव की कायरता से मर्माहत होकर प्रेमा आत्महत्या कर लेती है। स्पष्ट है कि प्रेमा का यह भावुकतापूर्ण और नकारात्मक कदम उसके चरित्र को गिराने वाला ही सिद्ध हुआ है। आत्महत्या करने के बजाए यदि वह केशव जैसे पुंसत्वहीन पुरुष की याद को भुलाकर अपने जीवन को नए सिरे से जीने का प्रयास करती तो जीवन का ज्यादा स्वस्थ आर्दश प्रस्तुत कर सकती थी। आत्महत्या को किसी भी परिस्थिति में उचित नहीं ठहराया जा सकता, प्रेम में असफल होने पर या मनचाहा वर न मिलने पर आत्महत्या करना तो और भी अनुचित, अनावश्यक तथा मूर्खतापूर्ण है। गांधीजी मानते थे कि यदि पढ़ी–लिखी लड़कियाँ भी वर न मिलने पर अथवा विवाह न होने पर आत्महत्या करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी शिक्षा व्यर्थ है। जो शिक्षण–प्रणाली हमें सामाजिक बुराइयों से

---

[1] मानसरोवर, भाग 1, पृ० 243

[2] वही, भाग 1, पृ० 240

लडने की शक्ति न प्रदान करे, उस प्रणाली में निस्सन्देह कोई मूलभूत कमी है।[1] अन्तर्जातीय विवाह के संबंध में भी गांधीजी के विचार इतने ही प्रगतिशील हैं। वे कहते हैं : ''लड़कियों के मां–बाप को अंग्रेजी डिग्रियों का मोह छोड़ देना चाहिये और अपनी लड़कियों के लिए सच्चे और बहादुर नौजवान ढूढंने के लिए अपनी छोटी जातियों और प्रांतों से बाहर निकलने में संकोच नहीं करना चाहिये।''[2] गांधीजी यह भी मानते थे कि दहेज की प्रथा उस समय तक समाप्त नहीं हो सकती जब तक किसी खास जाति के भीतर ही विवाह का बन्धन रहेगा। अतः यदि दहेज की बुराई को जड़ से मिटाना है तो लड़के–लड़कियों और उनके अभिभावकों को जाति का बन्धन तोड़ना ही पड़ेगा।[3]

दहेज प्रथा के संदर्भ में हम यहाँ पर प्रेमचन्द की दो कहानियों का उल्लेख करना चाहते हैं – 'एक आँच की कसर' (मानसरोवर, भाग 3) और 'उद्धार' (मानसरोवर, भाग 3)। 'एक आँच की कसर' ऐसे पाखण्डी की व्यंग्यपूर्ण कहानी है, जो दहेज का विरोध केवल इसलिए करते हैं क्योंकि इससे समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। प्रस्तुत कहानी के महाशय यशोदानन्दन एक ऐसे ही पाखण्डी समाज–सुधारक हैं, जो दहेज के विरोध में लंबे–चौड़े व्याख्यान देते हुए भी चोरी छिपे दहेज की रकमें लेते हैं। एक आँच की कसर मे यदि व्यंग्यकार प्रेमचन्द प्रमुख हैं तो उद्धार में आदर्शवादी प्रेमचन्द। दहेज की प्रथा के कारण हिन्दु समाज में लड़कियों की शादी एक समस्या बन गई है। इस संबंध में 'उद्धार' में प्रेमचन्द कहते हैं : ''हिन्दू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी दूषित, इतनी चिन्ताजनक, इतनी भयंकर हो गयी है कि कुछ समझ में नहीं आता, उसका सुधार क्योंकर हो। बिरले ही ऐसे माता पिता होंगे जिनके सात पुत्रों के बाद भी एक कन्या उत्पन्न हो जाय तो वह सहर्ष उसका स्वागत करें। कन्या का जन्म होते ही उसके विवाह की चिन्ता सिर पर सवार हो जाती है और आदमी उसी में डुबकियाँ खाने लगता है। अवस्था इतनी निराशामय और भयानक हो गयी है कि

---

[1] ''पढी–लिखी लडकियो को वर न मिले तो वे आत्महत्या करती हुअी क्यों पाअी जाय? अुनकी तालीम की कीमत ही क्या है अगर अिससे अुनके अैसे रिवाज को तोडने की शक्ति न आये जो किसी भी तरह बचाव करने के लायक नहीं है और जो नैतिक दृष्टि से अितना घृणित है? जवाब साफ है। जो शिक्षा–प्रणाली लड़के और लड़कियो को सामाजिक या दूसरी बुराअियों के साथ लडने के हथियार नही देती अुस प्रणाली मे जरूर कोअी न कोअी बुनियादी खराबी है।''

– स्त्रियां और अुनकी समस्यायें, पृ० 71

[2] वही, पृ० 70

[3] वही, पृ० 70–71

ऐसे माता–पिताओं की कमी नहीं है जो कन्या की मृत्यु पर हृदय से प्रसन्न होते हैं, मानों सिर से बाधा टली। इसका कारण केवल यही है कि दहेज की दर, दिन दूनी रात चौगुनी, पावस काल के जल–वेग के समान बढ़ती चली जा रही है।''[1] निस्सन्देह हिन्दू वैवाहिक प्रथा आज इतनी भ्रष्ट और दूषित हो चुकी है कि साधारण सुधारों से अब उसका जीर्णोद्धार संभव नहीं रह गया है। किन्तु यह कहना उचित नहीं होगा कि केवल दहेज की प्रथा ही वह कारण हे जिसकी वजह से सात पुत्रों के बाद उत्पन्न होने वाली कन्या का भी सहर्ष स्वागत नहीं किया जाता। इसका मूल कारण वह सामन्ती समाज–व्यवस्था है, जिसमें स्त्री का समाज के एक उपयोगी (आर्थिक दृष्टि से भी) और आवश्यक सदस्य (इकाई) के रूप में कोई महत्व नहीं है। स्पष्ट है कि जब तक स्त्रियों के सबंध में वर्तमान सामन्ती दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन नही होता, तब तक कन्या के जन्म को इसी तरह अशुभ और अनिष्टकारी समझा जाता रहेगा।

वर्तमान समाज–व्यवस्था में स्त्री की स्थिति पर विचार करते हुए प्रेमचन्द ने कई कहानियाँ लिखी हैं, यथा कुसुम (मानसरोवर, भाग 2) सोहाग का शव(मानसरोवर, भाग 5), शांति (मानसरोवर, भाग ७) (नारी जीवन की कहानियाँ संग्रह में यही कहानी अंतिम शांति शीर्षक से संकलित है।), उन्माद (मानसरोवर, भाग 2), दो सखियाँ (मानसरोवर, भाग 4) आदि। इन सभी कहानियों में प्रेमचन्द ने स्त्री पुरुष के समानाधिकार के सिद्धान्त का समर्थन एवं प्रतिपादन किया है। कुसुम में प्रेमचन्द ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है : अगर पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में स्त्री को हर समय धर्म, त्याग, पति सेवा, संतोष, सयम आदि का पाठ पढ़ाया जाता है : जिसका उद्देश्य स्त्री के आत्म सम्मान, आत्म विश्वास, आत्म निर्भरता, स्वाधीनता आदि भावों को कुचलकर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व विकास के मार्ग को अवरूद्ध करना है। प्रेमचन्द इस तथ्य से परिचित थे। इसलिये कुसुम में वे कहते है : ''स्त्रियों को धर्म और त्याग का पाठ पढ़ा पढ़ा कर हमने उनके आत्म सम्मान और आत्म विश्वास दोनों ही का अन्त कर दिया है। ''[2] प्रेमचन्द इस बात को जानते और अनुभव करते थे कि सुखमय और स्वस्थ दाम्पत्य जीवन की नींव स्त्री पुरुष के अधिकार साम्य पर ही रखी जा सकती है।[3]

---

[1] मानसरोवर, भाग 3 पृ० 38
[2] मानसरोवर, भाग 3 पृ० 38
[3] वही, भाग 2 पृ० 13

सोहाग का शव और दो सखियाँ कहानियों में इसी समस्या पर और अधिक विस्तार से विचार किया गया है। पत्रात्मक शैली में लिखित दो सखियॉ कहानी को कहानी कहने की अपेक्षा लघु उपन्यास कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। इसमें प्रेमचन्द ने क्रमशः प्राचीन और नवीन आदर्शो की भक्त दो सखियों के माध्यम से वैवाहिक प्रथा, नारी की स्वाधीनता, स्त्री और पुरुष के सामानाधिकार आदि प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रस्तुत कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द विवाह को एक सामाजिक समझौता **(Civil contract)** ही मानते थे, धार्मिक गठबंधन **(Sacrament)** नहीं। वैवाहिक प्रथा पर दो सखियों के विनोद के विचार प्रेमचन्द के ही विचार हैं। विनोद इस प्रथा को वर्तमान काल के लिए उपयोगी नहीं मानता। वह कहता है : "इस प्रथा का अविष्कार उस समय हुआ था, जब मनुष्य सभ्यता की प्रारंम्भिक दशा में था। तब से दुनिया बहुत आगे बढ़ी है। मगर विवाह प्रथा में जौ भर भी अन्तर नहीं पड़ा। यह प्रथा वर्तमान के लिए उपयोगी नही।"[1] इसके अनुसार इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह एक शुद्ध सामाजिक प्रश्न के धार्मिक रूप दे देती है। इसका दूसरा दोष यह है कि वह व्यक्तियों की स्वाधीनता में बाधक है। वर्तमान व्यवस्था में स्त्री का एकमात्र कर्तव्य पुरुष की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी – वह सम्पत्ति जिस पर उसका कोई अधिकार नहीं है – उत्पन्न करना है।[2] इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक समझौता मानते हुए भी विवाह का आदर्श यही होना चाहिए कि उसकी पवित्रता और स्थिरता की जीवन पर्यन्त रक्षा की जाय। वर्तमान वैवाहिक प्रथा के सुधार के नाम पर प्रेमचन्द मुक्त भोग या व्याभिचार को बढ़ावा नहीं देते थे।[3] मिस पद्मा (मानसरोवर, भाग 2) कहानी में प्रेमचन्द ने एक ऐसी आधुनिका का चित्रण किया है, जो विवाह को पराधीनता समझती है। मुक्त भोग को स्वाधीनता का पर्याय माननेवाली मिस पद्मा को एक ऐसा ही पुरुष मिल जाता है। अंत में जब वह पुरुष

---

[1] मानसरोवर, भाग **4** पृ० **240**

[2] "दूसरा यह कि यह व्यक्तियो की स्वाधीनता में बाधक है। यह स्त्री व्रत और पतिव्रत का स्वॉग रचकर हमारी आत्मा को सकुचित कर देता है। +++ इसने मिथ्या आदर्शों को हमारे सामने रख दिया और आज तक हम उन्हीं पुरानी, सड़ी हुई, लज्जाजनक, पाशविक लकीरो को पीटते जाते हैं। व्रत केवल एक निरर्थक बंधन का नाम है। इतना महत्वपूर्ण नाम देकर हमने उस कैद को धार्मिक रूप दे दिया है। पुरुष क्यो चाहता है कि स्त्री उसको अपना ईश्वर, अपना सर्वस्व समझे? केवल इसलिये कि वह उसका भरण पोषणकरता है? क्या स्त्री का कर्तव्य केवलपति की सम्पत्ति के लिए वारिस पैदा करना है? उस सम्पत्ति के लिए जिस पर, हिदू नीतिशास्त्र के अनुसार, सारा सगठन सम्पत्ति रक्षा के आधार पर हुआ है। इसने सम्पत्ति को प्रधान और व्यक्ति को गौण कर दियाहै। +++ मैं इस वैवाहिक प्रथा को सारी बुराइयों का मूल समझता हूँ।"

[3] मानसरोवर, भाग **4** पृ० **241**

है। कहानीकार ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कहा है, केवल परिस्थितियों के चित्रण के माध्यम से वह वर्तमान संस्कृति के प्रति हमारे मन में तीव्र घृणा के भाव जागृत करने में समर्थ हो सका है।

प्रेमचन्द का स्त्री संबंधी आर्दश जानने के लिए उनकी 'शांति' (मानसरोवर, भाग 7) का अध्ययन आवश्यक है। 'शांति' में पति की प्रेरणा से एक प्राचीना का आधुनिका के रूप में परिर्वतन और फिर उसके पुनर्परिवर्तन की गाथा कही गई है। नायिका के दोनों रूपों के जो शब्द चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, वे वास्तव में दो भिन्न जीवनादर्शों – परंपरागत भारतीय और पश्चिमी आदर्शों – के प्रतीक हैं।[1] कहानीकार दिखाता है कि प्राचीना के रूप में नायिका जब कि दूसरों के लिए जीती थी, आधुनिका बन जाने पर वह केवल अपने लिए जीती है। अब उसके ह्रदय से त्याग और सेवा के भाव सर्वथा लुप्त हो जाते हैं।[2] अंत में पतिदेव की आँखें खुलती हैं और वे कहते हैं : ''मैं फिर तुम्हें वही पहले की सी सलज्ज, नीचा सिर करके चलने वाली, पूजा करने वाली, रामायण पढ़ने वाली, घर का काम–काज करने वाली, चरखा कातने वाली, ईश्वर से डरने वाली, पति–श्रद्धा से परिपूर्ण स्त्री देखना चाहता हूँ। +++ मैं अब समझ गया कि उसी सादे पवित्र यौवन में वास्तविक सुख है।''[3]

प्राचीन भारतीय सामन्ती संस्कृति ने यदि स्त्री के समस्त अधिकारों को छीनकर उसे एक व्यक्ति, एक परिवार की इच्छाओं का दास बना दिया था तो आधुनिक पश्चिमी सभ्यता ने स्त्री–स्वाधीनता तथा समानाधिकार के नाम पर स्त्री को बाजार में बिकाऊ चीज **(Comodity)** मात्र बना दिया है। अपनी उन्माद (मानसरोवर, भाग २) कहानी में प्रेमचन्द ने इसी स्थिति का चित्रण किया है। 'उन्माद' में वे दिखाते हैं कि पश्चिमी सभ्यता में स्त्री

---

[1] प्राचीना के रूप मे –

'जब मैं ससुराल आई, तो बिलकुल फूहड थी। +++ सिर उठाकर किसी से बातचीत न कर सकती थी। ऑखे अपने आप झपक जाती थी। +++ उपन्यास, नाटक आदि के पढने मे आनन्द न आता था। फुर्सत मिलन पर रामायण पढती। उसमे मेरा मन बहुत लगता था। +++ मैं दिन–भर घर का कोई–न–कोई काम करती रहती। और कोई काम न रहता, तो चर्खे पर सूत कातती।''

–मानसरोवर, भाग 7 पृ० 80

आधुनिका के रूप में –

''में अब नित्य श्रृगार करती, नित्य नया रूप भरती केवल इसलिए कि क्लब में सबकी ऑखो में चुभ जाऊँ। अब मुझे बाबूजी के सेवा–सत्कार से अधिक अपने बनाव–श्रृगार की धुन रहती थी। +++ मेरी लज्जाशीलता की सीमाएँ विस्तृत हो गयीं। वह दृष्टिपात जो कभी मेरे शरीर के प्रत्येक रोएँ को खडा कर देता और वह हास्य–कटाक्ष, जो कभी मुझे विष खा लेने को प्रस्तुत कर देता, उनसे अब मुझे एक उन्मादपूर्ण हर्ष होता था।

वही, भाग 7 पृ० 89

[2] वही, भाग 7 पृ० 88

[3] वही, भाग 7 पृ० 93

का केवल व्यावसायिक महत्व रह गया है।[1] पूंजीवादी समाज–व्यवस्था ने सामन्तवादी, पितृ–सत्तावादी भावुकतापूर्ण पारिवारिक संबंधों का अंत करके उन्हें रुपये–आने–पाई के हृदयहीन औन नग्न स्वार्थपूर्ण संबंधों में परिणत कर दिया है।[2] मार्क्स और एंगेल्स क शब्दों में : ''पूँजीपति वर्ग ने पारिवारिक संबंधों के ऊपर से भावुकता का पर्दा उतार फेंका है और पारिवारिक संबंधों को केवल पैसे के संबंध में बदल दिया है।''[3] प्रेमचंद ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के मुकाबले में जहॉ आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का विरोध किया है, वहाँ वस्तुतः उन्होंने आधुनिक पूजीवादी समाज–व्यवसाा का ही विरोध किया है। यह बात दूसरी है कि ऐसा करते हुए प्रेमचंद अनजाने ही प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनर्स्थापना का स्वप्न देखने लगे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पूजीवादी समाज व्यवस्था के मुकाबले में प्राचीन सामन्ती समाज–व्यवस्था अधिक उदार ओर मानवीय थी, किन्तु स्पष्ट है कि उसकी पुनर्स्थापना **(revival)** असंभव ही नहीं अनावश्यक भी है। प्रेमचंद का आदर्शवाद इस बात में है कि वे पूजीवाद का विरोध करते हुए उसके स्थान पर सामन्तवाद को पुनः स्थापित करने का स्वप्न देखते थे।

प्रेमचंद की सामाजिक कहानियों पर विचार करते हुए उनकी उन कहानियों को भी नहीं छोड़ा जा सकता, जिनमें वेश्या–समस्या पर विचार किया गया है। इस संदर्भ में हम उनकी तीन कहानियों का उल्लेख करना चाहेंगे – 'वेश्या' (मानसरोवर, भाग 2), 'दो कब्रें' (मानसरोवर, भाग 4) तथा 'आगा–पीछा' (मानसरोवर, भाग 4)। पहली कहानी 'वेश्या' एकदम साधारण कहानी है, जिसमें कहानीकार ने वेश्या समस्या जैसी महत्त्वपूर्ण सामाजिक–आर्थिक समस्या को एक रईसज़ादे (सिंगारसिह) के सुधार की गौण तथा अमहत्त्वपूर्ण व्यक्तिगत समस्या के परिपार्श्व में देखने का प्रयास किया है। स्वभावतः कहानी में वेश्या–समस्या गौण और रईसज़ादे को वेश्या (माधुरी) के चॅगुल (?) से बचाने की समस्या प्रमुख हो गई है। माधुरी के अतिरिक्त कहानी के सभी पात्र निर्जीव पुतले मात्र हैं। सिंगारसिंह के नाम माधुरी का पत्र वर्त्तमान पुरुष–प्रधान समाज व्यवस्था पर एक तीखा

---

[1] ''मनहर के लिए इगलैंड एक दूसरी ही दुनिया थी, जहॉ उन्नति के मुख्य साधनो म एक रूपवती पत्नी का होना भी था। अगर पत्नी रूपवती है, चपल है, वाणी कुशल है, प्रगल्भ है तो समझ लो कि उसके पति को सोने की खान मिल गयी, अब वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। मनोयोग और तपस्या के बूते पर नहीं, पत्नी के प्रभाव आर आर्कषण के बूते पर।

[2] कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा – पत्र, पृ० ३७ (चौथा हिदी सस्करण)

[3] वही, पृ० ३८

व्यग्य है।[1] इस पत्र में माधुरी ने पुरुषों पर यह आरोप लगाया है कि वे स्त्रियों को न केवल वेश्या बनने पर विवश करते हैं, वरन् उन्हें मृत्यु–पर्यन्त वही घृणित और नारकीय जीवन बिताने पर भी मजबूर करते हैं। एक बार वेश्या हो जाने पर स्त्री को हमेशा के लिए 'नारीत्व के पवित्र मंदिर' से बहिष्कृत कर दिया जाता है। यही नही, उसकली संतान को भी पतित, कलंकित और अपवित्र समझा जाता है। इस प्रकार वेश्याओं की लड़कियों को अपनी बहू–बेटी बनाने से इनकार करके पुरुष वेश्या–प्रथा को हमंशा के लिए जीवित रखने का प्रयत्न करते हैं। 'दो कब्रें' और 'आगा–पीछा' कहानियों में प्रेमचन्द ने वेश्याओं की लड़कियों के नुर्वास **(Rehaboilitation)** की इसी समस्या को उठाया है। 'दो कब्रें' की सुलोचना और 'आगा–पीछा' की श्रद्धा वेश्या–पुत्रियाँ हैं किन्तु उनकी शिक्षा–दीक्षा और पालन–पोषण सर्वथा भिन्न वातावरण तथा परिस्थितियों में होता है। वे सभी दृष्टियों से 'नारीत्व के पवित्र मदिर' में प्रवेश पाने तिाि समाज के सम्मानित सदस्य बनने की हकदार हैं, किन्तु वर्त्तमान समाज–व्यवस्था उन्हें फिर भी संदेह की दृष्टि से देखती है। प्रोफेसर रामेन्द्र ('दो कब्रें) और भगतराम एम० ए० ('आगा–पीछा') जैसे उच्च शिक्षा – प्राप्त पुरुष भी अपने मन से इस सदेह को नहीं निकाल पाते। सुलोचना में काफी विद्रोहात्मकता है। वह अपने पति रामेन्द्र से स्त्री – पुरुष की समानता पर वाद–विवाद भी कर लेतली हैं, किन्तु कुल मिलाकर वह एक भावुक लड़की है। यही कारण है कि वह अपनी समस्या का समाधान मृत्यु में खोजती है। रामेन्द्र के विपरीत सुलोचना के पिता कुँवर साहब एक उदार, स्वच्छ और निर्मल चरित्र हैं। वेश्या–समस्या पर उनके विचार प्रेमचंद के ही विचार हैं। व मानते हैं कि आदमी मजबूर होकर ही बुराई के रास्ते पर चलता है। वे कहते हैं : "चोर केवल इसलिए चोरी नहीं करता कि चोरी में उसे विशेष आनन्द आता है; बल्कि केवल इसलिए कि जरूरत उसे मजबूर करती है। ++++ जिंदा रहने के लिए आदमी सब कुछ कर सकता

---

[1] "सरदार साहब! मैं आज कुछ दिनो के लिए यहाँ से जा रही हूँ, कब लौटूंगी, कुछ नही जानती। जा इसलिए रही हूँ कि इस बेशर्मी, बेहयाई की जिन्दगी से मुझे घृणा हो रही है, और घृणा हो रही है उन लम्पटों से, जिनके कुत्सित विलास का मैं खिलौना थी और जिनमे तुम मुख्या हो! तुम महीनो से मुझपर सोने और रेशम की वर्षा कर रहे हो, मगर मैं तुमसे पूछती हूँ उससे लाख गुने साने और दस लाख गुने रेशम पर भी तुम अपनी बहन या स्त्री को इस रूप के बाजार में बैठने दोगे? यह उन गीदडो और गिद्धो की मनोवृत्ति है जो किसी लाख को देखकर चारों ओर से जमा हा जाते हैं, और उसे नोच–नोचकर खाते हैं। यह समझ रखो, नारी अपना बस रहते हुए कभी पैसों के लिए अपने को समर्पित नही करती। यदि वह ऐसा कर रही है, तो समझ लो कि उसके लिए और कोई आश्रय, और कोई आधार नहीं है, और पुरुष इतना निर्लज्ज है कि उसकी दुरवसीा से अपनी वासना तृप्त करता है ओर इसके साथ ही इतना निर्दय कि उसके माथे पर पतिता का कलक लगाकर उसे उसी दुरवस्था मे मरत देखना चाहता है। क्या वह नारी नहीं है? क्या नारीत्व के पवित्र मन्दिर मे नसका स्थान नहीं है? लेकिन तुम उसे उस मन्दिर मे घुसने नही देते।"

—मानसराकर, भाम 2 पृ० 56–57 (सातवॉ सस्करण, 1957)

है। जिंदा रहना उतना ही कठिन होगा, बुराइयाँ भी उसी मात्रा में बढ़ेंगी, जितना ही आसान होगा, उतनी ही बुराइयाँ कम होंगी। हमारा यह पहला सिद्धान्त होना चाहिए कि जिंदा रहना हरेक के लिए सुलभ हो।"[1]

'प्रेम–पचीसी' संग्रह में एक अत्यन्त ही मार्मिक एव व्यंग्यपूर्ण लघु कथा 'ब्रह्म का स्वॉग' है, जिसमें सामाजिक समानता, राष्ट्रीय ऐक्य और आर्थिक साम्य का स्वॉग भरने वाले हमारे राष्ट्रीय नेताओं की कथनी और करनी के विभेद की पोल खोली गई है। प्रेमचन्द अपने युग के राष्ट्रीय नेताओं की असलियत से अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि ये नेता समानता की दुहाई अपने राजनीतिक पभाव को बढ़ाने तथा शासकों और जनता को भुलावे में रखने के लिए ही देते हैं।[2] प्रस्तुत कहानी में प्रेमचद के व्यंग्य में एक नई प्रखरता और पैनापन दिखाई देता है।

यधपि 'प्रेम–प्रसून' (सन् **1924**) संग्रह का प्रकाशन 'प्रेम–पचीसी' (सन् **1923**) के एक प्रकाशन के एक वर्ष पश्चात् हुआ था; किन्तु उसकी रचनाओं में प्रेमचन्द की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना का वह रूप नहीं मिलता जो 'प्रेम–पचीसी' की कहानियों में दिखाई देता है। 'प्रेम–प्रसून' में प्रेमचन्द की कुछ अतिशय भावुकतापूर्ण कहानियाँ संकलित हैं। 'यही मेरी मातृभूमि है' एक ऐसी ही कहानी है। इस कहानी का मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण के कारण भारतीय संस्कृति नष्ट होती जा रही है और हिन्दुस्तान 'हिन्दुस्तान' न रहकर 'यूरोप' या 'अमेरिका' बनता जा रहा है। साठ साल के बाद अमेरिका से स्वदेश लौटने वाला प्रवासी भारतीय यहाँ की दशा देखकर बरबस कह उठता है : "यह योरप है, अमरीका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है–कदापि नहीं।"[3] हिन्दुस्तान लौटने पर जिन–जिन बातों को देखकर प्रवासी भारतीय पश्चात्ताप के ऑसू बहाता है, उनमें से कोई भी ऐसी बात नहीं है जो पाठकों को यह विश्वास दिला सके कि हिन्दुस्तान 'हिन्दुस्तान' न रहकर 'यूरोप' या 'अमेरिका' हो गया है। इनमें सन्देह नहीं कि

---

[1] मानसरोवर, भाग **4** पृ० **46**

[2] "यह भेद सदा रहा है और रहेगा। मैं भी राष्ट्रीय ऐक्य का अनुरागी हूँ। समस्त शिक्षित समुदाय राष्ट्रीयता पर जान देता है। किन्तु कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता कि हम मजदूरों या सेवा–वृत्तिधारियो को समता का स्थान देंगे। हम उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं। उनको दीनावस्था से उठाना चाहते हैं। यह हवा ससार भर म फैली हुई है। इसका मर्म क्या है यह दिल म सभी समझते हैं, चाहे कोइ खोलकर न कहे। इसका अभिप्राय यही है कि हमारा राजनैतिक महत्त्व बढे, हमारा प्रभुत्व उदय हो, हमार राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव अधिक हो, हमे यह कहने का अधिकार हो जाय कि हमारी ध्वंनि केवल मुट्ठी भर शिक्षित वर्ग ही की नही वरन् समस्त जाति की संयुक्त ध्वनि है, ...।"

–प्रेम–पचीसी, पृ० **45–46**

[3] प्रेम–प्रसुन, पृ० **93** (बनारस, **1956**)

अग्रेजों के आगमन के पश्चात् भारतीय संस्कृति में निश्चित परिवर्तन–परिवर्द्धन हुआ है, किन्तु इस परिवर्तन–परिवर्द्धन पर आँसू बहाने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतिशय भावुकतापूर्ण प्रलापों के कारण प्रस्तुत कहानी की समस्त प्रभावात्मकता नष्ट हो गई है। 'यही मेरी मातृभूमि है' यद्यपि 'प्रेम–प्रसून' (सन् 1924) मे सग्रहित है, किन्तु लगता है कि यह प्रेमचन्द की एकदम आरंभिक कहानियों में से है। यहॉ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रेमचन्द के विभिन्न कहानी–संग्रहों में संकलित कहानियो को उसी काल की रचना नहीं माना जा सकता, जिस काल में वह संग्रह प्रकाशित हुआ था।

'प्रेम–प्रसून' में जहॉ 'यही मेरी मातृभूमि है' जैसी शुद्ध भावुकतापूर्ण कहानी है, यहाँ 'मृत्यु के पीछे' जैसी यथार्थोन्मुख कहानी भी है। 'मृत्यु के पीछे' एक ऐसे ईमानदार, सत्यनिष्ठ और न्यायपरायण पत्रकार की कहानी है, जो धन और श्रम के वर्त्तमान संघर्ष में श्रमजीवियों का साथ देता है।[1] यह कहानी वास्तव में स्वय पत्रकार प्रेमचन्द के संघर्षमय जीवन की ही गाथा है। इस कहानी को पढ़कर उन कठिनाइयों और यन्त्रनाओं का स्मरण हो आता है, जो 'हंस' को जीवित रखने के लिए प्रेमचन्द ने झेली थीं। ईश्वरचन्द की मृत्यु पर प्रेमचन्द ने जो पंक्तियॉ लिखी हैं, उन्हें आज का आलोचक स्वयं प्रेमचन्द के संदर्भ में दोहरा सकता है – ''उनका सारा जीवन सत्य के पोषण, न्याय की रक्षा और अन्याय के विरोध में कटा था। अपने सिद्धान्तों के पालन में उन्हें कितनी ही बार अधिकारियों की तीव्र दृष्टि का भाजन बनना पड़ा था, कितनी ही बार जनता का अविश्वास, यहाँ तक कि मित्रों की अवहेलना भी सहनी पड़ी थीं; पर उन्होंने अपनी आत्मा का कभी खून नहीं किया। आत्मा के गौरव के सामने धन को कुछ न समझा।''[2]

'प्रेम–प्रसून' संग्रह में ही एक कहानी है 'लाग–डॉंट', जिस पर महात्मा गांधी के सहयोग–आंदोलन का अत्यन्त गहरा प्रभाव है। कहानी–कला की दृष्टि से 'लाग–डॉंट' को एक उच्च कोटि की रचना नहीं माना जा सकता। इसका महत्त्व असहयोग–आंदोलन के युग की विभिन्न हलचलों के विश्वसनीय चित्रण के कारण है, कला की दृष्टि से नहीं। इस

---

[1] ''देश मे धन और श्रम का सग्राम छिडा हुआ था। ईश्वरचन्द्र की सदय प्रकृति ने उन्हे श्रम का सपक्षी बना दिया था। धनवादियों का खडन और प्रतिवाद करते हुए उनके खून में गरमी आ जाती थी, शब्दो से चिनगारियॉ निकलने लगती थीं. ।''
– प्रेम–प्रसून, पृ० 83

[2] प्रेम–प्रसून, पृ० 85

कहानी में प्रेमचन्द बताते हैं कि स्वराज्य का अर्थ क्या है आंर उसकी प्राप्ति के उपाय क्या हें? प्रेमचन्द कहते हैं : ''अपने घर का बना हुआ गाढ़ा पहनो, अदालतों को त्यागो, नशेबाजी छोड़ो, अपने लड़कों को धर्म–कर्म सिखाओ, मेल से रहो–बस, यही स्वराज्य है। जो लोग कहते हैं कि स्वराज्य के लिए खून की नदी बहेगी, वे पागल हैं–उनकी बातों पर ध्यान मत दो।''[1] गांधी के असहयोग–आंदोलन ने भारत की शत–सहत्र ग्रामीण जनता के राजनीतिक ज्ञान की ही वृद्धि नहीं की थी, बल्कि उनमें अन्याय और अत्याचार–प्रतिकार की चेतना को भी विकसित किया था–यह इस कहानी से स्पष्ट हो जाता है।[2]

डॉ० राजेश्वर गुरू ने सन् **1920** से **1930–32** तक की प्रेमचन्द की कहानियों को विकास–युग की रचना माना है। इस युग को प्रेमचन्द की कहानियों का स्वर्ण–युग भी कह सकते हैं, क्योंकि इसी युग में उनकी कतिपय श्रेष्ठ यथार्थोन्मुख कहानियों का प्रणयन हुआ था। प्रेमचन्द की राजनीतिक कहानियों का संग्रह 'समर–यात्रा' भी इसी काल में प्रकाशित हुआ था। गांधीजी के असहयोग–आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा–आंदोलन के युग की विभिन्न गतिविधियों का जितना सूक्ष्म और यथार्थ चित्रण इस संग्रह की कहानियों में हुआ है, वह प्रेमचन्द के अन्य किसी कहानी–संग्रह में नहीं मिलता।

'समर–यात्रा' कहानी को एक सीमा तक इस संग्रह की प्रतिनिधि कहानी माना जा सकता है। आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी 'समर–यात्रा' को 'कहानी' न मानकर 'एक दिन की घटना–श्रृङ्खला' और 'समय की सीधी पगडंडी पर घटनाओं की परेड' मात्र मानते हैं।[3] 'समर–यात्रा' संग्रह की अन्य कहानियों के संबंध में भी किसी हद तक यही बात कही जा सकती है। कहानी के परंपराभुक्त तत्त्वों की दृष्टि से हो सकता है कि 'समर–यात्रा' कहानी को एक सफल कलाकृति न माना जाय, किन्तु यह स्पष्ट है कि केवल तत्त्वों के यान्त्रिक और रूढ़िग्रस्त आधार पर प्रेमचन्द के कथा–साहित्य का सही मूल्यांकन नहीं किया जा

---

[1] प्रेम–प्रसून, पृ० **100**

[2] ''चौधरी के उपेदेश सुनने के लिए जनता टूटती थी, लोगों को खड़े होने को जगह न मिलती। दिनों–दिन चौधरी का मान बढने लगा। उनके यहॉ नित्य पंचायतो और राष्ट्रोन्नति की चर्चा रहती। जनता को इन बातो में बड़ा आनन्द और उत्साह होता। उसके राजनीतिक ज्ञान की वृद्धि होती। वह अपना गौरव और महत्व समझने लगी, उसे अपनी सत्ता का अनुभव होने लगा। निरकुशता और अन्याय पर अब उसकी त्योरियॉ चढने लगी। उसे स्वतंत्रता का स्वाद मिला। घर की रूई, घर सूत, घर का कपडा, घर का भोजन, घर की अदालत, न पुलिस का भय, न अमलों की खुमशाद, सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करने लगी। कितनों ही ने नशेबाजी डोड़ दी, ।''

– प्रेम–प्रसून, पृ० **103**

[3] प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, पृ० **189**

सकता। कोई भी महान् एवं युग–प्रवर्त्तक साहित्यकार परपरा से चले आ रहे साहित्य के मानदण्डों के आधार पर अपनी रचनाओं की सृष्टि नहीं करता। अपनी रचनाओं के द्वारा वह साहित्य के नए मान और नए तत्त्व भी स्थापित करता है। प्रेमचन्द की 'समर–यात्रा' एक ऐसी ही कहानी है। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत कहानी मे सामयिक राजनीतिक हलचलों का अत्यन्त प्रत्यक्ष चित्रण हुआ है, किन्तु केवल इसीलिए तो उसके 'कहानीत्व' से इनकार नहीं किया जा सकता। 'समर–यात्रा' कहानी की सबसे बडी उपलब्धि इस बात में है कि उसमें प्रेमचन्द को तत्कालीन वातावरण के निर्माण में अद्भुत सफलता मिली है। नोहरी का विलक्षण और प्रेरक चरित्र इस कहानी की दूसरी बड़ी विशेषता है। नोहरी के चरित्र में तत्कालीन भारत की विद्रोही आत्मा सजीव–साकार हो उठी है। राष्ट्रीय नेता के रूप में महात्मा गांधी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपने कार्यक्रमों एवं आंदोलनों के प्रति देश की आम जनता में एक अपूर्व उत्साह का भाव उत्पन्न करने में सफल हो सके थे। इस क्षेत्र में गांधीजी की सफलता और उनके पूर्ववर्त्ती नेताओं की असफलता का रहस्य भी यही है। 'समर–यात्रा' की नोहरी और कोदई पराधीन भारत की उस अशिक्षित, सामाजिक–धार्मिक अंधविश्वासों में जकड़ी तथा पारस्परिक फूट और वैमनस्य के शाप से ग्रसित ग्रामीण जनता के प्रतिनिधि है, जो शताब्दियों तक दमन और शोषण को चुपचाप सहने के बाद गांधी की प्रेरणा से विदेशी साम्राज्यवाद को चुनौती देने के लिए कटिबद्ध हो रही थी। नगरों की राजनीतिक हलचलों से दूर रहने विदेशी साम्राज्य के जूए से मुक्ति पानी है। 'समर–यात्रा' की नोहरी कहती है : ''अब तो उस जोर–जुलुम का नाश होगा–हम और तुम क्या अभी बूढ़े होने जोग थे? हम पेट की आग ने जलाया है। बोलो ईमान से, यहाँ इतने आदमी हैं, किसी ने इधर छः महीने से पेट–भर रोटी खाई है? घी किसी को सूँघने को मिला है? कभी नींद–भर सोये हो? जिस ख़ेत का लगान तीन रूपये देते थे, अब उसी के नौ–दस देते हो। क्या धरती सोना उगलेगी? काम करते–करते छाती फट गयी। हमीं है कि इतना सहकर भी जीते हैं। दूसरा होता, तो या तो मार डालता, या मर जाता। धन्य हैं महात्मा और उनके चेले कि दोनों का दुःख समझते हैं, उनके उद्धार का जतन करते हैं! और

तो सभी हमें पीस कर हमारा रक्त निकालना जानते हैं।''[1] लाल पगड़ी के नाम से ही जिन गॉव वालों की रूह फ़ना होती थी, वे ही अब इतने निडर और निर्भय हो गए हैं कि एक मामूली बूढ़ी किसान–स्त्री भी साम्राज्य की संपूर्ण शक्ति के प्रतीक पुलिस दरोगा को ललकार कर कह सकती है : ''.......नोहरी पीछे से आकर बोली – क्या लाल पगड़ी बाँधकर तुम्हारी जीभ भी ऐंठ गई है? कोदई क्या तुम्हारे गुलाम हैं कि कोदइया – कोदइया कर रहे हो। हमारा ही पैसा खाते हो और हमी को आँखें दिखाते हो? तुम्हें लाज नहीं आती?''[2] ''बुढ़िया लाठी टेककर दरोगा की ओर घूरती हुई बोली – x x x तुम, जो घूस के रूपये खाते हो, जुआ खेलाते हो, चोरियाँ करवाते हो, डाके डलवाते हो, भले आदमियों को फँसाकर मुट्ठियाँ गर्म करते हो और अपने देवताओं की जूतियों पर नाक रगड़ते हो, तुम इन्हें बदमाश कहते हो।''[3]

गांधीजी मानते थे कि विदेशी साम्राज्य के विरूद्ध हमारी लड़ाई न्याय और सत्य की लड़ाई है, धर्मयुद्ध है; अतः उसमें हमारे साधन भी सत्य और न्यायपूर्ण होने चाहिए। साध्य और साधनों की एकता का सिद्धान्त गांधीवाद का आधारस्तभ है। 'समर–यात्रा' का नायक कहता है : ''हम न्याय और सत्य के लिए लड़ रहे हैं; इसलिए न्याय और सत्य ही के हथियारों से हमें लड़ना है। हमें ऐसे वीरों की जरूरत है, जो हिंसा और क्रोध को दिल से निकाल डालें और ईश्वर पर अटल विश्वास रखकर धर्म के लिए सब कुछ झेल सकें।''[4]

इस संग्रह की कहानियों की एक सामान्य विशेषता यह है कि उनमें प्रेमचन्द ने विदेशी साम्राज्य के निरंकुश और निर्मम दमन का लोमहर्षक तथा खून खौला देने वाला वर्णन किया है। इन कहानियों में प्रेमचन्द ने प्रेमशंकर, विनय, चक्रधर, अमरकांत आदि उच्च–मध्यवर्गीय नेताओं की कहानी नहीं, अपितु भारत की शत–सहस्र जनता के बलिदानों और वीरता की गाथा कही है। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में एक और सामान्य विशेषता

---

[1] समर–यात्रा पृ० 132–33 (छठवॉं सस्करण, 1958)
[2] वही, पृ० 135
[3] वही, पृ० 136
[4] समर–यात्रा, पृ० 134

और समानता यह पाई जाती है कि उन सभी में भारत की सघर्षशील स्त्रियों के अद्भुत जीवट और साहस का चित्रण किया गया है। 'जेल', 'पत्नी से पति', 'शराब की दूकान', 'जुलूस', 'आहुति', 'अनुभव', 'समर–यात्रा' इत्यादि इस संग्रह की अनेक कहानियों में हम स्त्रियों को राष्ट्रीय आंदोलन में आगे बढ़कर भाग लेते और पुरूषों का नेतृत्व करते देखते है। 'जेल' की मृदुला में हम अद्भुत राजनीतिक चेतना, सगठन और नेतृत्व की शक्ति एवं भारत के जागृत नारीत्व के दर्शन पाते हैं।

प्रेमचन्द के दब्बू–से–दब्बू और बड़े–से–बड़े राजभक्त पात्रों में भी राष्ट्रीय गौरव और आत्म–सम्मान की बहुत सजग भावना मिलती है। 'पत्नी से पति' के मिस्टर सेठ और 'इस्तीफा' के बाबू फतहचन्द प्रेमचन्द के ऐसे ही चरित्रों में से हैं। वे अपने अंग्रेज अफसरों से अपमान करवाकर चुपचाप नहीं बैठते।[1] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अपने अग्रेज अफसरों के प्रति मिस्टर सेठ और बाबू फतहचन्द का हिंसक व्यवहार गांधी–दर्शन के विपरीत है। गांधी–दर्शन किसी भी परिस्थिति में हिंसा के प्रयोग की आज्ञा नहीं देता। वह अन्यायी, अत्याचारी या अपमानकर्ता को प्रेम की शक्ति से जीतने का संदेश देता है। गांधी–दर्शन प्रेम का दर्शन है, घृणा या क्रोध का दर्शन नहीं।

'आहुति' कहानी में प्रेमचन्द ने स्वराज्य के संबंध मे अपनी कल्पना व्यक्त की है। प्रेमचन्द इस संबंध में पूर्णतः निर्भ्रान्त थे कि स्वराज्य प्राप्त हो जाने पर जमींदार, व्यापारी, वकील आदि का शोषण समाप्त हो जाएगा। वे मानते थे कि विदेशी के स्थाप पर स्वदेशी का, जॉन के स्थान पर गोविन्द का राज्य हो जाना ही स्वराज्य नहीं है। नामों या व्यक्तियों का बदल जाना मात्र ही स्वराज्य नहीं है। 'आहुति' की रूपमणि कहती है : "अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा–लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूंगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। x x x

---

[1] (क) "लेकिन मिस्टर सेठ भी मजबूत आदमी थे। यो वह हर तरह की खुशामद किया करते थे, लेकिन यह अपमान स्वीकार न कर सके। उन्होने रूल को तो हाथ पर लिया और एक डग आगे बढ़कर ऐसा घूँसा साहब के मुँह पर रसीद किया कि साहब की ऑखो के सामने अँधेरा छा गया। वह इस मुष्टिप्रहार के लिए तैयार न थे। उन्हें कई बार इसका अनुभव हो चुका था कि नेटिव बहुत शान्त, दब्बू और गमखोर होता है। विशेषकर साहबों के सामने तो उसकी जबान तक नहीं खुलती। कुर्सी पर बैठकर नाक का खून पोछने लगा।"

– समर–यात्रा, पृ० 42

(ख) "साहब ने बनावटी हँसी हँसकर कहा – वेल बाबूजी, आप बहुत दिल्लगी करता है। अगर हमने आपको बुरा बात कहा है, तो हम आपसे माफी मॉगता है।

"फतहचन्द–(डडा तौलकर) नही कान पकडो।

"साहब आसानी से इतनी जिल्लत न सह सके। लपककर उठे और चाहा कि फतहचन्द के हाथ से लकड़ी छीन लें, लेकिन फतहचन्द गाफिल न था। साहब मेज पर से उठने भी न पाये थे कि उसने डंडे का भरभूर और तुला हुआ हाथ चलाया।

कम–से–कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जाय।''[1] रूपमणि की यह घोषणा सिद्ध करती है कि गांधी–युग की विभिन्न हलचलों और गाधीजी के विभिन्न कार्यक्रमों से प्रभावित होते हुए भी प्रेमचन्द महात्मा गाधीसहित कांग्रेस के अन्य सभी नेताओं से बहुत आगे बढे हुए थे। 'जुलूस' कहानी में भी इसी तथ्य को प्रकट किया गया है। 'जुलूस' का मैकू इस रहस्य से परिचित है कि पूर्ण स्वराज्य के जुलूस में नगर का एक भी 'बड़ा आदमी' नजर क्यों नहीं आत? वह कहता है : ''बड़े आदमी क्यों जुलूस में आने लगे, उन्हें इस राज में कौन आराम नहीं है। बँगलों और महलों में रहते हैं, मोटरों पर घूमते हैं, साहबों के साथ दावतें खाते हैं, कौन तकलीफ है? मर तो हम लोग रहे हैं, जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं। इस बखत कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, कोई ग्रामोफोन लिये गाना सुनता होगा, कोई पारिक की सैर करता होगा, यहाँ आयें पुलिस के कोड़े खाने के लिए?''[2]

'समर–यात्रा' संग्रह में ही एक कहानी है 'कानूनी कुमार', जिसमें प्रेमचन्द ने केवल कानून की सहायता से ही समाज–सुधार करना चाहने वालों पर एक करारा व्यंग्य किया है। कहानी के अंत में कानूनी कुमार की पत्नी कहती है : ''मैं यह नहीं कहती कि सुधार जरूरी नहीं है। मैं भी शिक्षा का प्रचार चाहती हूँ, मैं भी बाल–विवाह बन्द करना चाहती हूं बीमारियाँ न फैलें; लेकिन कानून बनाकर, जबरदस्ती यह सुधार नहीं करना चाहती। लोगों में शिक्षा और जागृति फैलाओ, जिससे कानूनी भय के बगैर यह सुधार हो जाय।''[3] प्रेमचन्द की इस कहानी पर महात्मा गांधी के विचारों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। केवल कानून के द्वारा या केवल शिक्षा और जागृति के द्वारा कोई भी सुधार नहीं किया जा सकता। कानून तथा शिक्षा और जागृति एक–दूसरे के पूरक हैं, अतः इनके सम्मिलित प्रयत्नों से ही समाज–सुधार का काम पूरा किया जा सकता है।

---

[1] समर–यात्रा, पृ० 110
[2] समर–यात्रा, पृ० 83
[3] समर–यात्रा, पृ० 29

'समर–यात्रा' संग्रह की एक कहानी 'ठाकुर का कुआँ' में प्रेमचन्द ने अछूत–समस्या को उठाया है। 'ठाकुर का कुआँ' प्रेमचन्द की कुछ श्रेष्ठ यथार्थवादी कहानियों में से है। कहानीकार ने किसी आदर्श की स्थापना अथवा अछूतों की दशा सुधारने के लिए अपनी ओर से कोई सुझाव प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। वह एक छोटी किन्तु मार्मिक घटना को संक्षेप में प्रस्तुत–भर कर देता है। घटना इस तरह प्रस्तुत की गई है कि कहानी का अंत होते–होते वर्त्तमान सामाजिक वैषम्य तथा अछूतों के प्रति सवर्णों का अन्याय पूरी तीव्रता के साथ उभरकर पाठकों के मानस–चक्षुओं के समक्ष सजीव हो उठता है।

अछूत–समस्या के विभिन्न पहलुओं को लेकर प्रेमचन्द ने कई कहानियाँ लिखी हैं, यथा 'दूध का दाम' (मानसरोवर, भाग 2), 'सद्‌गति' (मानसरोवर, भाग 4), 'मंदिर' (मानसरोवर, भाग 5) आदि। प्रेमचन्द के अछूत चरित्रों में भी पर्याप्त विद्रोहात्मकता तथा सामाजिक अन्याय के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव मिलता है। 'ठाकुर का कुआँ' की गंगी और 'मंदिर' की सुखिया की विद्रोहात्मकता सूचित करती है कि अब यह अन्यायपूर्ण समाज–व्यवस्था – जिसमें बीमार जोखू को गंदा और बदबूदार पानी पीना पड़ता है, जिसमें सुखिया अपने मरणासन्न पुत्र के लिए मंदिर में जाकर प्रार्थना भी नहीं कर सकती – ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकती। गगी जानती है कि गॉव में जितने भी बड़े आदमी हैं; सब–के–सब चोर, बेईमान, धोखेबाज, जुआरी, घी में तेल मिलाने वाले और दूसरे की स्त्रियों को बुरी निगाह से ताकने वाले हैं।[1] गंगी या सुखिया के विपरीत 'सद्‌गति' के दुखी चमार में अपनी वर्त्तमान अवस्था के प्रति असंतोष या विद्रोह का भाव बिल्कुल नहीं है। यह ठीक है कि स्वयं दुखी चमार में अपनी दशा के प्रति किसी प्रकार का असन्तोष नहीं है, किन्तु उसकी मृत्यु के द्वारा प्रेमचन्द अपने पाठको के मन में वर्त्तमान समाज–व्यवस्था के प्रति घृणा एव आक्रोश का भाव उत्पन्न करने में सफल हो सके है। 'सद्‌गति' को हम प्रेमचन्द की श्रेष्ठ यथार्थवादी कहानियों मे रख सकते हैं।

पंडे–पुजारी तथा ब्राह्मण वर्ग के हथकण्डों का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द की लेखनी में एक अजीब पैनापन, तीव्रता, सजीवता और व्यंग्यतात्मकता – जिसमेंयत्र–तत्र हास्य का पुट भी मिला रहता है – आ जाती है। प्रस्तुत कहानी के पडितजी के चरित्र–चित्रण में भी

---

[1] "गगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबन्दियों और मजबूरियो पर चोटे करने लगा – हम क्यो नीच हैं और ये लोग क्यो ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले मे तागा डाल लेते हैं! यहाँ तो जितने हैं एक–से–एक छटे है। चोरी ये करे, जाल–फरेब ये करे, झूठे मुकदमे ये करे। x x x इन्हीं पडितजी के घर में तो बारहो मास जूआ होता है। यही साहूजी तो घी मे तेल मिलाकर बेचते हैं। ग ग ग कभी गॉव मे आ जाती हूँ, तो रस–भरी आँखो से देखने लगते हैं।"

यह बात देखी जा सकती है। 'सद्गति' के पंडित घासीराम का परिचय प्रेमचन्द इन शब्दों मे देते हैं : "पंडित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते। मुँह–हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी थी। उसके बाद आध घण्टे तक चन्दन रगड़ते, फिर आइने के सामने एक मिनके से माथे पर तिलक लगाते। चन्दन की दो रेखाओं के बीचमें लाल रोरी की बिन्दी होती थी। फिर छाती पर बाहों पर चन्दर की गोल–गोल मुद्रिकाएँ बनाते। फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घंटी बजाते। दस बजते–बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते। तब तक दो–चार जजमान द्वार पर आ जाते! ईशोपासना का तत्काल फल मिल जाता। वही उनकी खेती थी।"[1] प्रेमचन्द की यह विशेषता उनकी अनेक कहानियों में लक्षित की जा सकती है, यथा 'मनुष्य का परम–धर्म', 'गुरूमंत्र', 'सत्याग्रह' (मानसरोवर, भाग 3); 'निमन्त्रण' (मानसरोवर, भाग 5); 'सवा सेर गेहूँ' (मानसरोवर, भाग 4); 'मोटेराम की डायरी' (कफन) आदि।

कहानीकार प्रेमचन्द के यथार्थवाद का चरम विकास उनकी 'कफन' तथा 'पूस की रात' कहानियों मे मिलता है। 'कफन' और 'पूस की रात' मे प्रेमचन्द की कहानी कला का भी चरम विकास दिखाई देता है। इन कहानियों की विशेषता यह है कि इनमें व्यंजना के माध्यम से प्रस्तुत करने में सफल हो सका है। वर्त्तमान समाज–व्यवस्था पर जितना चुभता हुआ व्यंग्य प्रेमचन्द की 'कफन' कहानी में मिलता है, वह सभवतः उनके पूरे साहित्य में नहीं मिलेगा। इस कहानी के द्वारा प्रेमचन्द दिखाते हैं कि घीसू और माधव की अकर्मण्यता, बेईमानी, निठल्लेपन और हैवानियत की जिम्मेदारी पूरी समाज–व्यवस्था पर है; व्यक्तिगत रूप से घीसू और माधव पर नहीं। कहानी का स्वर विषादात्मक होते हुए भी उसका अंतिम प्रभाव विषादात्मक नहीं पड़ता।

'कफन' और 'पूस की रात' की महत्ता इस बात में है कि इन कहानियों में प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थ के ऊपर किसी वादगत सिद्धान्त को प्रमुखता देने का प्रयास नहीं किया

---

[1] मानसरोवर, भाग 4 पृ० 19

है। प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें किसी विशिष्ट वाद को कहानी का जामा पहनाने का अथवा सिद्धान्त को साहित्य के ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है।

''पूस की रात'' में दिखने वाली कला–व्यर्थता या कलाविहीनता उस कहानीपन से अलग है जिसका प्रचार छठे–सातवें दशकों में मध्यवर्गीय आग्रहों के शिकार लेखकों ने किया, जिसके प्रभाव में बंद होकर निजबद्ध रचनाकार ने उद्देश्यपरकता और प्रतिबद्धता पर चोट की। ''पूस की रात'' की ताकत का स्रोत उसका आंतरिक अनुशासन, उसका कलात्मक सतुलन आदि नहीं है कि बाद के लेखक इन, ''गुणों'' को आत्मसात करके ''कालजयी'' कृतिया लिख सकें। ''पूस की रात'' का स्रोत है लेखकीय समझ, जिसके दो पक्ष हैं। पहला वह जिसे लेखक ने अपने परिवेश को गहरी आलोचनात्मकता से परख से हासिल किया है, और जिसका संबंध तीसरे–चौथे दशकों की तीव्र तथा सघन राजनीतिक–वैचारिक प्रक्रिया से है। प्रेमचंद में सदा एक भोलापन सक्रिय रहा जिसके अधीन उन्हें एक वक्त सुधारवाद अच्छा लगा, और दूसरे वक्त गांधीवादी विचार पसंद आया। शायद ही कोई लेखक इतनी सरलता से एक समकालीन नेता के चिंतन को अपनी रचना की बनावट में, अपने पात्रों की संवेदना और चारित्रिकता में स्थापित करने का निर्णय लेता। ''भोलापन'' और ''सरलता'' उस लेखकीय ईमानदारी तथा गंभीर मानवीय प्रतिबद्धता को व्यक्त करने के लिए अतिशय सामान्य शब्द है जो प्रेमचंद में भी थी। फिर भी, इनकी एक अहमियत है। प्रेमचंद के लिए ये ऐसे गुण बन कर उभरे इनके सहारे लेखक ने बरसों, बल्कि दशकों तक अस्पष्ट एवं सास्कृतिक माहौल की प्रकृति का आकलन किया। और जब इतिहास की विभिन्न स्पष्ट तथा अस्पष्ट एवं सूक्ष्म अवस्थाओं के अतर्गत, ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान माहौल की प्रकृति में कमजोरियां नजर आने लगीं तो उक्त सरलता के कारण ही प्रेमचंद ने अपनी विचारधारा, अपने समाज–सिद्धांतों पर संदेह करके उनसे उत्तरोत्तर मुक्त होने की प्रक्रिया में प्रवेश किया। ''पूस की रात'' की ताकत तथा अपील का संबंध इस महत्वपूर्ण प्रक्रिया से है।

प्रेमचंद की लेखकीय समझ के दूसरे पक्ष का संबंध उस रचनागत वास्तविकता से है जिसके अंतर्गत रचनाकार अपनी कृति के भीतर स्थितियों, पात्रों, समस्याओं, प्रश्नों आदि से होने वाले सार्थक द्वंद्व में हिस्सा लेता है। स्थिति के तर्क में बंध कर विभिन्न पात्र अपने मानसिक–नैतिक स्तर के अनुसार व्यावहारिक निर्णय लेते हैं, जिनका असर फिर से स्थिति पर होता है। समाज–सापेक्ष महत्वपूर्ण लेखन में पात्रों, स्थितियों की मूर्तता एवं स्वतंत्रता को

पहचाना–स्वीकारा जाता है। इससे जाग्रत सृजनशीलता की बदौलत मानव जीवन और अनुभव के इतने आयाम खुल सकते हैं कि कृति में चित्रित एक विशेष स्थिति अपने तथा पहले के वक्त पर ही नहीं, आने वाले समय की अनेक सच्चाइयों पर भी टिप्पणी बन जाती है। ''पूस की रात'' में उत्पादक वर्ग के विकास की, उसकी प्रगति की कोई संभावना नजर नहीं आती, चूंकि समाज–संबधों के केंद्र में शोषण और असमानता नियामक तत्व की भांति मौजूद हैं। यह सच्चाई कहानी में पूरी शिद्दत के साथ विभिन्न वस्तुओं के (जिनमें निजी लेखकीय सोच भी महज एक इकाई के रूप में शामिल है) टकराव के दौरान खुलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस कहानी में प्रेमचंद की निजी सोच निर्णायक–नियामक भूमिका कम–अज़–कम सीमित अर्थ में नहीं है – प्रेमचंद अपनी सोच तथा अपनी राय को अनावश्यक महत्व नहीं देते, बल्कि रचना में एक तरह की नाटकीयता पैदा करते हैं।

यहाँ इस संबंध में 'डामुल का कैदी' (मानसरोवर, भाग 2) का उल्लेख करना चाहेंगे। 'डामुल का कैदी' में प्रेमचंद ने मजदूर–आंदोलन का गाधीवाद रूप प्रस्तुत किया है। कहानी का आरंभ यथार्थवादी स्तर पर होता है, किन्तु शीघ्र ही वह गाधीवादी हृदय–परिवर्तन और भगवद्भक्ति की भूलभुलैया में खो जाती है।

कहानीकार की अपेक्षा उपन्यासकार प्रेमचन्द में गाधीवादी सिद्धान्तों की अधिक सशक्त और सविस्तार अभिव्यक्ति मिलती है। यही कारण है कि एक–दो अपवादों को छोड़कर कहानीकार प्रेमचन्द उपन्यासकार प्रेमचन्द की भॉति सूरदास, विनय, चक्रधर, अमरकांत या प्रेमशंकर जैसे गाधीवादी पात्रों की सृष्टि नहीं कर सके हैं।

चतुर्थ अध्याय :

प्रेमचन्द का कथा साहित्य और हिंदी आलोचना

प्रेमचन्द का कथा साहित्य और हिन्दी आलोचना

प्रेमचन्द हमारे आलोचकों की सूझबूझ और क्षमता को परखने की कसौटी रहे हैं। एक हद तक शायद आज भी हैं। कोई आलोचक या सामान्य पाठक प्रेमचन्द को किस हद तक समझता है, यह बात इस तथ्य पर निर्भर करती है कि वह भारतीय समाज की बनावट और उसकी समस्याओं को किस हद तक समझता है। प्रेमचन्द का मूल्यांकन और उनके महत्व की स्वीकृति इस बात पर निर्भर है कि प्रेमचन्द के आलोचक का नजरिया साहित्य के प्रति क्या है, कुल मिलाकर उसका विश्व–दृष्टिकोण क्या है। प्रेमचन्द इसी अर्थ में कसौटी रहे हैं और आज भी हैं।

प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार और कहानीकार हैं और संभवतः आज भी उनकी लोकप्रियता की सीमा को अन्य कोई कथाकार नहीं लॉघ सका है। स्वभावतः उन पर बहुत बड़ी संख्या में आलोचनात्मक पुस्तके लिखी गई और प्रकाशित हुई है। आधुनिक युग में किसी भी साहित्यकार पर संभवतः इतना नहीं लिखा गया है जितना प्रेमचन्द पर।

प्रेमचन्द पर आरोप लगाने में पं० अवध उपाध्याय सबसे आगे थे, जिन्होंने **1926** में 'सरस्वती' और 'साहित्य–समालोचक' (भाग 2 भाग 3) में इस आशय के लेख लिखे थे। 'सरस्वती' के संपादक श्री नाथसिंह ने तो प्रेमचन्द पर अपने उपन्यास तक का प्लाट चुराने का हास्यास्पद आरोप लगाया था। प्रेमचन्द पर 'चोरी करने' का इल्जाम काफी पुराना है। एक जमाने में हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं ने उन पर जेहाद बोल दिया था। 'सुधा', 'माधुरी', 'सरस्वती', 'साहित्य–समालोचक', 'भारत' (दैनिक) में प्रेमचन्द की उपलब्धियों पर पानी फेरते हुए उन पर तरह–तरह के आरोप लगाये गये थे। इन आरोपों में हिस्सा लेने वालों में अवध उपाध्याय, जोशी बंधु, ब्रजरत्न जैसे नामी–गरामी लेखक एवं 'गुलाब' 'साहित्य–पाठक' जैसे छद्म नाम लेखक भी थे।[1] इतना ही नहीं 'मोटेराम शास्त्री' शीर्षक कहानी के लिए सन् **1929** में प्रेमचन्द पर मुकदमा भी चलाया गया। इसी पृष्ठभूमि में प्रेमचन्द को 'घृणा का प्रचारक' और ब्राह्मण विरोधी भी कहा गया था।

---

[1] रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, पृ० 34–35

जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय जैसे लोग प्रेमचन्द की आलोचना सीधे–साधे न करके व्याजस्तुति को अपनाते हैं। वे उनकी निन्दा इस तरह करते हैं कि वह प्रशंसा लगे और उनके महत्व को इस तरह नकारते हैं कि उनकी महत्ता को स्वीकार कर रहे हैं। 'गबन' की आलोचना करते हुए जैनेन्द्र ने समस्याओं के 'सरल समाधान' को प्रेमचन्द का दोष भी माना है और उन पर वे मुग्ध भी हुए थे। इसी तरह उन्होंने 'गोदान' को इस आधार पर असफल माना है कि प्रेमचन्द ने उसमें होरी को 'कुछ तात्कालिक परिस्थितियों या व्यक्तियों' द्वारा प्रताडित दिखाया है, 'जैसे कि होरी शिकार हो और दूसरे उसके शिकारी।' यानी, बात साफ हो जाती है कि जैनेन्द्र भी साहित्य मे वर्ग–संघर्ष और किसी भी तरह के उत्पीड़न का चित्रण करने के खिलाफ है। अज्ञेय प्रेमचन्द के साहित्य मे यह दोष दिखाते हैं कि उनके पात्र 'केवल एक परिपाटी के सॉचें में ढली हुई छायाएँ मात्र हैं तथा उनका शिक्षित मध्यमवर्गीय या उच्चवर्गीय पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वसनीय है। वे बड़ी उदारता से यह भी लिखते हैं कि 'प्रेमचन्द में यह दोष अनुभव की सीमा का दोष है' और साथ ही यह दावा भी करते हैं कि 'आख्यानसाहित्य को हमने प्रेमचन्द से आगे बढ़ाया है .... हम ज्यादा सफाई लाये हैं। प्रेमचन्द को 'आदर्शवादी' बताकर अज्ञेय जब यह लिखते हैं कि 'प्रेमचन्द का आदर्शवाद मानवता में आसक्ति रखता है' तो डॉ० नगेन्द्र और जैनेन्द्र कुमार की तरह उनका आशय भी वर्ग–निरपेक्ष 'मानवता' से ही है।[1] अज्ञेय के समानधर्मा धर्मवीर भारती प्रेमचन्द पर 'शार्टकट' अपनाने का आरोप लगाते हुए अपनी 'दूरदृष्टि' का परिचय इस तरह देते हैं "जिस बिन्दु पर स्थित होकर हमने मनुष्य को समझने का प्रयास किया है, विश्व–उपन्यास की तुलना में वह बिन्दु काफी सतही है। यह बात प्रेमचन्द के बारे में भी उसी तरह लागू होती है, यह स्वीकार करने में हमें कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए।[2] लगभग यही स्थिति निर्मल वर्मा की भी है, जो यह मानते हैं कि प्रेमचन्द के पास उपन्यास का सही ढाँचा नहीं था। वस्तुतः सभी तरह के पुरातनपंथी, कलावादी और आधुनिकतावादी प्रतिगामियों को प्रेमचन्द–साहित्य अपना सबसे बड़ा शत्रु दिखाई देता है। प्रेमचन्द पर हमला किये बगैर साहित्य में उनका निस्तार ही नहीं।

प्रतिक्रियावादी लेखकों की तरह बहुत से 'प्रगतिवादी' लेखकों ने भी प्रेमचन्द पर आक्षेप किये थे। डॉ० शर्मा के शब्दों में 'बायें बाजू के लोग प्रेमचन्द पर आक्षेप कर रहे थे

---

[1] सच्चिदानद वात्सायन 'अज्ञेय' (हिन्दी साहित्य एव आधुनिक परिदृश्य), पृ० 12, 13 आर 99

[2] आलोचना अक्टूबर 1954 सपादकीय

कि वे सुधारवादी हैं, होरी आखिर में हार जाता है, क्रान्ति नही होती, वगैरह, वगैरह।' इस प्रवति को 'वामपंथी अवसरवाद' बताते हुए डॉ० शर्मा ने 'प्रेमचन्द और उनका युग' के परवर्ती (1965) संस्करण में लिखा है कि 'जब कुछ तथाकथित प्रगतिवादी लेखक हिन्दी–आलोचना के क्षेत्र में अवतरित हुए तो उन्होंने कभी विश्व–साहित्य के नाम पर, कभी साम्यवादी यथार्थवाद के नाम पर प्रेमचन्द की भर्त्सना आरंम्भ की। जो काम दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी कर रहे थे, वही काम इन वामपंथी अवसरवादियों ने किया।'[1] कहना न होगा कि प्रेमचन्द का महत्व उजागर करते हुए डॉ० शर्मा ने इन सभी प्रवृत्तियो से जमकर लोहा लिया और इन्हें निरस्त कर दिया।

मुल्कराज आनन्द ने यह लिखकर कि 'उत्तर भारत मे लगभग अटूट सामंती परम्परा के दौरान सही अर्थ में कोई उपन्यास लिखा नहीं गया' एक तरह से प्रेमचन्द के अस्तित्व को ही नकार दिया। उन्होंने यह बात 'न्यू इंडियन लिटरेचर' पत्रिका में 1939 में लिखी भी। इतना ही नहीं पत्रिका के इसी अंक मे 'आन दी प्रोगेसिव राइटर्स मूवमेंट' शीर्षक अपने लेख में मुल्कराज आनन्द ने ढ़ेरो देशी–विदेशी लेखकों का उल्लेख करते हुए न केवल प्रेमचन्द का नाम छोड़ दिया था, बल्कि लखनऊ के सन् 1936 के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का जिसका सभापतित्व प्रेमचन्द ने किया था, कोई उल्लेख तक नहीं किया। शिवदान सिंह चौहान प्रेमचन्द को मूलतः गांधीजी के ही अनुयायी, बताकर सावधान करते हैं कि 'तत्काल प्रसिद्धि पा जाना कोई महानता का लक्षण नहीं है।' उनके मतानुसार 'प्रेमचन्द के अधिकतर उपन्यास कला की दृष्टि से .... कमजोर और शिथिल हैं' तथा 'विश्व–साहित्य में या भारतीय उपन्यास–साहित्य में ही उन्होंने कोई नया विकास किया हो, यह कहना कदाचित संभव नहीं है।' चौहान जी ने प्रेमचन्द के यथार्थवाद को 'प्रतिक्रियावादी', 'पूँजीवादी यथार्थवाद' और स्वयं प्रेमचन्द को सुधारवादी कहा था।[2] इसी तरह हंसराज रहबर ने भी प्रेमचन्द के यथार्थवाद को फ्लाबेयर मोपासाँ और जोला जैसे प्रकृतवादियों के समान बतलाते हुए 'तथ्यात्मक यथार्थवाद' कहा था।[3] उस समय के ज्यादातर 'प्रगतिवादी आलोचक और रचनाकार खुद को प्रेमचन्द से सैकड़ो कदम आगे समझते थे, जैसा कि 'हंस' के एक लेख में दावा भी किया गया था। इस उच्छेदवादी और संकीर्णतावादी रूझान की मिसाल आज भी मिल जाती है।

---

[1] प्रमचद और उनका युग, पृ० 56–57

[2] साहित्य की समस्याएँ – शिवदान सिह चौहान, पृ० 115–117

[3] 'प्रगतिवाद–पुर्नमूल्याकन' – हसराज रहबर, पृ० 59

संतुलित विवेचन की दृष्टि से प्रेमचन्द के संदर्भ में डॉ०रघुवंश का मत उल्लेखनीय है:—

"प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा—साहित्य को प्रायः किस्सागोई से रचना के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है, साथ ही उन्होंने लोक—कथा के तत्वों का रचनात्मक उपयोग करने का प्रयत्न किया है और सबसे महत्वपूर्ण काम उन्होंने यह किया कि जीवन के यथार्थ को कला के आधार के रूप में प्रतिष्ठित किया। इनके पूर्ववर्ती हिन्दी कथाकारों ने व्यापक जीवन को समस्याओं के रूप में ग्रहण किया था। उनके मन में पहले समस्याएँ और आदर्श रहे। फिर इन मानदंडों के आधार पर किसी जीवन—बिन्दु को नियोजित किया गया या यों कहिए कि इन सॉचो में जीवन को बाँधा गया। प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम अपने चतुर्दिक के जीवन में समस्याओं को देखा—परखा, फिर अपनी रचना में जीवन के मध्य समस्याओं को घटित होते व्यजित किया। यही कारण है कि प्रेमचन्द की चारित्रिक उद्‌भावनाएँ अपने सहज रूप के साथ वर्ग—चरित्रो में परिलक्षित होती हैं। फिर ये चरित्र मानवीय भावनाओं के स्तर पर प्रतिष्ठित हैं, जहॉ ये युग का अतिक्रमण भी कर जाते हैं।"[1]

प्रेमचंद के जीवन—काल में चला विभिन्न पत्र—पत्रिकाओं में निंदा अभियान

भारत में अभिजात वर्ग ने साहित्य और कला को आनंद से जोड़ा है, समाज से नहीं। अभिजात वर्ग साहित्य का उद्देश्य मात्र आनंद मानता है। और उसका कोई सरोकार समाज से नहीं रखता। इस वर्ग की दृष्टि में समाज से सरोकार रखना—साहित्य में प्रदूषण फैलाना है। जो वर्ण, धर्म को शाश्वत मानते हैं उस पर सामाजिक सरोकार रखने वाली रचनाएँ प्रहार करती हैं। प्रेमचंद सामाजिक सरोकार के रचनाकार हैं। उनकी रचनाएँ सामंती मूल्यों को चुनौती देती हैं, धर्म और सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न खड़े करती हैं जिसमें परंपरित मूल्यों पर चोट पड़ती है और उनका 'पैराडाइम' खिसकता है। इससे यह वर्ग तिलमिलाता है। प्रेमचंद के जीवन काल में चले निन्दा अभियान के पीछे अभिजात वर्ग की यही तिलमिलाहट है जो प्रेमचंद के ऊपर तरह—तरह के लाछन लगाता है और उनकी रचना—दृष्टि पर कठोर प्रहार करता है। मार्क्स, गाँधी और अबेडकर से प्रभावित 'पैराडाइम'

[1] 'प्रमचन्द की कहानियाँ और परिप्रक्ष्य' डॉ०रघुवश

उन लोगों का साहित्य रचता है जो अभी तक समाज और साहित्य दोनों से बहिष्कृत थे। प्रेमचद पुराने साहित्यक 'पैराडाइम' पर गहरी चोट करते है। परम्परित मूल्यों का समर्थक तिलमिलाकर प्रेमचंद पर वार करता है। इसकी शुरूआत अवध उपाध्याय के लेखों से होती है। वे जुलाई **1926** ई० से दिसम्बर **1926** ई० तक बराबर 'सरस्वती' में प्रेमचद के खिलाफ लिखते रहे। कभी 'रंगभूमि' को थैकरे के 'वैनिटी फेयर' की नकल कहा तो कभी 'प्रेमाश्रम' टाल्सटॉय के 'रिजरेक्शन' का। जब इतने से जी नहीं भरा तो बनारस के 'समालोचक' में और कुछ अन्य पत्रों में कहीं अपने नाम से तो कहीं छद्म नाम से यह कीचड उछालने का काम जारी रखा। 'कायाकल्प' को हाल केन के 'इटर्नल सिर्टी' की नकल कहा। 'कलम का सिपाही' में अमृत राय ने विस्तार से इन निन्दा अभियानों का ब्यौरा दिया है (पृ० **360** से **367** तक)। प्रेमचंद ने इन आरोपो का जबाब भी दिया। लेकिन असली जवाब स्वयं अवध उपाध्याय का वह पत्र है जो मुंशी जी के मरने पर अपने मित्र अन्नपूर्णानन्द को लिखा था–

'इस दुःखद समाचार ने मेरे हृदय को मथ डाला, मैं रो उठा क्योंकि मेरे हृदय में एक कसक रह गई। मैंने प्रेमचंद के सब ग्रथों का अध्ययन किया था और मैं भली–भाँति उनके गुणों से परिचित था। वास्तव में हिन्दी भाषा का एक स्तम्भ टूट गया, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक उठ गया, आज हमारे उपन्यास–सम्राट का देहावसान हो गया। परन्तु उनकी अमर कीर्ति की ध्वजा सदा फहराती रहेगी। मैं आज निस्संकोच भाव से कह रहा हूँ कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचंद की तरह प्रसिद्ध नहीं हो सका। भाषा प्रेमचंद की दासी–सी बन गई थी। उसे वे जैसे चाहते थे नचाते थे। मानव हृदय का ज्ञान भी उन्हें बहुत था। मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृतियों में अमर साहित्य की सामग्री है।' (–'कलम का सिपाही', पृ० **367**)।

जनवरी–फरवरी **1932** ई० में 'हंस' के आत्मकथांक को लेकर विवाद छिड़ गया। नन्ददुलारे वाजपेयी जो उसी साल एम० पास करके 'भारत' के सम्पादक बने थे, तरूवाई के आवेश में प्रेमचद का जमकर विरोध किया। वाजपेयी जी ने कहा कि प्रेमचंद का सबसे बड़ा दोष यही प्रोपेगेण्डा है। प्रेमचंद ने जवाब में कहा कि अगर प्रोपेगेण्डा न हो तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपेगेण्डा नहीं कर सकता वह विचार शून्य है और उसे

कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। यह बहस लम्बी चली और प्रेमचंद जी ने भी भरपूर प्रत्युत्तर दिया। इस विवाद का वास्तविक पटाक्षेप 5 फरवरी 1959 को आकाशवाणी से बोलते समय नन्द दुलारे वाजपेयी के उस कथन से होता है जहाँ वह याद करते हैं कि उन्होंने 'भारत' में प्रेमचंद पर काफी तीखा लेख लिखा था, जिसे पढ़कर मुंशी जी ने लिखा था– 'तारीफ तो बहुत से लोग करते हैं पर कमियों को दिखाने वाले नहीं मिलते। आपका मैं शुक्रगुजार हूँ, आपने कई मानों में मेरा उपकार किया।' ('कलम का सिपाही', पृ० 466 पर उद्धत)।

'सरस्वती' के सम्पादक ठाकुर श्रीनाथसिंह ने प्रेमचद पर आगबबूला होकर लिखा– 'उपन्यास–सम्राट कहलवाने के रोगी और अपने बुजुर्ग होने की धाक जमाने वाले मुंशी प्रेंमचंद आज लेखक से प्रकाशक भले ही बन गये हों, परंतु सम्पादन–कार्य किस चिड़िया का नाम है......... इसका उन्हें रत्ती भर भी ज्ञान नहीं। मुंशी प्रेमचंदजी का हम आदर करते हैं क्योंकि हिन्दी के वे किसी समय वे एक ढंगदार लेखक थे।' तीन महीने बाद उन्होंने लिखा 'घृणा के प्रचारक प्रेमचंद' और आरोप लगाया कि वे ब्राह्मणों के खिलाफ घृणा का प्रचार करते हैं। यह वाकया उस समय का है जब 'सद्‌गति' छपी थी। इस कहानी का हवाला देते हुए दिसम्बर 1933 की 'सरस्वती' में 'घृणा के प्रचारक प्रेमचंद' शीर्षक लेख में ठाकुर श्रीनाथसिंह ने लिखा– 'ग्राम्य जीवन का कितना अस्वाभाविक चित्रण है। ग्राम्य पंडित चमारों से कितनी घृणा करते हैं और उनकी स्त्रियाँ कितनी पत्थर ह्रदय होती हैं, इसका कुछ ठिकाना नहीं है।......... इलाहाबाद जिले का गाँव–गाँव हमारा देखा है। हमने देहात में एक भी पंडित ऐसा नहीं देखा जो चमारों से इतनी घृणा करता हो और एक भी पंडिताइन ऐसी नहीं देखी जो इस प्रकार पत्थरह्रदय हो।......... खेद है प्रेमचंद जी जैसे आदर्शवादी और राष्ट्रीयता का दंभ भरने वाले लेखक ने भारत के ग्राम्य जीवन का ऐसा भद्दा चित्र उपस्थित किया, जो किपलिंग के सिवा और किसी ने कभी नहीं किया।'

'प्रेमचंद जी इधर बहुत दिनों से शहरों में रह रहे हैं और उपन्यास और कहानियाँ लिखने के लिए विदेशी उपन्यासकारों की रचनाएँ बराबर पढ़ते रहते हैं। यही कारण है कि वे भारतीय संस्कृति से दिन पर दिन दूर होते जा रहे हैं।' अंत में श्रीनाथ सिंह ने लिखा :

'प्रेमचद जी की रचनाओं से ऐसे सैकड़ों स्थल उद्धृत किये जा सकते हैं जहाँ उन्होंने हिन्दुओं को, खासकर पंडितों को, अत्यंत ही घृणित रूप मे उपस्थित किया है। कहा जाता है कि लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। यदि प्रेमचद जी इस युग के प्रतिनिधि मान लिए जाएँ तो अब से पचास वर्ष बाद उनकी रचनाएँ जो पढेगे वे सन् 1932 के सामाजिक जीवन के बारे में क्या कहेंगे? यही न कि उस समय हिन्दुओं का, खासकर ब्राह्मणों का, जीवन घृणा का जीवन था। वे निर्दयी थे, जालिम थे, कट्टर थे, दयाहीन थे और पाखंडी थे। पर क्या यह सत्य है?'

मुंशी प्रेमचद ने उसी महीनें 'हंस' में इसका जवाब दिया – 'जीवन में घृणा का स्थान'। इसमें उन्होंने कहा कि घृणा का उद्देश्य ही यह है कि उससे बुराइयों का परिष्कार हो। पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियों के विरूद्ध हमारे अंदर जितनी ही प्रचड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी। जीवन में जब घृणा का इतना महत्व है तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है।

इसके ठीक बाद ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने 'भारत' में इन्हीं आरोपों को दुहराते हुए प्रेमचंद के खिलाफ एक लेख लिखा। प्रेमचंद ने फौरन 'जागरण' में इसका जवाब दिया (विस्तृत विवरण के लिए देखिये 'कलम का सिपाही', पृ० 500 से पृ० 503)। जाहिर है इस तरह के निन्दा अभियानो का उद्देश्य प्रेमचंद को नीचा दिखाना था। ये सारे आरोप व्यक्तिगत रागद्वेष से प्रेरित थे। इसी क्रम में एक अन्य उल्लेखनीय नाम है रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख का जिन्होंने पॉच–छः लेख विरोध में लिखे तथा इसी तरह के आरोप लगाये। इस तरह के कीचड़ उछाल प्रयत्नों को आलोचना नहीं कहा जा सकता। और न तो इसका प्रेमचंद के आलोचनात्मक मूल्यांकन से कोई संबंध है।

(क) प्रेमचंद के कथा साहित्य पर लिखी आलोचनाओं का विवरण

1. 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' (1933 ई०)– जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

यह प्रेमचंद पर पहली प्रगतिशील आलोचना पुस्तक है जो उनके जीवन काल (दिसम्बर 1933) में प्रकाशित हुई थी। एक तरफ प्रेमचंद के विरोधी आलोचक विभिन्न

पत्र–पत्रिकाओं में उनके खिलाफ जहर उगल रहे थे, उस समय सहानुभूतिपूर्वक प्रेमचद–साहित्य का अध्ययन और मूल्याकन करना, एक बडी बात थी। इस पुस्तक में औपन्यासिक तत्त्वों– वस्तु–विन्यास, चरित्र–चित्रण, कथोपकथन, भाषा–शैली, देश–काल और उद्देश्य के शास्त्रीय आधारों पर प्रेमचद के उपन्यासो को जाँचने–परखने का प्रयास किया गया है। यही नहीं इस पुस्तक में प्रेमचंद पर लगाये गये विभिन्न आक्षेपों का कडा प्रतिवाद भी किया गया है। प्रचलित आरोप था कि सामयिक समस्याओं का चित्रण करने वाला साहित्य स्थायी नहीं होता। इसका विरोध करते हुए झा ने कहा कि अपने समय का सच्चा चित्र खींचे बिना कोई भी कलाकार अपनी कला के द्वारा लोंक धर्म का पालन नहीं कर सकता। अनेक रचनाकारों से प्रेमचंद की तुलना करते हुए वे कहते हैं कि प्रेमचंद के उपन्यास भारत की उन गंभीर समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं जिनका संबंध एकमात्र भारत के हितो से नहीं, सारे संसार के हितो से है। इसी के अनुरूप वे प्रेमचंद के उपन्यासों को भारतीय और विश्वसाहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा की यह टिप्पणी पुस्तक की महत्ता पर प्रकाश डालती है:–

'जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की पुस्तक 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' प्रेमचंद पर, मेरी जानकारी में, पहली आलोचना पुस्तक है, वह निश्चय ही प्रेमचंद के उपन्यासों पर ध्यान केन्द्रित करने वाली पहली पुस्तक है और प्रगतिशील दृष्टिकोण से प्रेमचंद साहित्य का विश्लेषण करने वाली भी वह पहली पुस्तक है। 'प्रेमचंद अपने कथा–साहित्य में जो दृष्टि अपनाते है, उसी का प्रतिफलन झा की आलोचना है। इस प्रकार मूल कथा–साहित्य और उसकी आलोचना में यहाँ जबर्दस्त सामंजस्य है। यह इस पुस्तक का युगांतकारी महत्त्व है।' ('प्रेमचंद'–डॉ० रामविलास शर्मा, पृ०–16)।

2. 'प्रेमचंद: आलोचनात्मक परिचय' (1941) तथा 'प्रेमचंद और उनका युग (1952)'– डॉ० रामविलास शर्मा।

प्रेमचंद को लेकर डॉ० शर्मा की दो पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक के बारे में डॉ० शर्मा का कहना है कि उन्होंने इस किताब में मार्क्सवादी ढंग से प्रेमचंद का विश्लेषण करने की

कोशिश की है। मार्क्सवादी का अर्थ उनके अनुसार यह था कि प्रेमचंद ने विभिन्न वर्गों, समाज के विभिन्न स्तरों, समाज के मुख्य शत्रुओं के बारे में जो कुछ लिखा है उस पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। दूसरी पुस्तक के बारे मे वे कहते हैं : 'इसमें मैंने जो रास्ता अपनाया है वह यह कि वर्गों का अलग–अलग विश्लेषण करने के बदले कृतियों का विश्लेषण किया जाए। पहली किताब में मुझे यह कमी मालूम होती थी। उसमें वर्गों के बारे मे प्रेमचंद की समझ की स्थिति तो मालूम हो जाती है लेकिन उनकी किसी कृति के बारे में, उसकी सम्पूर्णता के बारे मे, उनका कोई मूल्यांकन नहीं होता।' इसलिए इस दूसरी किताब में डॉ० शर्मा ने अपना विश्लेषण मुख्यतः प्रेमचंद के उपन्यासों पर केन्द्रित किया है और उनका निष्कर्ष है : 'मैंने यह पाया कि उन्होंने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज का गहरा विश्लेषण किया है और अपने हर उपन्यास में उन्होंने कोई नई जमीन खोजी है। इस क्रम में समकालीन राजनीति और समकालीन साहित्य के लिए जो नतीजे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से निकलते हैं, उनको मैंने रेखांकित किया है।' इन दोंनो पुस्तकों में प्रेमचंद को लेकर जो समझ बनती है, वह एक अत्यन्त सतर्क और सजग लेखक की है जिसकी दृष्टि समाज की हर गतिविधि पर पैनी नजर रखे हुए हैं। उसके उतार–चढ़ाव, द्वन्द्व–सघर्ष को देख रही है और उसकं साथ ही अपना विकास करती हुई क्रमशः परिपक्व होती जा रही है।

प्रेमचंद संबंधी डॉ० शर्मा की आलोचना का प्रस्थान बिन्दु है उनका लेख 'प्रेमचंद' जो 1941 में लिखा गया था और उनकी पुस्तक 'परम्परा का मूल्याकन' में सकलित है जिसकी मूल मान्यता है : 'उन्होंने बहुत पहले अनुभव किया था कि किसी समाज की सभ्यता उसकी भीतरी व्यवस्था पर निर्भर रहती है। उन्होंने जिन सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की है, उनकी जड़ भी उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में खोज निकाली है। इसीलिए प्रेमचंद का विश्लेषण छिछला और सुधारवादी न होकर क्रान्तिकारी और सामाजिक व्यवस्था की जड़ पर आघात करने वाला हो ज़ाता है।' समाज की समस्याएँ, उसके कारण, उन्हें बनाये रखने वालों के वर्ग स्वार्थ उनके सामने स्पष्ट थे।

डॉ० रामविलास शर्मा के प्रेमचंद संबंधी विवेचन का महत्त्व यह है कि इस समर्थ कथाकार के वास्तविक रूप की पहचान संभव हो सकी अन्यथा इसके पूर्व डॉ० धर्मवीर भारती उनमें गहराई की कमी बता रहे थे और डॉ० नगेन्द्र वाणी के न्याय मंदिर में दोयम

दर्जे के साहित्यकार होने का फैसला सुना रहे थे। डॉ० रामविलास शर्मा के शब्दों मे– "प्रेमचंद पहले लेखक थे जिन्होंने दिखलाया कि हिंदुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन की रीढ़ यहाँ का किसान–आंदोलन है। वह पहले लेखक थे जिन्होंने जनसाधारण की शूरता, धीरता, त्याग और बलिदान के सद्‌गुणों का चित्रण करके हिन्दी साहित्य को वास्तविक जीवन के 'हीरो' दिए। प्रेमचंद हिंदुस्तानी कौम की भीतरी एकता कायम करने वाली एक जबरदस्त ताकत थे, इस कौम को तोड़ने वालों के वह सबसे बड़े दुश्मन थे। वह जाति को, पतन के गड्ढ़े में ढ़केलने वाले साहित्य के कटु समालोचक थे, वह हिंदुस्तानी जनता के नए सांस्कृतिक जागरण को प्रगट करने वाले प्रगतिशील साहित्य के अलंबरदार थे।" ('प्रेमचद और उनका युग', भूमिका)।

3. प्रकाश चन्द्र गुप्त : नया हिन्दी साहित्य (1946)

इसमें प्रेमचन्द पर तीन लेख हैं जो मामूली परिवर्तित रूप में 'प्रेमचन्द : कृतियाँ और कला', 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' संकलनों में भी छप चुके हैं। लेखों में कोई मौलिक विचार दिशा दृष्टिगोचर नहीं होती। 'प्रेमचन्द की उपन्यास–कला' शीषर्क लेखक में लेखक एक आध स्थलों पर आत्म–विरोधी बातें कह गया है।

4. 'प्रेमचन्द एक विवेचन' (1947 ई०) : डॉ० इन्द्रनाथ मदान

स्वयं लेखक के ही शब्दों में "जिस वर्ग–संघर्ष को उन्होंने (प्रेमचन्द ने) अपने उपन्यासों और कहानियों में इतनी स्पष्टता से चित्रित किया है, उसी वर्ग संघर्ष की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में उनकी कला का विवेचन और उनके मस्तिष्क का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। डॉ० मदान की इस आलोचना–कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका लेखक प्रेमचन्द के क्रान्तिकारी और प्रगतिशील स्वरूप को अंकित करने में सफल होकर भी कतिपय प्रगतिवादी आलोचकों की भाँति एकपक्षीय नहीं हुआ है और आद्योपांत

अपने दृष्टिकोण को संयत, उदार और वैज्ञानिक बनाए रखने में सफल हो सका है। हिन्दी–आलोचना की वर्तमान स्थिति में यह छोटी उपलब्धि नहीं है। प्रारम्भिक दो अध्यायों में प्रेमचन्द–युग की परिस्थितियों और प्रेमचन्द के जीवन का अध्ययन प्रस्तुत करने के पश्चात् विद्वान लेखन ने क्रमशः मध्यवर्ग, भूमिपति, उद्योगपति, किसान और अछूत आदि सामाजिक–आर्थिक (**Socio- Economic**) वर्गो के माध्यम से प्रेमचन्द के उपन्यासों को समझने–समझाने का एक विचारोत्तेजक प्रयास किया है। परिशिष्ट में प्रेमचन्द के दो महत्वपूर्ण पत्र दिए गए हैं।

5. 'प्रेमचन्द' (1948) तथा 'कलाकार प्रेमचन्द' : डाक्टर रामरतन भटनागर

डॉ० भटनागर की पहली पुस्तक शुद्ध छात्रोपयोगी, 'एक अध्ययन' श्रेणी का प्रयास है। उससे किसी प्रकार की मौलिकता की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। प्रेमचन्द के कतिपय अन्य आलोचकों की भाँति डॉ० भटनागर ने भी प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रकाशनकाल देते हुए आवश्यक सावधानी नहीं बरती है।[1] लाला श्री निवासदास कृत 'परीक्षा–गुरु' का समय भी गलत दिया गया है।[2]

पुस्तक विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। परीक्षापयोगी नोट्स के लेखकों से मौलिक चिन्तन की न सही पर कम से कम इतनी अपेक्षा तो की ही जाती है कि वे सही तथ्य दें। डॉ० भटनागर की यह पुस्तक प्रेमचन्द आलोचना को किसी भी तरह आगे नहीं बढ़ाती।

डॉ० भटनागर की दूसरी पुस्तक का स्तर पहली के मुकाबले काफी सन्तोषजनक है। 'कलाकार प्रेमचन्द' की सबसे कमजोरी उसकी भाषा है। अस्पष्ट और अव्यवस्थित भाषा उसके लेखक के अस्पष्ट और अव्यवस्थित चिन्तन को सूचित करती है।

---

[1] 'रगभूमि' सन् 1925 (प्रेमचन्द – डॉ० रामरतन भटनागर, पृ० 13
सन 1924 (वही पृ० 94)
'निर्मला' सन् 1923 (वही, पृ० 14)
सन 1927 (वही पृ० 141)
'गबन' सन् 1931 (वही, पृ० 13)
सन 1932 (वही, पृ० 135)

[2] " सबसे पहला उपन्यास स० 1943 मे लिखा गया । यह श्रीनिवासदास का 'परीक्षा–गुरू' वही, पृ० 200
" हिन्दी के पहले उपन्यास परीक्षा–गुरू (1886) से शुरू कीजिए, ... !" वही, पृ० 200

6. 'प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व' (1951 ई०) : हंसराज 'रहबर'

'श्री रहबर' की यह पुस्तक प्रेमचन्द के जीवन की घटनाओं के साथ उनके साहित्य का सामंजस्य स्थापित करने का अपनी तरह का पहला प्रयास है। बचपन, स्कूल, विद्यालय, स्कूल–मास्टर, कानपुर में, नया विवाह, इस्तीफा, घर में, प्रकाशक, प्रेस, फिल्म आदि शीर्षकों से पहली दृष्टि में भ्रम हो सकता है कि यह प्रेमचन्द की शुद्ध जीवन–गाथा मात्र है। पर वास्तव में यह जीवन के माध्यम से साहित्य तक और साहित्य के माध्यम से जीवन तक पहुॅचने का प्रेमचन्द–आलोचना में एक सर्वथा नवीन प्रयोग हे, जो निश्चय ही प्रेमचन्द और उनके साहित्यिक कृतित्व को और अधिक गहराई से समझने–समझाने में हमारी सहायता करता है। जनवादी दृष्टिकोण से लिखी जाकर भी पुस्तक सकीर्ण मतवादी आग्रहों से मुक्त है।

7. 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' (1952) : नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी की यह आलोचना–कृति प्रेमचन्द के साहित्य और उनकी विचारधारा को समझने का गंभीर प्रयास नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रेमचन्द' : साहित्यिक विवेचन' की रचना एक विशिष्ट कक्षा के परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं में ध्यान में रखते हुए की गई है। पुस्तक की विषय–सूची पर एक सामान्य दृष्टिपात इस धारणा की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। प्रेमचन्द के उपन्यासों का विशिष्ट अध्ययन करते हुए लेखक ने जो 'पैटर्न' अपनाया है वह इस धारणा को बल प्रदान करता है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए ही और शायद अपनी सुविधा के लिए भी लेखक ने प्रेमचन्द के उपन्यासों के विशिष्ट अध्ययन को कथानक, कथानक–समीक्षा, चरित्र–चित्रण, विचार–विवेचन और कला–विवेचन जैसे उपशीर्षकों में बाँटा है। आरम्भ में हिन्दी उपन्यास परम्परा पर एक सामान्य परिचयात्मक अध्याय भी इसी दृष्टिकोण से जोड़ा गया है। किन्तु वाजपेयी जी जैसे पुराने और मँजे हुए आलोचक की लेखनी से प्रणीत होने के कारण पुस्तक शुद्ध छात्रोपयोगी प्रयास बनकर ही नहीं रह गई है; अनेक स्थलों पर उनके मौलिक चिन्तन की छाप देखी जा सकती है।

प्रेमचन्द पर वाजपेयी जी का एक लेख है जिसमे उन्होंने प्रेमचन्द के पॉच–पाँच सौ पृष्ठों के उपन्यासों को पाँच पृष्ठों में संक्षिप्त करने वाले आलोचकों की कठोर भर्त्सना करते हुए उनकी इस क्रिया या कपालक्रिया को उपन्यास और उपन्यासकार दोनों के प्रति मर्मभेदी व्यंग्य कहा है।[1] लगता है प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' को लिखते हुए श्रीयुत नन्ददुलारे वाजपेयी को अपने इस लेख का स्मरण नही रहा।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रेमचन्द पर किये जाने वाले आक्षेपों को अप्रत्यक्ष समर्थन देते हुए आक्षेपकर्ताओं के आरोपों की जानकारी इस तरह दी है। आपको स्त्री चरित्रों का चित्रण करने मे सफलता नहीं मिली, आप अपने उपन्यासों के अत में प्रचारक बन जाते हैं जिसमें पाठक कृत्रिमता का अनुभव करता है, आप ब्राह्मणों के विपक्षी हैं, आपको भाषा का बहुत ही साधारण ज्ञान है। स्वय वाजपेयी जी के अनुसार 'हिन्दी का यह युग विचार की पूँजी में दिवालिया है और प्रेमचन्द जी भी इसके अपवाद नहीं हं।' वे प्रेमचन्द की सीमाओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि 'प्रेमचन्दजी के मानसिक संघटन में कल्पना को कोई स्थान नहीं प्राप्त है। कथानक का स्थूल रंगरूप बनाने में जितनी स्वल्प कल्पना चाहिए, बस प्रेमचन्द में उतनी ही है।' इसके अलावा 'कल्पना के अभाव के साथ प्रेमचन्दजी में तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फलस्वरूप निर्मित होने वाले व्यवस्थित' जीवन–दर्शन का भी अभाव है। प्रेमचन्दजी किसी तात्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते।' कल्पना और जीवन–दर्शन के अभाव के अलावा बाजपेयीजी प्रेमचन्द पर सम सामयिकता का आरोप लगाते हुए व्यग्यपूर्ण लिखते है कि 'आज आप सामयिक पत्रों में जो चर्चा में पढ़ चुके है कल प्रेमचन्द जी की कहानियों में उसे दुबारा पढ़िए। उपस्थित प्रसंगों पर जो भावमय निबन्ध लिखे जाते हैं अथवा जो संपादकीय लेख छपते रहते हैं, प्रेमचन्द जी की कहानियाँ उन्हीं का दूसरा रूप है।' निष्कर्षतः वे प्रेमचन्द की 'सम्पूर्ण कृतियों में एक अंतर्निहित चेतनाधारा' का अभाव देखते हुए अपना फैसला सुना देते है कि 'घटना बाहुल्य और वर्णनो का अनावश्यक विस्तार उनमें बहुत अधिक है। इससे उनकी कला में स्थूलता आ गई है।' इसकी वजह वे बताते हैं कि 'चरित्र का निर्माण, सूक्ष्म मनोगतियों की पहचान और कला का सौष्ठव प्रेमचन्द जी में उच्चकोटि का नहीं हो पाया, इसका कारण वही टेक या स्थूल आदर्शवादिता है। कुल

---

[1] "पर हम जिस रूप मे साहित्य और उसकी समीक्षा को समझते है उस रूप मे पॉच सा पृष्ठो के उपन्यास को पॉच पृष्ठो मे सक्षिप्त करने की क्रिया (या कपाल–क्रिया) उस उपन्यास और उपन्यासकार के लिए मर्मभेदी व्यग्य है।

हिन्दी साहित्य वीसवीशताब्दी, पृ० 83

मिलाकर बाजपेयी का मूल्यांकन यह है कि 'कथानक चरित्र, विचारसूत्र, और कला की निर्मित मे प्रेमचंदजी प्रथम श्रेणी के यूरोपीय औपन्यासिकों की ऊँचाई पर नहीं पहुँचते'। 'हद तो तब हो जाती है जब वाजपेयी प्रेमचन्द पर हिन्दू सांप्रदायिकता का आरोप लगाते हुए लिखते हैं कि "राष्ट्रीय आंदोलन को शिथिल पड़ने पर सन् **24, 25, 26** में प्रेमचन्दजी हिन्दू सघटन के नेता का रूप भी धारण कर चुके है।[1] बाद मे वाजपेयीजी ने इसमें से अपनी अनेक मान्यताओ पर परित्याग कर दिया, या यह कहना ज्यादा सही होगा कि परित्याग करने पर उन्हें विवश होना पड़ा, लेकिन फिर भी प्रेमचन्द का वास्तविक मूल्याकन कर पाने में वे असमर्थ रहे।

8. 'प्रेमचन्द' (1952 ई०) : डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

इस पुस्तक में डॉ० दीक्षित का प्रयास प्रेमचन्द को अधिक–से–अधिक मार्क्सवादी सिद्ध करना रहा है, हालॉकि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि 'प्रेमचन्द सन् **1930** तक गॉधी जी के जीवन–दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित रहे। राजनीति के क्षेत्र में गॉधी जी के कदम जिस गति से बढ़े प्रेमचन्द के कदम साहित्य के क्षेत्र में बढे। ————साहित्यकार का युग–पुरुष से प्रभावित होना बड़ा स्वाभाविक होता है।'[2] उनका कथन है :–

''आज जैसे संघर्ष प्रधान संसार में आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। इसी कारण प्रेमचन्द मार्क्स के वस्तुवादी दर्शन से बहुत प्रभावित थे।——— मार्क्स का भौतिक दर्शन एवं निरोश्वरवाद प्रेमचन्द का परितोष करने में सफल और समर्थ है। प्रेमचन्द के व्यत्तित्व में वही दृढ़ता और विश्वबंधुत्व की भावना लहर ले रही हैं जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए आवश्यक है। (प्रेमचन्द, पृ० **21**)

पुस्तक में अनेक भूलें भरी हुई हैं, जो दिखाती है कि आलोचक ने अपने कर्तव्य को कितनी जिम्मेदारी से निभाया है! यहाँ कुछ–एक ऐसी भूलों की ओर संकेत करना आवश्यक होगा। डॉ० दीक्षित के अनुसार प्रेमचन्द का 'प्रथम उपन्यास सेवासदन **1905** में प्रकाशित हुआ था।[3] अगले ही पृष्ठ पर डॉ० दीक्षित एक और शोधपूर्ण घोषणा करते हैं। आर्य–समाज

---

[1] रामविलास शर्मा – पृष्ठ 35 प्रेमचन्द और उनका युग

[2] प्रमचन्द, पृ० 21

[3] प्रमचन्द, पृ० 163

के आन्दोलन से प्रभावित होकर प्रेमचन्द ने 'सेवासदन', 'बाजारे–हुस्न', और 'बेवा' की रचना की।[1] प्रेमचन्द के विद्यार्थी के लिए यह एक सर्वथा नई खोज है कि 'सेवासदन' और 'बाजारेहुस्न' प्रेमचन्द के दो अलग–अलग उपन्यास है।

इस प्रकार की गैरजिम्मेदारी से लिखी गयी पुस्तक के सहारे किसी भी साहित्यकार का सही और वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता। डॉ० दीक्षित की यह पुस्तक प्रेमचन्द के पाठकों को गुमराह करती है, प्रेमचन्द को समझने में उनकी किसी प्रकार की सहायता नहीं।

9. 'प्रेमचन्द एक अध्ययन' (1961 ई०) : डॉ राजेश्वर गुरू

डॉ० गुरू के इस शोध–प्रबन्ध में क्रमशः जीवन–सार, प्रेमचन्द के कुछ विचार, प्रेमचन्द–साहित्य की भूमिका और प्रेमचन्द–साहित्य का विश्लेषण तथा विकास–क्रम शीर्षकों के अन्तर्गत प्रेमचन्द के जीवन, चिन्तन और कला का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आरंभ मे प्रेमचन्द के आलोचकों का एक क्रमागत संक्षिप्त विवरण भी है। पुस्तक पर सर्वत्र लेखक के अध्ययन और अध्यवसाय की स्पष्ट छाप है। यद्यपि प्रेमचन्द विषयक आलोचनात्मक कृतियों में इसका महत्व निर्विवाद है, किन्तु उसके लेखक डॉ० गुरू का यह दावा स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि यह प्रेमचन्द को 'एकदम नवीन दृष्टिकोण' से देखने का प्रयास है।[2]

यदि ईमानदारी से देखें तो मानना पड़ेगा कि कम से कम अभी तक प्रेमचन्द का समग्र मूल्यांकन नहीं हुआ है। केवल दो–चार अथवा दस–पन्द्रह आलोचनात्मक पुस्तकें लिख देने के अतिरिक्त अभी तक प्रेमचन्द के सही और गंभीर अध्ययन की दिशा में कुछ भी खास नहीं हुआ। डॉ० राम विलास शर्मा का प्रेमचंद संबधी विशद अध्ययन और मूल्यांकन इसका अपवाद है।

[1] वही पृ० 164
[2] प्रमचन्द एक अध्ययन, पृ० 19 (प्रथम सस्करण)

10. 'प्रेमचन्द और उनकी साहित्य–साधना' : डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

प्रेमचन्द पर आए दिन प्रकाशित होने वाली आलोचनात्मक पुस्तक के समान डॉ० 'कमलेश' की यह पुस्तक भी प्रेमचन्द – आलोचना का परिमाण ही बढ़ाती है, महत्व नहीं। डॉ० 'कमलेश' की इस पुस्तक में कोई वैशिष्ट्य लक्षित नही होता। प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य का यह अध्ययन बहुत ही असंतुलित और सतही है। पुस्तक में कुछ ऐसी भूलें रह गई हैं जो बरबस पाठक का ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। 'कर्मभूमि' पर विचार करते हुए कमलेश जी कहते हैं कंजर जैसी जरायम पेशा कौम को भी इस कथा में स्थान दिया गया है।"[1] कहना न होगा कि 'कर्मभूमि' ही नहीं प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास में कंजर जाति का कोई वर्णन नहीं है। कहानियों में भी 'प्रेम का उदय' ही प्रेमचन्द की ऐसी कहानी है जिसमें इस अपराधी जाति के जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत की गई है।[2]

प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रकाशनकाल देते हुए भी कमलेश जी ने आवश्यक सावधानी नहीं बरती है। पृ० 52 पर प्रेमचन्द के 'निर्मला', 'रगभूमि' और 'गबन' उपन्यासों का समय क्रमशः सन् 1923, 1925 और 1931 देते है, पर दो पृष्ठों के बाद इन्हीं उपन्यासों का समय क्रमशः सन् 1927, 1924 और 1930 दिया गया है। इस प्रकार की भूलों को मामूली भूलें कह कर नहीं टाला जा सकता, क्योंकि ये आलोचक की गैरजिम्मेदारी और असावधानी कों दर्शाती हैं।

11. 'प्रेमचन्द' : मदनगोपाल

सन् '44' में लाहौर से प्रकाशित सवा सौ की इस अँग्रेजी पुस्तिका में प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य के सभी पक्षों पर सूत्र रूप से विचार किया गया है। इसका विवेचन सकेतात्मक हो गया है। लेखक का दृष्टिकोण सुलझा हुआ और शैली रोचक है।

आरम्भ में जाने या अनजाने की गई इस प्रकार की भूलें ही आगे चलकर किसी साहित्कार के जीवन अथवा कृतित्व के संबंध में गंभीर भूलों को प्रशस्त करती है। अतः इस विषय पर अधिक सचेत और सावधान रहने की आवश्यकता है।

---

[1] प्रमचन्द और उनकी साहित्य–साधना, पृ० 108

[2] मानसरोवर, भाग 4 पृ० 133 (आठवाँ संस्करण, 1958)

12. 'विश्लेषण' (1954 ई०)

'विश्लेषण' में प्रेमचन्द की जीवनी और व्यक्तित्व पर इलाचंद्र जोशी के दो लेख है। 'प्रेमचन्द की कला का मूल तत्त्व' शीर्षक से प्रेमचन्द की कतिपय तथाकथित कला–सबन्धी दुर्बलताएँ और खामियॉ गिनाई गई है, जबकि प्रेमचन्दजी का व्यैक्तित्व और साहित्य लेख में जोशीजी ने 'कच्ची उम्र' और 'नए खून के जोश' में व्यक्त प्रेमाश्रम विषयक अपने विचारों के लिए एक प्रकार से खेद प्रकट किया है। दोनों लेख वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं। अतः उनका एक साथ ही अध्ययन किया जाना चाहिए। प्रेमचन्द पर जोशीजी का मुख्य आरोप यह है कि उन्होंने अपने साहित्य में 'सृष्टि के मूल में यह जो सनातन नारी है उसके प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की है।[1] उनका कहना है कि प्रेमचन्द ने 'पुरूष–प्रवृत्ति के रहस्य का परिचय अवश्य प्राप्त किया है, मूल प्रकृति जो नारी है उसकी आत्मा के भीतर उन्होंने गहरी दृष्टि नहीं डाली है।[2]

अर्थात जोशीजी का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द ने 'मूल प्रकृति' नारी का चीर हरण नहीं किया है, उसके अंगों के उभार का उत्तेजक वर्णन नही किया है। उसकी आधा दर्जन प्रणय–लीलाओं का मांसल वर्णन नहीं किया है, उसके अवैध गर्भपातों का सजीव चित्र नहीं खींचा है। मनोविश्लेषण और यथार्थवाद के नाम पर स्त्री–पुरूष के संबंधो का वर्णन करने वाले उपन्यासकार को यदि प्रेमचन्द–साहित्य में इस बात की कमी दिखती है तो ताज्जुब ही क्या?

13. चन्द्रबलीसिंह : 'लोक–दृष्टि और हिन्दी साहित्य' (1956 ई०)

'प्रेमचन्द की परम्परा' शीर्षक से प्रो० सिंह ने प्रेमचन्द की सामाजिक–राजनीतिक चेतना के विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा देते हुए वर्ग–सहयोग की मध्यवर्गीय सुधारवादी विचारधारा से वर्ग–संघर्ष के क्रान्तिकारी जीवन–दर्शन तथा उनकी यात्रा का एक विचारोत्तेजक विवरण प्रस्तुत किया गया है। प्रगतिवादी आलोचकों द्वारा प्रेमचन्द पर लिखित लेखों में प्रो० सिंह का लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

---

[1] विश्लेषण, पृ० 50 (प्रथम संस्करण)
[2] वही, पृ० 49

14. 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द' : डॉ० महेन्द्र भटनागर

नागपुर विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत इस शोध–प्रबन्ध की मूल स्थापना यह है कि प्रेमचन्द का वैज्ञानिक अध्ययन और मूल्यांकन उनके समस्यामूलक स्वरूप के विवेचन के आधार पर किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी इस प्रति ख्याति द्वारा लेखक ने प्रेमचन्द के अध्ययन को एक नवीन दृष्टि प्रदान की है, पर आदि से अन्त तक प्रेमचन्द के एक ही पक्ष पर आग्रहपूर्ण इतना अधिक बल दिए जाने के कारण डॉ० महेन्द्र भटनागर का यह अध्ययन स्पष्टतः उपन्यासकार प्रेमचन्द को उसकी सग्रता में ग्रहण नहीं कर पाया है। इस पुस्तक की दूसरी बड़ी दुर्बलता यह है कि उसमें आवश्यकता से कही अधिक उद्धरण दिए गए हैं——यहाँ तक कि इस विषय में अनुपात का ध्यान नहीं रखा गया है। शोध–प्रबन्ध में उदाहरणों का होना स्वाभाविक है, पर इतनी सख्या में नही कि लेखक को 'अपनी बात' गौण बन जाए और 'उद्धरण' प्रमुख।

15. 'प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प' : हरस्वरूप माथुर

प्रस्तुत पुस्तक में श्री माथुर ने औपन्यासिक तत्वा और शिल्प–विधान की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनकी उपन्यास–कला का क्रमशः विशिष्ट एवं सामान्य अध्ययन प्रस्तुत किया है। लेखक किसी प्रकार के वाद–विवाद में पड़े बिना कथावस्तु, पात्र, देशकाल और उद्देश्य के आधार पर 'वरदान' से 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचन्द के औपन्यासिक कृतित्व का एक–एक करके विश्लेषण करता चला गया है। श्री माथुर के इस विश्लेषण में स्वभावतः कोई ताजगी अथवा विचारोत्तेजकता नहीं है। पुस्तक का महत्व किसी प्रकार की मौलिक उद्‌भावना के कारण नहीं अपितु उसके लेखक की सुलझी हुई शैली और बात को सीधे–सादे शब्दों में कह देने की क्षमता के कारण है।

16. 'कहानीकला और प्रेमचन्द' : श्रीपति शर्मा

शर्माजी की यह पुस्तक एम० ए० की परीक्षा के लिए प्रस्तुत उनके विशेष निबन्ध का परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण है, जिसमें उन्होंने प्रेमचन्द की कहानियों पर विभिन्न दृष्टिकोणें से विचार–विमर्श किया है। कहानीकार प्रेमचन्द पर बहुत कम लिखा गया है। इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्व के साथ साहित्यिक महत्व भी कम नहीं है।

17. 'प्रेमचन्द : उनकी कहानी कला' : डॉ० सत्येन्द्र

अपनी इस पुस्तक में सत्येन्द्र ने प्रेमचन्द की कहानियों को विविध आधारों पर वर्गीकृत करने का जो प्रयास किया है वह सर्वथा अवैज्ञानिक सदोष और उलझनपूर्ण है।

प्रेमचन्द का परिचय, प्रेमचन्द–काल का विवेचन तथा कहानी की परिभाषा और विकास में आरम्भिक तीन अध्याय पुस्तक के सबसे कमजोर अंग है। लेखक ने काव्यमयी भाषा का प्रयोग किया है। शैली में स्पष्टता और ऋजुता नहीं है। आज के युग में आलोचक का सबसे बडा दायित्व अपनी बात को सुलझे हुए ढंग से स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत करना होता है। यदि कोई आलोचक इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो यह समझा जाता है कि आज के संघर्षमय युग में उसे 'आलोचक' कहलाने का कोई हक नहीं है। आलोचक का काम प्रकाश देना होता है भूलभूलैया में भटकाना नहीं।

लेख तथा संग्रह

(क) 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' : सं इन्द्रनाथ मदान

प्रस्तुत संकलन में प्रेमचन्द पर विभिन्न प्रतिष्ठित विद्वानों के उन्नीस लेख हैं, जिसमें से डॉ० मुन्शी राम शर्मा, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री प्रेमनारायण टंडन, श्री विश्वम्भर (मानव) बाबूराव विष्णु पराड़कर और डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा द्वारा लिखित

लेख प्रेमचन्द : 'कृतियां और कला' संग्रह में भी छप चुके हैं। शेष तेरह में से दो स्वय लेखक महोदय के हैं। डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, श्री नन्द दुलारे वाजपेयी और श्री मन्मथनाथ गुप्त के लेख प्रेमचन्द लिखित उनकी पुस्तकों – क्रमशः 'प्रेमचन्द' , 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, और 'कथाकार प्रेमचन्द' – से अविकल उद्धृत किए गए है। विशेष उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण लेखों में डॉ० मदान के अतिरिक्त डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नगेन्द्र, श्री हंसराज 'रहबर' और श्री गोपाल कृष्ण कौल के लेखों का नाम लिया जा सकता है।

प्रेमचन्द :'चिन्तन और कला' में एक लेख – जिसे लेख न कहकर प्रेमचन्द पर सक्षिप्त नोट कहना अधिक उपयुक्त होगा, श्री अमृतराय का भी है।

(ख) 'प्रेमचन्द और गोर्की' (1955) : सं० शचीरानी गुर्टू

प्रेमचन्द पर अब तक प्रकाशित सकलनों की तुलना में 'प्रेमचन्द और गोर्की', सभी कोणों से प्रेमचन्द के जीवन और कृतित्व पर अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक संकलन बना है। इसका एक कारण यह है कि लेखों के चुनाव में संपादिका ने अनुपात का पूरा ध्यान रखा हैं। डॉ० नगेन्द्र और श्री बा० वि० पराड़कर के लेखों को छोड़कर एक भी लेख नहीं दोहराया गया है, जो स्पष्टतः एक आदर्श और अनुकरणीय प्रवृति का द्योतक है। आरम्भ में प्रेमचन्द के जीवन की एक संक्षिप्त रेखा, उसके कुछ महत्वपूर्ण पत्र और प्रेमचन्द–साहित्य की सूची सम्मिलित लगभग तीस वर्षो तक प्रेमचन्द के साहित्यिक उदयकाल से लेकर उनके देहावसान तक का प्रेमचन्द के साथ मित्रता ही नहीं अपितु सगे भाइयों सा संबंध रहा। प्रेमचन्द के जीवन और साहित्यिक व्यक्तित्व, उनकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मान्यताएँ और जीवन–दर्शन समझने के लिए अकेले इस लेख का बहुत महत्व है। मुंशीजी का यह लेख प्रस्तुत संकलन की रीढ़ की हड्डी है। अन्य महत्वपूर्ण लेखों में श्री नरोनत्तमागर, प्रो० चन्द्रबली सिंह, प्रो० रामकृष्ण शुक्ल, 'शिलीमुख', डॉ० नगेन्द्र श्री हंसराज 'रहबर' श्री गोपालकृष्ण कौल, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी और श्री नरेश आदि के लेखों का उल्लेख आवश्यक है।

(ग) 'प्रेमचन्द के पात्र' : सं० कोमल कोठारी और विजयदान देथा

किसी भी महान् साहित्यकार का सही और वैज्ञानिक अध्ययन उसके द्वारा सृजित पात्रों से ही किया जा सकता है। पात्रों के द्वारा ही सृष्टा अपने आपको अपनी कृति में व्यक्त करता है। प्रत्येक महान् कलाकार की छोटी से छोटी चरित्र–सृष्टि के पीछे कोई न कोई सकेत, विचार या उद्देश्य अवश्य रहता है, वह यूँ ही निरूद्देश्य किसी पात्र की सृष्टि नही करता। पात्र ही वे जीवित उपकरण हो सकते है जिसके माध्यम उनके निर्माता और रचयिता तक पहुँचा जा सके। एक ही रामकथा कहने वाले बाल्मीकि, भवभूति, तुलसी, केवट, मैथिलीशरण गुप्त, निराला प्रभृति महाकवियों की पारस्परिक भिन्नता और अभिन्नता को उनके राम, सीता, लक्ष्मण, भरत आदि चरित्रों तुलनात्मक अध्ययन से जाना जा सकता हैं। अस्तु,

प्रस्तुत संकलन में पात्रों के माध्यम से प्रेमचन्द के अध्ययन का प्रयास किया गया है। प्रेमचन्द पर प्रकाशित आलोचना पुस्तकों में इस संग्रह का स्थान और महत्व सबसे अलग और भिन्न प्रकार का है

(घ) 'प्रेमचन्द–स्मृति' (**1959** ई०) : अमृतराय

प्रेमचन्द की तेईसवीं स्मृति–वार्षिक अवसर पर प्रकाशित इस संकलन में प्रेमचन्द के अतिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' और संभवतः अंतिम लेख 'महाजनी सभ्यता' के अतिरिक्त 'हस' और 'जमाना' स्मृति अंकों में प्रकाशित तथा समय–समय पर रेडियों से प्रसारित प्रेमचन्द से संबन्धित कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्मरण संगृहीत किए गए हैं। प्रेमचन्द के जीवन के इन रोचक संस्मरणों की सहायता से हम उनके कृतित्व के अंतरंग में और अधिक गहराई से झांक सकते हैं। सर्वश्री जैनेन्द्र कुमार, नन्ददुलारे वाजपेयी, मुहम्मद आकिल, रामवृक्ष बेनीपुरी, सुदर्शन आदि के संस्मरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रेमचन्द की विचाधारा के किसी एक पक्ष पर लिखित पुस्तकें

(क) 'शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द' : अमृतराय

इस पुस्तिका के लेखक ने लगभग पचास पृष्ठों मे प्रेमचन्द को शान्ति का योद्धा सिद्ध करने का एक जोशीला कार्य किया है। पुस्तिका का स्वर प्रचारात्मक है, समीक्षात्मक नही। उनकी शैली गभीर समीक्षा कृतियों के अनुरूप नहीं है, स्थान–स्थान पर वह रिपोर्ताज की शैली के अत्यन्त निकट पहुँच जाती है।[1] 'शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द' के लेखक की आलोचना शैली में जोश अधिक है। कुल मिलाकर इस पुस्तिका को राजनीतिक 'पैम्फलेट' ही कहा जा सकता है, समीक्षा कृति नहीं।

(ख) प्रेमचन्द और ग्राम समस्या (1942): प्रेमनारायण टंडन

ग्राम समस्या के चिन्तन में प्रेमचन्द ने सामाजिक यथार्थ को अपनी दृष्टिपथ से कभी ओझल नहीं होने दिया। सिद्धान्ततः वे सामाजिक विकास के शान्तिपूर्ण विचारों में विश्वास रखते थे, पर सामाजिक यथार्थ के प्रति उनकी इसी ईमानदारी के कारण उनके किसान जाने या अनजाने संघर्ष की क्रान्तिकारी डगर पर बढ़ते दिखाई देते हैं। वर्तमान के प्रति असंतोष और एक उज्जवलतर भविष्य की कामना ही देश और समाज में क्रान्ति की जनक हुआ करती है और इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द के किसान के हृदय में यह असंतोष और कामना प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। यही कारण है प्रेमचन्द के किसान अपने शोषकों के हृदय में दया, सहानुभूति और मानवता की भावना जागृति होने की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहते। अपने स्वप्नों की प्राप्ति के लिए संगठित होकर संघर्ष करते हैं।

---

[1] शान्ति के योद्धा प्रेमचन्द, पृ० 3 (प्रथम सस्करण)

के दिनो में उन्होंने राष्ट्रीय नीति का सन्देश सुनाया। राष्ट्रीय आन्दोलन के शिथिल पड जाने पर वे हिन्दू सघटन के नेता का रूप धारण कर अवतरित हुए। कहना न होगा कि प्रेमचन्द इस प्रकार की दुरंगी चालों से अनभिज्ञ थे।

हस की आत्मकथांक को लेकर प्रेमचन्द और वाजपेयी में जो वाद–विवाद हुआ, वह भी पुस्तक में संग्रहीत है। यहॉ पर भी वाजपेयी जी ने प्रेमचन्द पर कतिपय आक्षेप लगाये है, जिनमें से सर्वप्रमुख यह है–

"प्रेमचन्दजी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेण्डा–वृत्ति के कारण काफी बदनाम है। हिन्दी के बड़े–से–बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है। .... प्रेमचन्द को सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष जो उनकी साहित्य कला को कलुषित करने मे समर्थ हुआ है– यही प्रोपेगेण्डा है।"[1] वाजपेयीजी के इन लेखों में विवादजन्य आवेश, मानसिक असन्तुलन, बौखलाहट और व्यंग्य अधिक हैं, तथ्य और सच्चाई कम।

(ख) रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' : समाज और साहित्य

'अंचल' का प्रेमचन्द पर एक लेख है, जिसमें प्रेमचन्द को प्रगतिवादी दृष्टिकोण से समझने–समझाने का प्रयास किया गया है। उनके विचारों मे बिखराव का कारण यह है कि लेखक के पास कहने को कोई नवीन बात नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि प्रेमचन्द यदि 'समस्याओं का मार्क्सवादी समाधान देते तो दुनिया के सबसे बड़े लेखक की महानता उन्हें मिलती।[2] अंचल जी यह भूल जाते हैं कि समस्याओं को मार्क्सवादी समाधान देने मात्र से कोई बड़ा या महान् लेखक नहीं बन जाता, अन्यथा बाल्मिकि, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, रवीन्द्र, शेक्सपियर, गेटे, शेली, टालस्टाय, गोर्की आदि कभी महान् नहीं कहला सकते थे।

---

[1] वही, पृ० 91

[2] समस्या और साहित्य, पृ० 107

(ग) अमृतराय : 'नयी समीक्षा'

प्रेमचन्द की क्रमशः नवीं और ग्यारहवीं वार्षिकी के अवसर पर लिखी गई दो टिप्पणियाँ इसमें संग्रहीत है– प्रेमचन्द और हमारा कथा–साहित्य तथा 'प्रेमचन्द : एक परिचय'। दूसरी टिप्पणी 'प्रेमचन्द : चिन्तन और कला' सग्रह में भी छप चुकी है। दोनों टिप्पणियों का स्वर परिचयात्मक है, स्वभावतः इनमें कोई मौलिकता लक्षित नहीं होती।

(घ) (अ) 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' : मन्मथनाथ गुप्त

प्रेमचन्द की कला पर 'सरसरी दृष्टि' शीर्षक से गुप्तजी ने अपने 'कथाकार प्रेमचन्द' ग्रथ के निष्कर्षो को ही दोहराया है। प्रेमचन्द पर अपनी उक्त पुस्तक की भॉति प्रस्तुत लेख मे भी गुप्तजी को मुख प्रतिपत्ति होती है कि प्रेमचन्दजी 'गोदान' में तो आत्म–सचेतन रूप से समाजवाद की ओर झुके हैं, 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रय', 'रंगभूमि' आदि गॉधी युगीन रचनाओं में भी उन्होंने जो गांधीवाद की जय दिखाई है वह वस्तुतः उसकी विजय न होकर पराजय है।"[1] दूसरा लेख प्रेमचन्द के अन्तिम अपूर्ण उपन्यास 'मंगलसूत्र' पर है। 'मंगलसूत्र' पर प्रेमचन्द के आलोचकों ने अपेक्षाकृत बहुत कम लिखा है। स्वभावतः श्री मन्मथनाथ गुप्त के लेख पर विचार करते हुए 'प्रेमचन्द और गोर्की' में संकलित 'मगलसूत्र' पर ही श्री हंसराज 'रहबर' के लेख का स्मरण हो जाता है। दोनों लेखों पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी की अपेक्षा 'रहबर' का लेख अधिक संतुलित है। मन्मथनाथ गुप्त के लेख में अनावश्यक विस्तार अधिक है, मतलब की बात कम। ग्यारह से लगभग छः पृष्ठ तो उन्होंने 'मगलसूत्र' की कहानी देने में व्यय कर दिए हैं। अनावश्यक विस्तार गुप्तजी की समीक्षा–शैली का मुख्य लक्षण और पहचान है, जिसे उनके 'कथाकार प्रेमचन्द' ग्रथ में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रस्तुत लेख में भी उनकी वैसी प्रवृति का प्रसार मिलता है।

[1] प्रगतिवाद की रूपरेखा, पृ० 29 और 31 (दिल्ली, 1952)

(आ) 'साहित्यकला–समीक्षा' : : मन्मथनाथ गुप्त

श्री मन्मथनाथ गुप्त के इस संग्रह में भी प्रेमचन्द पर दो लेख है– 'प्रेमचन्द का सूत्र तथा प्रेमचन्द एक और विश्वास'। लेखों में किसी प्रकार की मौलिकता या नवीनता नहीं है, क्योंकि इसमें गुप्तजी ने अपनी 'कथाकार प्रेमचन्द' पुस्तक के विचारों को यहाँ तक कि शब्दों को भी बार–बार दोहराया है। स्वयं लेखक इस तथ्य को स्वीकार करता है कि वह इस लेख में कोई ऐसी बात कहने या प्रस्थापनाएँ करने नहीं जा रहा है जिसे वह 'कथाकार प्रेमचन्द' अथवा प्रेमचन्द संबधी अन्य आलोचनाओं में न कह चुका हो।

(ङ) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : 'हिन्दी का सामयिक साहित्य'

'प्रेमचन्द प्रवृतियां' शीर्षक से लगभग दो पृष्ठों मे मिश्रजी ने प्रेमचन्द की तीन–चार मोटी विशेषताएं अतीत की अपेक्षा वर्तमान का चित्रण, ग्रामीण जीवन का चित्रण अभिरूचि, व्यापक और सूक्ष्म निरीक्षण, असाधारण घटनाओं का आदि का प्रयास किया है।

(च) पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : 'शिलीमुखी' (सं० प्रो० 'विजयेन्द्र' स्नातक)

'शिलीमुखी' में प्रेमचन्द संबंधी 6 लेख है, जिनमें से 'कायाकल्प' पर एक 'प्रेमचन्द और गोर्की' संकलन में भी छप चुका है। 'विश्वास' और प्रेमचन्दजी का कौशल' दोनों लेखों मे लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रेमचन्द की विश्वास और कौशल कहानियाँ (दे०–मानसरोवर 3) क्रमशः हालकेन के 'इटर्नल सिटी' उपन्यास और मोपासाँ की 'नेकलेस' कहानी की नकल है।

पं० 'शिलीमुख' में स्वतंत्र चिन्तन की पर्याप्त क्षमता है। यह उनके प्रेमचन्द संबंधी इन लेखों से स्पष्ट हो जाता है। पर प्रेमचन्द को वे एक आलोचक की निष्पक्षता से नहीं परख सके हैं। पं० 'शिलीमुख' के प्रेमचन्द संबंधी इन लेखों को हिन्दी में पक्षपातपूर्ण आलोचना का ज्वलंत उदाहरण माना जा सकता है। प्रेमचन्द के प्रति एक पक्षपातपूर्ण धारणा बनाकर चलने के कारण 'शिलीमुख' की प्रेमचन्द की प्रत्येक बात में ब्राह्मण–विद्वेष और

साम्प्रदायिकता की गंध आती है। उनके अनुसार 'ब्राह्मणें को उपहास्य और कुत्सित' दिखाने के उद्देश्य से ही प्रेमचन्द मोपासॉ की 'नेकलेस'(**The Diamond Necklace**) कहानी की नायिका (**Madame Loise**) जेविररीत अपनी कहानी की नायिका पंडितानी माया से हार के चोरी चले जाने की झूठ बुलवाया। मोपासॉ की कहानी मे इस जरा से परिवर्तन के द्वारा प्रेमचन्द ने एक ढेले से दो शिकार किये हैं– एक तो अपनी चोरी पर पर्दा डाल लिया और दूसरे ब्राह्मणी नायिका की झूठ धूर्तता को दिखाया है।[1] इतना ही नहीं, आलोचक का यह दृढ विश्वास है कि इसी कहानी मे नहीं बल्कि "प्रेमचन्दजी के प्रत्येक ग्रथ में जहाँ कहीं ब्राह्मणो का जिक्र आया है वहाँ उन्हें उपहास्य और कुत्सित ही दिखाने की चेष्टा की गई है।"[2] 'प्रेमचन्द की कला' शीर्षक लेख में भी आलोचक ने प्रेमचन्द पर अभियोग लगाया है कि 'ब्राह्मणों के सुधार का प्रेमचन्दजी ने ऐसा ठेका लिया है कि एक 'सेवासदन' को छोडकर सर्वत्र ही ब्राह्मण निन्दनीय और उपहास्य ठहराये गये हैं और उनको जूते लगवाये गये है।[3] इस प्रकार प्रेमचन्द सम्बन्धी अपनी सभी आलोचनाओं में किसी न किसी रूप में प्रेमचन्द ने ब्राह्मण–विद्वेष और मुस्लिम–पक्षपात की चर्चा करने के उपरान्त अन्त में प० 'शिलीमुख' फतवा देते हुए कहते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियाँ ''भिन्न–भिन्न समाजों का कोई हित–साधन करने में सफल नहीं हो सकी है, हॉ साम्प्रदायिकता के भावों को बढ़ानें में भले ही उन्होंने सहायता पहुँचाई हो।"[4] प्रेमचन्द पर आलोचक का एक दूसरा मुख्य अभियोग यह है कि धनी या विलासी समाज की आलोचना करते हुए वे टालसटॉय की भॉति हृदय की उदारता का निर्वाह नहीं करते–उनमें एक प्रकार का कट्रपन पाया जाता है।[5] पं० 'शिलीमुख' के अनुसार व्यक्ति और समाज जन्य भेदों के रहते हुए किसी सामान्य सूत्र से आबद्ध एक व्यापक मानवता की भावना तो प्रेमचन्द में मिलती ही नहीं, भारतीय समाज की कोई सामान्य भावना भी उनमें दृष्टिगोचर नहीं होती। समाज के प्रेमचन्द ने दो–दो करके स्पष्ट भेद और वर्ग बना दिए हैं–ग्रामीण और नागरिक, शिक्षित ओर अशिक्षित, हिन्दू और मुसलमान, किसान और जमींदार, अधिकारी और प्रजा आदि। प्रेमचन्द समाज के इन द्वन्द्वों को मिलाने या उनमें सहानुभूति कराने का कोई प्रयत्न नहीं

---

[1] शिलीमुखी, प० 95–96 (प्रथम सस्करण 1951)
[2] शिलीमुखी, पृ० 96
[3] शिलीमुखी, पृ० 42
[4] शिलीमुखी, पृ० 113
[5] शिलीमुखी, पृ० 104

करते, मानो एकमात्र संघर्ष के लिए ही उनकी सृष्टि हुई हो।[1] यह कहने की आवश्यमकता नहीं कि प्रेमचन्द जैसे सहज मानववादी साहित्यकार में साम्प्रदायिक कट्रता और किसी जाति विशेष के प्रति पक्षपात अथवा विद्वेष का प्रसार देखना स्वयं अपने दृष्टि–दोष का परिचय देना और ह्रदयस्थ सकीर्ण साम्प्रदायिक एवं जातीय भावनाओं को ही उजागर करना है। सभवतः आलोचक महोदय यह भूल जाते हैं कि वर्ग–सघर्ष या वर्गवाद तो वर्तमान समाज–व्यवस्था के मूल में ही निहित है–वह प्रेमचन्द की सृष्टि नहीं है और न ही उनका अभीष्ट। यदि जरा गहराई से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वर्गवाद, साम्प्रदायिक विद्वेष और जातीय कट्रता के प्रचारक प्रेमचन्द नहीं बल्कि खुद वे आलोचक हैं जो उन पर इस तरह के आरोप लगाते हैं। प्रेमचन्द और साम्प्रदायिकता में उतना ही अन्तर है जितना कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव में। प्रेमचन्द का तो एक ही ऐसे समाज का संगठन है जिसमें साम्प्रदायिकता, जातीयता, वर्ग–संघर्ष, सामाजिक भेदभाव, धार्मिक अत्याचार और आर्थिक शोषण के लिए कोई स्थान नहीं होगा। प्रेमचन्द के जीवन और साहित्य में हमें मानवता को विभिन्न वर्गो में बॉटने का प्रयास नहीं किया। उसे सुन्दर से सुन्दरतर, मंगल से मंगलतर, पूर्ण से पूर्णतर और अभिन्न से अभिन्नतर भविष्य की ओरे ले जाने का संदेश मिलता है।

प० 'शिलीमुख' के अतिरिक्त कुछ और व्यक्तियों ने भी श्री ज्योतिप्रसाद 'निर्मल', श्री श्रीनाथसिंह आदि) प्रेमचन्द पर यह अभियोग लगाया था कि वे साहित्य में घृणा का प्रचार करते हैं – ब्राह्मणों के प्रति अब्राह्मण वर्ग की घृणा और जमींदारों के प्रति किसानों की घृणा। इस आरोप का उत्तर देते हुए दिसम्बर 33 के लेख में प्रेमचन्द ने जीवन में घृणा का स्थान तथा साहित्य और कला में घृणा की उपयोगिता शीषर्क टिप्पणियों में घोषणा की थी कि "पाखंड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार ऐसी ही अन्य दुष्टप्रवृतियों के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो, उतनी कल्याणकारी होगी।[2] हम समझते हैं कि प्रेमचन्द पर घृणा के प्रचार का आरोप लगाने वाले आलोचकों को इससे अधिक स्पष्ट और रचनात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रेमचन्द की इस तथाकथित घृणा के मूल मे उनका वह प्रेम है जो बहुसंख्यक अब्राह्मणों और किसानों से उन्हें था। अर्थात् उनकी घृणा का स्वरूप मूलतः रचनात्मक था, संहारात्मक नहीं। यहॉ पर यह संकेत कर देना जरूरी हैं कि पं० शिलामुख के आक्रोश का वास्तविक कारण यह है कि प्रेमचन्द जमींदारी

---

[1] शिलीमुखी, पृ० 101

[2] उक्त टिप्पणियो के लिए देखिए –हस दिसम्बर 1933 पृ० 73 से 75

प्रथा को नष्ट करना तथा अधिकारियों से अधिकार छीनना चाहते हैं। "प्रेमचन्द यह नहीं सोचते हैं कि इससे और अधिक पुष्ट और वांछनीय अवस्था वह है जिसमें जमींदार और अधिकारी सब सुख के साथ एक दूसरे के सहायक बन कर रह सके।"[1] स्पष्ट है कि शिलीमुख जी को वर्तमान अर्थ और समाज–व्यवस्था पर प्रेमचन्द के निर्मम प्रहार कतई पसन्द नहीं है। समाज की वर्तमान ढॉचें में किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन की तो बात ही क्या, वे उस साधारण सुधार की आवश्यकता भी नहीं समझते। उनके अनुसार 'संसार न कभी एकदम बुरा हुआ है और न कभी एकदम अच्छा ही। और न होगा।'[2] जो आलोचक यह मानकर चले हैं कि "जितने सुधार की इस संसार में आवश्यकता है वह सब हो गया तो हमारा भूस्वर्ग निर्जीव, निरूद्योग, आनन्दविहीन हो जाएगा।"[3] वह निश्चय प्रेमचन्द साहित्य की मूल आत्मा जिसे जैनेन्द्र जी 'प्रेमचन्द–तत्व' कहते हैं के प्रवेषण में कृतकार्य नहीं हो सकता। प्रेमचन्द अपने जीवन या साहित्य में कभी भी यह आत्म–प्रवंचना स्वीकार नहीं कर सके कि जो कुछ है सब ठीक है, कहीं कोई खराबी नहीं, कही कोई कमी नहीं।

पं० 'शिलामुख' के प्रेमचन्द–संबंधी लेखों को प्रेमचन्द के विचारों तथा उनकी प्रणाली का स्पष्ट संस्कर्ता मानते हुए 'शिलीमुखी' के संपादक प्रो० विजयेन्द्र स्नातक अपने संपादकीय वक्तव्य में कहते हैं कि इन्हीं लेखों के प्रभावस्वरूप प्रेमचन्द के बाद के लेखों में गंभीरता, विवेचनात्मकता और परिष्कृति आई और इन्ही के कारण वे आदर्शवाद से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की ओर झुके। विद्वान संपादक का मत है कि इन लेखों में वर्गवाद के विरूद्ध उठाई आवाज को भी प्रेमचन्द ने अपने लेखो में प्रकारांतर से स्वीकार कर लिया है। यही कारण है कि उनके बाद के उपन्यासों 'गबन' और 'गोदान' में वर्गीय कट्‌रता का वह रूप नहीं मिलता जो पहले के उपन्यासों में पाया जाता है।[4] यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आलोचक 'शिलीमुख' के प्रेमचन्द संबंधी लेखों का यह विराट् स्तवनं शुद्धरूपेण प्रशंसात्मक है, तथ्यात्मक नहीं। पहली बात तो यह है कि प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासों, कहानियों और लेखों 'कर्मभूमि', 'गोदान', 'मंगलसूत्र', 'दो–बहनें', 'कफन', 'महाजनी सभ्यता' में तथाकथित वर्गवाद या वर्ग–संघर्ष की भावना उनकी आरम्भिक रचनाओं की तुलना में किसी भी रूप में कम प्रखर नहीं है। प्रेमचन्द में वर्ग–संघर्ष की चेतना कम होने के बजाय निरन्तर विकसित

[1] शिलामुखी, पृ० 103–4
[2] शिलीमुखी, पृ० 105
[3] शिलीमुखी, पृ० 112
[4] शिलीमुखी, सपादकीय पृ० 6–7

तथा प्रखर से प्रखरतर होती गई है और उसका चरमोत्कर्ष उनकी बाद की रचनाओं में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के मानसिक विकास की इस मंजिल को झुठलाने का प्रयास सफल नही हो सकता। दूसरी बात यह है कि प्रेमचन्द के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास के साथ स्वभावतः उनके लेखों और अन्य रचनाओं में क्रमशः आने वाली प्रौढ़ता और विवेचनात्मकता तथा स्थूल आदर्शवाद से आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद की ओर उनकी क्रमिक विकास–यात्रा का श्रेय पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' अथवा दूसरे किसी आलोचक के दो–चार फुटकर लेखों को नहीं दिया जा सकता। ऐसा करना अवैज्ञानिक ही नहीं असाहित्यिक भी होगा।

(छ) कालिदास कपूर : 'साहित्यिक समीक्षा'

श्री कपूर के इस संग्रह में प्रेमचन्द के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' उपन्यासों पर तीन लेख हैं जो मामूली परिवर्तित रूप में प्रेमचन्द कृतियां और कला संकलन में भी प्रकाशित हो चुके है। इन लेखों को आरम्भिक प्रेमचन्द आलोचना का नमूना माना जा सकता है।

(ज) विद्यानिवास मिश्र : प्रेमचन्द कृत 'निर्मला' उपन्यास की भूमिका

लगभग बीस–बाइस पृष्ठों में मिश्रजी ने न केवल प्रेमचन्द के 'निर्मला' उपन्यास परिचय देने का प्रयास किया है बल्कि उनके जीवन और समूचे कृतित्व को भी एक समुचित चित्र देने की कोशिश की है। विद्यानिवास मिश्र एक अच्छे निबंधकार हैं। प्रस्तुत भूमिका का प्रेमचन्द जीवनी वाला आरम्भिक भाग, जिसमें लेखक के निबंधकार को अभिव्यक्ति का उचित अवसर मिला है, अधिक सशक्त बन पड़ा है। पर उसका आलोचना वाला भाग एक 'स्केची' बनकर रह गया है।

कलम का सिपाही (1962)

प्रेमचंद के जीवन और साहित्य को समझने की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। सर्जनात्मक रूप से लिखी गई प्रेमचंद की यह जीवन गाथा उनके जीवन संघर्षो और वैचारिक दृष्टि को आलोकित करते हुए उनकी साहित्य–प्रक्रिया और तत्कालीन साहित्यिक–सामाजिक–राजनीतिक हलचलों पर भरपूर प्रकाश डालती है। इसके लेखक अमृत राय ने इसकी भूमिका में लिखा है कि जब उन्होंने प्रेमचंद पर किताब लिखनी शुरू की तो कितनी बार हाथ–पैर फूल गए। समझ में न आता था कि इसमें क्या लिखूं, किताब आगे बढे तो कैसे? लेकिन पीड़ा और उद्वेग में से अचानक एक गुर हाथ लगा– 'इस व्यक्ति के जीवन को उसके देश और समाज के जीवन से जोड़ कर तो देखों, तब सारे दरवाजे जैसे यकायक खुल गए और इस अतिसामान्य जीवन को नया आशय, एक नई अर्थवत्ता मिल गई'। प्रेमचद अपने समय और समाज से सम्बद्ध लेखक थे। उनके साहित्य में उनके युग की साधारण–सी दीख पड़ने वाली समस्याएँ अपने पेंचीदा रूप में अभिव्यक्त हुई है। इसी कारण प्रेमचंद के साहित्य की समझ भारतीय समाज की बनावट और उसकी समस्याओं की समझ पर निर्भर है। इस दृष्टि से प्रेमचंद आलोचकों की समझ, सूझ–बूझ और क्षमता की कसौटी बने हुए है। इसीलिए कहा गया है कि प्रेमचंद के साहित्य की परख समालोचक के राजनीतिक सूझ–बूझ और उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण की परख है।

प्रेमचंद का हिंदुस्तानी से मतलब केवल सरल उर्दू से है जिसे आसानी से हिन्दू और मुसलमान दोनों समझ सकें। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की भाषा नीति की तरह, जिसका उस समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विरोध किया था। प्रेमचंद का यह वक्तव्य उनके मतव्य को प्रकट करता हैः––

'भाषा के विकास में हमारी संस्कृति की छाप होती है और जहाँ संस्कृति में भेद होगा वहाँ भाषा में भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे हैं वह दिल्ली प्रान्त की भाषा है।...............मुसलमानों ने दिल्ली प्रान्त की इस बोली को, जिसको उस वक्त भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामंत जिन प्रान्तों में गए, हिंदी भाषा को साथ लेते गए। उन्हीं के साथ वह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन में ही गुजरा....... आपको

शायद मालूम होगा कि हिंदी की सबसे पहली रचना खुसरों ने की ह्रहै जो मुगलों से भी पहले खिलजी राज्य काल में हुए।' (–'कलम का सिपाही', पृ० **588**)। यह हिंदी की कीमत पर उर्दू की वकालत है। प्रेमचंद की रचनाओं के उर्दू से हिंदी में अनुवाद होने के अनेक आतरिक प्रमाण भी हैं। डॉ०गगाप्रसाद विमल ने भी स्वीकार किया है कि प्रेमचंद का भाषा का ताना–बाना और मिजाज हिंदी का न होकर उर्दू का है ('प्रेमचंद',–गंगााप्रसाद विमल, पृ० **63**)।

नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति (सन् 1965)

इस पुस्तक के संपादक श्री देवीशंकर अवस्थी हैं। उन्होंने कई विद्वानों के लेखों का सुदर सकलन किया है। श्री देवीशकर अवस्थी को 'नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति' (सन् **1965**) में मार्क्सवादी आलोचकों के प्रेमचंद सबंधी मूल्यांकन से कई तरह की शिकायते हैं। उनका कहना है कि इसमें केवल वर्ग संघर्ष के नजरिये से देखा गया है। डॉ० रामविलास शर्मा की पुस्तक 'प्रेमचंद और उनका युग' का हवाला देते हुए देवीशंकर अवस्थी कहते हैं कि वे (रामविलास शर्मा) एक–एक समस्या और समाधान को कच्ची–पक्की रोकड़ों में खतियाते चलते हैं। पर प्रेमचंद के एक भी उपन्यास (कहानियों की ओर तो उनका ध्यान गया ही नहीं) के रूपबंध का विश्लेषण करते हुए उसकी आतरिक कलात्मक सत्ता, एकन्विति आदि के विश्लेषण की कोई चेष्टा को अपेक्षाकृत साधारण से उपन्यासों से भी छाँटकर अलग किया जा सकता है – प्रेमचंद की महत्त इस सभी समस्याओं के लिए है या इन्हीं को एक कलादृष्टि में पिरोने के लिए? ('नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति', पृ० **13**)।

नई कहानी के चर्चित आलोचक श्री अवस्थी प्रेमचंद संबंधी मार्क्सवादी आलोचना के अनतर्वस्तुवादी आग्रह को समीक्षा की विकृति मानते हैं। इस पुस्तक में संग्रहित कुछ अन्य आलोचकों ने प्रेमचंद के मूल्यांकन पर प्रश्नचिह्न लगाया, कुछ ने प्रेमचंद संबंधी मार्क्सवादी समीक्षा को अपर्याप्त माना, तो कुछ ने प्रेमचंद की परंपरा पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया। यद्यपि इस पुस्तक में संदर्भ नई कहानी का है पर नई कहानी के बहाने प्रेमचंद के साहित्य पर भी चर्चा हुई है और इसका प्रेमचंद संबंधी मूल्यांकन से गहरा संबंध है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'कहानी का माध्यम और आधुनिक भावबोध' नामक लेख में लिखा है :– 'ह्रदय

परिवर्तन या सयोगों की कथा दुनिया में सूक्ष्म मानवीय चरित्र की प्रायः पूर्व निश्चित और स्थिर मानों पर स्थूल यथार्थवादी व्याख्या होती थी– मनुष्य देवता है, राक्षस है या देवता होने के उपक्रम में राक्षस है। दो अतियों से बचने के लिए आदर्शोन्मुख यथार्थ के मध्यम मार्ग को भी अविष्कृत किया गया। पर इन सभी दृष्टियो मे सृजनात्मक सोपान पहले से स्थिर कर लिए गये थे......... यह मानों जटिलता को जटिल स्तरों पर समझने के लिए न जाकर, जटिलता को सरल बनाकर समझने की कोशिश है और इस समझौते में यथार्थ की अच्छी पकड़ सभव नहीं।'

श्री निर्मल वर्मा ने लिखा – 'बींसवी शताब्दी में साहित्य की जो विधा सबसे पहले अपने अंतिम छोर पर आकर ख़त्म हो गई वह कहानी थी। चेखव की कहानी कहानी का अत है। आज प्रश्न चेखव की परम्परा को (इस अर्थ में कि प्रेमचंद सिर्फ एक छाया हैं – वह भी अप्रसांगिक) आगे बढ़ाने का नहीं है। वह अभी चेखव से भी बहुत पीछे है। .... जो सही मायने में यथार्थवादी है उसके लिए यथार्थ हमेशा झाडी में छुपा रहता है।' .... (उपर्युक्त, नई कहानी : लेखक के बही खाते से' शीर्षक लेख)। प्रस्तुत संकलन में डॉ० नामवर सिंह और श्री राजेन्द्र यादव के लेख भी उल्लेखनीय हैं। जो प्रकारान्तर से नई कहानी के बहाने प्रेमचंद के कथा ससार से सार्थक मुठभेड़ करते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद के जीवन को आधार बनाकर सबसे अधिक जीवनियॉ लिखी गई हैं। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने 'प्रेमचंद घर में' (1956 ई०) में प्रेमचंद के बचपन से लेकर अंतिम समय तक के संघर्षमय जीवन को पूरी ईमानदारी एवं सच्चाई के साथ अंकित किया है। लेखिका ने उन प्रसंगों को भी छिपाया नहीं है जिनसे प्रेमचंद के जीवन की कोई दुर्बलता प्रकट होती हो। इसके साथ ही उन्होंने पति से भतभेद के बिंदुओ तथा विवाद को भी बिना किसी हिचक के व्यक्त कर दिया है। अमृतराय प्रेमचंद विरोधी समकालीन आलोचकों से सम्बद्ध प्रकरणों में तटस्थ नहीं रह पाये हैं। अपनी सीमाओं के बावजूद यह कृति एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसको पढ़ते समय उपन्यास जैसा आनंद मिलता है और प्रेमचंद का बहुमुखी संघर्षशील जीवन साकार हो उठता है। प्रेमचंद के जीवन पर एक अन्य महत्वपूर्ण रचना मदनगोपाल कृत 'कलम का मजदूर' (1965 ई०) है जिसमे प्रेमचंद की तेजस्वी छवि उभरती है। प्रेमचंद के जीवन से सम्बद्ध सभी प्रकार की सामग्री की निष्ठापूर्वक खोज और तटस्थतापूर्वक जीवनी–लेखन के कार्य का श्रेय डॉ० कमलकिशोर गोयनका का है जिन्होंने 'प्रेमचंद विश्वकोश भाग–1 (1981 ई०) में प्रेमचंद का प्रामाणिक

जीवन वृत्त प्रस्तुत किया है। लेकिन 'कलम का सिपाही' जहाँ एक सर्जनात्मक उपलब्धि है वहाँ यह पुस्तक सूचनात्मक और विवरणों की एक ढेरी बनकर रह गई है।

आस्था के चरण (1968 ई०)

(अ) विचार और अनुभूति तथा (आ) विचार और विवेचन

प्रेमचन्द पर डॉ० नगेन्द्र के दो लेख हैं 'वाणी के न्याय मन्दिर में और प्रेमचन्द आस्था के चरण। ये दोनों लेख आस्था के चरण (**1968**) मे भी संग्रहीत हैं। दूसरा लेख 'प्रेमचन्द चिन्तन और कला' तथा प्रेमचन्द और गोर्की' संग्रहो में भी छप चुका है। दोनों ही मे डॉ० नगेन्द्र की मूल स्थापना यह है कि प्रेमचन्द दूसरी श्रेणी के कलाकार हैं, प्रथम श्रेणी के नही। डॉ०नगेन्द्र के तर्को का (पैटर्न) लगभग वही है जो साहित्य अथवा लेखों में शाश्वत और चिरन्तम सत्य के चित्रण के पक्षधर आलोचकों तथा विचारकों का सामान्यतः होता है। जिन कारणों से डॅा० नगेन्द्र का मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का सृष्टा–कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :– प्रेमचन्द साहित्य जीवन की व्यावहारिक समस्याओं का प्राधान्य हैं– अर्न्तजगत् की गहनतम् समस्याओ को प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्व नहीं दिया है। अर्थात् प्रेमचन्द के साहित्य में बाह्य जगत के द्वन्द्वों और भावनाओं का ही वर्णन है, अन्तर्जगत के द्वन्द्वों का नहीं। दूसरी यह कि प्रेमचन्द ने अपने युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमता को जितना महत्व दिया है उतना युग की आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं। बात यह है कि प्रेमचन्द में सूक्ष्म चिन्तन और विश्लेषण–शक्ति का अभाव है। इनका विचार क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता, चिंतन और गम्भीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इस सबका परिणाम डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार यह हुआ है कि प्रेमचन्द की विचार शक्ति सामयिक प्रश्नों तक ही सीमित रही है, चिरन्तन प्रश्नों तक नहीं पहुंच सकी है।[1]

वाणी के न्याय–मन्दिर में भी डॉ० नगेन्द्र ने अपनी इसी मान्यता को रोचक तथा नाटकीय शैली में प्रस्तुत किया है।

---

[1] विचार और विवेचन, पृ० **99–100** (द्वितीय सस्करण, **1952**)

दोनों लेखों का आरम्भ दो पृथक स्थानों व भिन्न रूपों में होता है पर अन्त पहुचते–पहुंचते उनका स्वर घुल–मिलकर एकाकार हो जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से दोनों मे से 'विचार और विवेचन' वाला लेख ही अधिक सन्तुलित और महत्वपूर्ण है।

रीतिकाल के समर्थक आलोचक डॉ० नगेन्द्र प्रेमचन्द मे वर्ग–चेतना का अभाव और प्रेमचन्द साहित्य में वर्ग–संघर्ष का निषेध मानते हुए लिखते हैं कि उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त थी और पूँजीवादियों और जमींदारों के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूँजीवादी भी तो मनुष्य हैं, जो उसी तरह दुख–दर्द के शिकार हैं, जिस तरह मजदूर।' प्रेमचन्द की व्यापक सहानुभूति को उनका 'सबसे प्रधान गुण' मानते हुए डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'शोषक और शोषित कोई भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं था।' उनके मतानुसार सघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परन्तु वर्ग–संघर्ष को मानव के प्रति मानव के संघर्ष को एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रगों में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रंग में रगकर देखना घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है।' वे प्रेमचन्द की इस सतर्कता के प्रशंसक हैं। डॉ० नगेन्द्र प्रेमचन्द पर 'दक्षिणपंथी सुधारवाद' का सबसे फूहड़ और हास्यास्पद आरोप लगाते हुए लिखते हैं कि 'जनवाद के दो रूप हैं : एक दक्षिण पक्ष का जनवाद, जो जागरणसुधारमूलक है, दूसरा वामपक्ष का जनवाद, जो क्रान्तिमूलक है। अपने युग–धर्म के अनुकूल, युगपुरूष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण–सुधारमूलक जनवाद को ही ग्रहण किया।' प्रेमचन्द की 'सीमाओं' का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि प्रेमचन्द नैतिक मर्यादाओं की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का जो सत–असत् से परे है– शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध–बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ है, और आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गंभीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल प्रेरणा कभी नहीं बन पायी।' डॉ० नगेन्द्र को यह शिकायत है कि प्रेमचन्द अपनी 'बहिर्मुखी' और 'सामाजिक जीवन पर ही केन्द्रित' दृष्टि तथा नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण न तो 'प्राण–चेतना के आर–पार देख पाते हैं और न ही 'जीवन के अतल को स्पर्श कर पाते हैं।[1] फलतः डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार प्रेमचन्द में विवेक की कमी है और उनकी साहित्य–रचना प्रथम श्रेणी की नहीं बल्कि दूसरे दर्जे की है।

---

[1] प्रमचन्द और उनका युग, राम विलास शर्मा, **41**

प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान (1973)

कमलकिशोर गोयनका के इस शोध–प्रबन्ध में भारतीय सस्कृति के आधार पर प्रेमचद के उपन्यासों की नई व्याख्या का प्रयत्न है। गोयनका के अनुसार 'प्रेमाश्रम' में पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय सस्कृति, पाश्चात्य शिक्षा और भारतीय शिक्षा, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का संघर्ष चित्रित किया गया है। इस तरह क निष्कर्षों से 'प्रेमाश्रम' में प्रस्तुत किसान–जमीन्दार का संघर्ष आँखों से ओझल हो जाता है। गोयनका ने लिखा है भारतीय सभ्यता आत्मा और आचार की सभ्यता है और उसमें नैतिक, आध्यात्मिक तथा हार्दिक गुणों की प्रधानता है। इसके विपरीत भौतिकता एव स्वार्थपरता पश्चिमी सभ्यता की आत्मा है जिसमें स्वार्थ, आडम्बर, शारीरिक बनाव–श्रृंगार, व्यवसाय, मानवीय गुणों की मनमानी व्याख्या आदि अनेक दुर्तलताएँ हैं। इस तरह गोयनका का मत है कि 'प्रेमाश्रम' अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के संघर्ष की कथा है। 'ज्ञानशकर पाश्चात्य जीवन मूल्यों की उपज है और प्रेमशंकर भारतीय जीवन मूल्यों की।' (प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प – विधान, पृ० **182**)। पाश्चात्य शिक्षा का प्रतिनिधि है ज्ञानशकर। अँग्रेजी शिक्षा–दीक्षा के कारण भारतीय जीवन में बिखराव और परिर्वतन आ रहा है। इन्हीं संभावित परिर्वतनों को दिखाने के लिए प्रेमचंद ने ज्ञानशंकर की सृष्टि की है। इस तरह के विवेचनों का विरोध करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक लिखा है : 'प्रेमाश्रम में विशुद्ध भारतीय शिक्षा – पद्धति का प्रतिनिधि कोई है ही नहीं, इसलिए उसमें भारतीय शिक्षा और पाश्चात्य शिक्षा की टक्कर के चित्रण की कल्पना करना व्यर्थ है।' (प्रेमचंद और उनका युग, पृ० **191**)। वस्तुतः सामतवाद के विरुद्ध क्रांतिकारी अभियान चलाकर स्वाधीनता आंदोलन को सफलता की मंजिल तक पहुँचाया जा सकता था। गाँधी जी राजाओं और जमीन्दारों को ट्रस्टी बनाकर उनसे समझौते का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। प्रेमचंद की क्रांतिकारियों से गहरी सहानुभूति थी जो समझौते का पुराना रास्ता छोड़कर किसानों और मजदूरों के संगठन के आधार पर क्रांति के नए रास्ते पर बढ़ रहे थे। क्रांति का यह प्रभाव बलराज के चरित्र में अभिव्यक्त हुआ है। गोयनका की यह राय सही है कि 'बलराज बोल्शेविक क्रांति की उपज है, जो जमीन्दारों और सरकारी हाकिमों के अत्याचारों और शोषणों का समान रूप से विरोध करता है।' (उपर्युक्त, पृ० **182**)। बलराज जिस उद्देश्य को यथार्थ जगत में प्राप्त करना चाहता है, उसे

प्रेमशकर कल्पनालोक में पाने की कोशिश करते हैं। इसको गोयनका ने गॉधीवाद और मार्क्सवाद का विरोध बना दिया है और उनका निष्कर्ष है कि 'पश्चिमी जीवन–दृष्टि, संस्कार और मूल्यों की अनिष्टकारिता और भारतीय जीवन–दृष्टि, संस्कार और मूल्यों की श्रेष्ठता दिखाना ही लेखक का उद्देश्य रहा है।' (उपर्युक्त, पृ० **218**)। वस्तुतः 'प्रेमाश्रम' गाँधीवाद की विफलता चित्रित करने वाला उपन्यास है। यहाँ डॉ० रामविलास शर्मा का आकलन ज्यादा सटीक है :–

'प्रेमाश्रम में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद की टक्कर नहीं है, भारतीय शिक्षा और पाश्चात्य शिक्षा की टक्कर नहीं है। यहॉ किसानों की टक्कर अँग्रेजी राज से है, उसके अत्याचारी हाकिमों तथा उनके भरोसे किसानों को सतानेवाले जमीन्दारों से है।' (प्रेमचद और उनका युग, पृ० **197**)।

'प्रेमाश्रम' जमीन्दार–किसान संघर्ष की कथा है, उसमे किसानों की दयनीयता और शोषण से भरी कहानी को प्रधानता दी गई है। साथ ही इस उपन्यास में पुराने संस्कारों, धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरूद्ध अनेक सामाजिक स्तरों पर स्त्रियों और पुरुषों के सघर्ष को भी चित्रित किया गया है।

अपनी दूसरी पुस्तक 'प्रेमचंद : अध्ययन की दिशाएँ' (**1981**) में डॉ० गोयनका 'गोदान' पर विचार करते हुए कहते हैं कि 'होरी की मौत न तो हीरोइक है, न घनीभूत त्रासदी की अनुभूति दे पाती है। वह जिस शोषण और विषमता के चक्र में पिसता रहा है और जीवित रहते हुए धीरे–धीरे रिसता रहा है, यदि वह उन परिस्थितियों में संघर्ष करते हुए मरता तब उसकी मौत उसके जीवन चरित्र को एक नये ही रंग में रंग देती और उसकी मौत सूरदास के समान हीरोइक मौत बन जाती। इस स्थिति के बावजूद प्रेमचंद ने होरी की मौत को भी सूरदास के समान गौरवान्वित करने की चेष्टा की है।' (पृ० **123–124**)। गोयनका का विश्लेषण अपने विचारों के चौखटे में प्रेमचंद की रचनाओं को बाँधकर करता है जिससे निष्कर्ष प्रभावित होते हैं। प्रेमचंद की रचनाओं की समाजवादी परिणति को वे अस्तित्ववादी बना डालते हैं। गोयनका के निष्कर्ष विवादास्पद हैं।

प्रेमचंद की उपन्यास यात्रा : नवमूल्यांकन (1978)

डॉ० शैलेश जैदी का शोध–प्रबंध एक तरह से कमलकिशोर गोयनका के विचारों से प्रभावित है। विवादास्पद निष्कर्ष इस पुस्तक की मुख्य विशेषता है। इसमें गोयनका की आग्रहपूर्ण दृष्टि का उल्लेख है। डॉ० जैदी के अनुसार 'प्रेमाश्रम' को कृषक जीवन का महाकाव्य कहना उसके फलक को संकुचित करना है। इस उपन्यास की मूलकथा किसान–जमीन्दार संघर्ष को लेकर नहीं रची गई क्योंकि संघर्ष सभी जमीन्दारों के विरुद्ध नही है (उपर्युक्त, पृ० 165)। 'प्रेमाश्रम' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो जमीन्दार और कृषक वर्ग के मध्य होने वाले हिमालयी संघर्ष में अपना स्थान बनाने की इच्छा रखता है। जैदी का निष्कर्ष है – 'प्रेमाश्रम में भौतिकता पर आध्यात्मिकता की विजय स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है' (उपर्युक्त, पृ० 190)। इसी तरह 'गोदान' का विश्लेषण करते हुए जैदी कहते हैं – 'गोदन के लेखनकाल तक प्रेमाश्रम की दृष्टि मे आमूल परिवर्तन हो चुका था।' फिर अध्यात्म से समाजवाद तक की यात्रा अस्तित्ववाद तक जाकर सम्पन्न होती है। मोहभंग, जीवन की व्यर्थता का अहसास, स्वयं डॉ० शैलेश जैदी के शब्द हैं –

'उसके (होरी) के समक्ष अस्तित्व और मृत्यु में से किसी एक को चुन लेने की स्वतत्रता है। .... होरी अस्तित्व को चुनता है इसलिए कर्म में प्रवृत्त रहते हुए भी परतंत्रता को झेलता है। अल्बर्ट थामू की दृष्टि में मनुष्य के अस्तित्व की दुखद अर्थहीनता इसमें नहीं है कि वह मृत्यु के समक्ष डटा रहता है, बल्कि इसमें है कि वह दुर्व्यवस्था, तर्कशून्यता एव अन्याय के मध्य जीता है और सब कुछ समझते हुए भी उससे निकलने में स्वयं को असमर्थ पाता है। गोदान का होरी कामू की पीढ़ी का ही एक व्यक्ति है जो यह जानती है कि संसार को बदल सकना उसके लिए संभव नहीं है।' (प्रेमचंद की उपन्यास यात्रा : नवमूल्यांकन, पृ० 397)

समाजवादी यथार्थवाद की यह अस्तित्ववादी परिणति स्वयं प्रेमचंद के लिए भी अकल्पनीय रही होगी। इस तरह से जैदी प्रेमचंद को राष्ट्रीयता की जद से मुक्त करके अन्तर्राष्ट्रीय बना देते हैं स्वयं उनका कथन है : 'प्रेमचंद ने रूसी उपन्यासकारों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीयता और मानवतावाद की मनोवेदना को नैतिक सिद्धांतों, विचारों और समाजवादी दृष्टिकोण के साथ जन्म लेने वाले पात्रों के माध्यम से प्रेमाश्रम में प्रत्यार्पित किया है, और

जीवन के उन आयामों के साथ उन्हें जोड़ दिया है जिनका सार्वभौमिक महत्त्व है। (उपर्युक्त, पृ० 189)। डॉ० जैदी ने सतही तुलनाएँ की हैं। कही रूसी, कहीं पश्चिमी लेखकों का प्रभाव दिखाया जैसे कर्मभूमि में टालस्टॉय के 'वार एण्ड पीस' से प्रेरणा ग्रहण की है, गोदान में 'अन्ना कैरेनिना' से। रंगभूमि में साइलस मार्नर का आंशिक प्रभाव देखा जा सकता है। निर्मला में कायस्थों के नैतिक पतन का प्रलेख प्रस्तुत किया है। फिर इस तुलना का स्वयं खडन भी किया है :–

'प्रेमचंद की तुलना विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकारो टाल्सटॉय, गोर्की, शरतचन्द्र, ताराशंकर, डिकेन्स, थैकरे आदि से करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस तुलना के सॉचे अपने में दोषपूर्ण हैं। कारण यह है कि प्रेमचंद ने हिदी उपन्यास को अलग से एक क्षितिज दिया है और यह क्षितिज विशुद्ध भारतीय रंगों और रेखाओं के सम्मिश्रण से जीवन्त दिखाई देता है।' (उपर्युक्त, पृ० 499–500)।

प्रेमचंद का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत करने के सिलसिले में डॉ० जैदी ने प्रेमचंद के व्यक्तिगत जीवन में ताक–झाँक की है और व्यक्तिगत जीवन की बखिया उधेड़ी है। गोयनका और जैदी की बखियाउधेड़ आलोचनाओं का सूत्र प्रेमचंद के जीवन काल में चले कीचड़ उछाल अभियानों से जुड़ता है जिससे साहित्य क्षेत्र में केवल गंदगी फैलती है। व्यक्ति प्रेमचंद के बारे में गोयनका और जैदी के सनसनीखेज विवरणों का एकमात्र उद्देश्य प्रेमचंद के साहित्यिक कद को छोटा करना है।

उत्तरार्द्ध – प्रेमचंद अंक (अप्रैल 1980)

सव्यसाची के सम्पादन में निकला यह प्रेमचंद विशेषाक कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इसका महत्त्व इससे भी बढ़ जाता है कि इससे पूर्वाद्ध मे 'दस्तावेज़' शीर्षक के अन्तर्गत प्रेमचन्द के विभिनन अवसरों पर लिखे लेखों को संकलित किया गया है जो प्रेमचंद के बारे में एक समझ बनाने में पाठक की सहायता करते हैं। प्रेमचद की चिंतन – यात्रा के साथ गुजरते हुए पाठक प्रेमचंद के विचारों का साझीदार बनता है तथा उस रचना संघर्ष का अनुभव करता है जो प्रेमचंद उस दरम्यान कर रहे थे। इस दृष्टि से 'हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य', 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति', 'जीवन और साहित्य में घृणा का स्थान',

'साहित्य का उद्देश्य', 'पुराना जमाना – नया जमाना' और 'महाजनी सभ्यता' जैसे लेखों से प्रेमचंद की रचना – प्रक्रिया और विचार दृष्टि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। दूसरे खंड 'पहचान और परख' में डॉ० कुँवरपाल सिंह, शिवकुमार मिश्र और चन्द्रभूषण तिवारी के विचारोत्तेजक लेख हैं जो प्रेमचंद का मूल्याकन जनवादी दृष्टि से करते हैं। सुधीश पचौरी ने आधुनिक संवेदना की दृष्टि से और नमिता सिंह ने प्रेमचद के भाषा संबधी विचारों का महत्त्व प्रकट किया है।

चन्द्रभूषण तिवारी का लंबा निबंध 'प्रेमचंद की यथार्थवादी परम्परा और समकालीन कथा साहित्य' बड़ी बारीकी से प्रेमचद के रचना संसार का विश्लेषण करता है। इसके लिए उन्होने नलिन विलोचन शर्मा, इन्द्रनाथ मदान और चन्द्रबली सिह की आलोचनाओं का संदर्भ उठाया है और उसकी छानबीन की है। नलिन विलोचन शर्मा('हिन्दी उपन्यास : विशेषतः प्रेमचंद') ने प्रेमचंद – साहित्य के ढॉचे की बड़ी दाद दी है। इसे ही वे प्रेमचंद की देन मानते हैं और इसे साहित्य के नवीनतम प्रयोगों में मानते हैं और इसके लिए पश्चिम की कई आधुनिक शब्दावलियों का वे प्रयोग करते हैं। चन्द्रबली सिंह ने बड़ी गंभीरता के साथ इस तथ्य पर विचार किया है कि प्रेमचंद के शुरु का मध्यवर्गीय दृष्टिकोण कैसे विकसित और रूपान्तरित होता गया है। इस तरह से हृदय परिवर्तन का आदर्श का सुधारवाद का वह सूत्र, जिसे प्रेमचंद ने काफी मजबूती से पकड़ रखा था – बड़ी तेजी से खिसकता प्रतीत होता है और जीवन के अंत में अपने संपूर्ण अनुभवों के निष्कर्ष के रूप में मानों प्रेमचंद को यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'आदर्श से काम नहीं चलेगा'। यह प्रेमचंद की वैचारिक परिणति उनकी रचना – प्रक्रिया के विश्लेषण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने आधुनिकता – बोध पर काफी विस्तार से काम किया है। बडे परिश्रम से उसके नये–पुराने सूत्रों को एकत्र किया है और इस क्रम में उन्होंने कुछ नई उद्भावनाएँ भी की हैं, जैसे कि हिंदी कथा – साहित्य में आधुनिकता – बोध की शुरुआत, उपन्यास और कहानी दोनों में प्रेमचंद के आखिरी दौर की रचनाओं से हुई है, उपन्यास में 'गोदान' से और कहानी में 'पूस की रात' से। इसके लिए उनके पास एक ही तर्क है कि प्रेमचंद ने इनके अंत को खुला छोड़ दिया है। वैचारिकता या आदर्श और कल्पना का कोई वैसा आरोपण नहीं है जो उनकी आरंभिक रचनाओं में दिखता है। वस्तुतः यह आधुनिकता – बोध रचनाओं की राह से आया है जो जीवन–वास्तव के प्रति प्रेमचंद के बदले हुए रूख

या उनके परिवर्तित निष्कर्ष का है। यहाँ तक आते – आते आदर्शवाद या सुधारवाद बहुत छँट जाता है। चंद्रभूषण तिवारी का यह निष्कर्ष उल्लेखनीय हैः–

'इतना तो स्पष्ट है कि परंपरा स्वय में कोई जड़ वस्तु अथवा अविचल स्थिति नहीं है, वैसी कोई परम्परा प्रेमचंद की स्वयं स्वीार नहीं है। किसानों के प्रति पूरी हमदर्दी रखते हुए भी उनके शोषण तथा दमन के प्रसंगों के खिलाफ उनके संघर्ष में पूरी तरह उनका साथ देते हुए भी, प्रेमचंद ने उनके भीतर के परंपरागत सामती सस्कारों तथा उनसे उत्पन्न बहुत सारी मिथ्या धारणाओं की स्वय आलोचना की है, जो जीवन यथार्थ के सूत्रों को ढँकने मे मदद करती हैं। 'प्रेमाश्रम' से लेकर 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि सभी कृतियों में उनकी यह आलोचना दिखाई देती है। एक बात और है – वे स्वयं अपनी परंपरा से भी संघर्ष करते हैं, अपनी पहले की मान्यताओं से, अपने प्रारंभिक दृष्टिकोण से, सुधारवाद से, अपने आदर्श से।' (उत्तरार्द्ध, प्रेमचद अंक, पृ० **62**)

'हिन्दुस्तानी' – प्रेमचंद स्मृति अंक (जुलाई सन् 1980)

प्रेमचंद शताब्दी वर्ष के अवसर पर हिन्दुस्तानी एकेडमी से निकलने वाली पत्रिका 'हिदुस्तानी' का प्रेमचंद स्मृति अंक जुलाई **1980** ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें प्रकाशित लेखों में जिन विद्वानों के आलेख उल्लेखनीय हैं उनके नाम हैं – डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉ० जाफर रज़ा, विश्वम्भर 'मानव–, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, उदय नारायण तिवारी और उर्मिलेश। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का आलेख संक्षिप्त कितु सारगर्भित है। डॉ० चतुर्वेदी के अनुसार, प्रेमचंद मन को छूते हैं और झकझोरते भी हैं। हिंदी क्षेत्र का समाज उनकी कृतियों में पुनर्सृजित हुआ है। हिंदी क्षेत्र के पाठक का मानस प्रेमचद की अनुभव बहुत रचनाओं से समृद्ध हुआ है। डॉ० चतुर्वेदी के अनुसार पाठक के लिए सरल प्रेमचंद अपनी इसी अनुभव बहुलता के कारण आलोचक के लिए मुश्किल बनते हैं। डॉ० चतुर्वेदी का मत है कि गाँधी जी कि किफ़ायतसारी का आदर्श प्रेमचंद अपनी रचना – प्रक्रिया में अपनाते हैं और भाषा के सत का सम्पूर्णतः दोहन कर लेते हैं। फलतः आलोचक के लिए ऐसी भाषा छवियाँ या संकेत शेष नहीं बचते जिनके सहारे फिर वह उस रचना में आगे अर्थ का संवर्द्धन कर सके। विश्वम्भर 'मानव' ने प्रेमचंद के प्रति हिंदी आलोचकों द्वारा किये गये अन्याय का प्रश्न उठाया

है। विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र के प्रेमचंद संबंधी मतो की आलोचना की है और इन आलोचकों के पूर्वाग्रह को उजागर किया है। 'मानव' जी के अनुसार प्रेमचंद ने एक ओर सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं, आर्थिक विषमता और शोषण तथा राजनीतिक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अपनी वाणी ऊँची की, दूसरी ओर उज्जवल चरित्रों के द्वारा जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों से हमें अवगत कराकर, जीवन को जीने योग्य बनाया। हिंदी के महान साहित्यकारों तुलसीदास और मैथलीशरण गुप्त के समान नैतिकता के वे प्रबल समर्थक हैं और उनकी सांस्कृतिक दृष्टि बहुत स्वच्छ है। 'मानव' जी का कहना है कि प्रेमचंद एक राष्ट्रवादी व्यक्ति थे और इस नाते राजनीति में वे गॉधीवाद के प्रबल समर्थक थे। उनका कथा–साहित्य हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन का एक विशाल दर्पण है। अत में 'मानव' जी का निष्कर्ष है:– 'कुछ नये उत्साही समीक्षक तथ्यों को तोड–मरोड़कर जो उन्हें साम्यवादी सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह उनकी भूल है। वे मूलतः गॉधीवादी थे'। (उपर्युक्त, पृ० **10**)। वस्तुतः प्रेमचंद का साहित्य अपने युग का जीवन्त इतिहास है। समय बीतने के साथ प्रेमचंद की मूल्यवत्ता अधिक गहरी और अर्थवान होती जाएगी। सच तो यह है कि प्रेमचंद को न तो गाँधी से जोड़ा जा सकता है और न ही मार्क्स से। समय की निरन्तरता में वे गाँधी और मार्क्स–दोनों को छांड़कर बहुत आगे बढ़ जाते हैं। दरअसल वे बहुत बड़े मानवतावादी हैं।

प्रेमचंद : उर्दू–हिन्दी कथाकार (1983)

डॉ० जाफ़र रज़ा उर्दू के विद्वान आलोचक हैं। उनका यह शोध प्रबन्ध लीक से हटकर है। इसका महत्त्व इसलिए भी है कि उर्दू के विद्वान और प्रोफ़ेसर प्रेमचंद को किस नजरिये से देखते हैं। डॉ० रज़ा ने प्रस्तावना में ही यह प्रश्न उठाया है कि प्रेमचंद उर्दू के लेखक हैं या हिंदी के? पूरी शोध–प्रक्रिया में यह प्रश्न छाया हुआ है और विद्वान आलोचक ने तथ्यों के आलोक में सत्य को तलाशने क़ी कोशिश की है। लेखक का अपना मंतव्य है : 'उसके विचार में प्रेमचंद मूल रूप में उर्दू के लेखक हैं। अधिकांशतः उर्दू में ही रचना करते थे। हिंदी में उनकी रचनाओं का अनुवाद भी अधिकतर दूसरों ने किया है। इसलिए साहित्य एवं अनुसंधान के आधार पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हिंदी के लिए प्रेमचंद की

स्थिति वही है, जो किसी साहित्यकार को किसी अन्य भाषा में रचनाओं के अनुवद प्रकाशित हो जाने से प्राप्त होती है' लेखक के मंतव्य की पुष्टि फिराक गोरखपुरी के विचारों से भी होती है। अपने मत के समर्थन के लिए लेखक तथ्यों को टटोलता है। डॉ० गंगाप्रसाद विमल और डॉ० कमलकिशोर गोयनका का वैचारिक समर्थन उसे इस संदर्भ में मिलता है। लेखक का परिश्रम सराहनीय है। प्रेमचंद के भाषा विषयक दृष्टिकोण को डॉ० जाफ़र रज़ा इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

'प्रेमचंद ने भाषिक समस्या को राष्ट्रीय नेताओं की दृष्टि से देखा। वे भाषा शास्त्री न थे और न उन्होंने उसके वैज्ञानिक पक्षों पर ही विचार किया था। भाषा उनके लिए अभिव्यक्ति का यंत्र मात्र थी जो किसी रूप में और किसी प्रकार प्रयुक्त की जा सकती थी। हिंदुस्तानी को स्वीकार करने में उन्हें एक प्रकार की व्यक्तिगत सुविधा थी कि नागरी तथा उर्दू लिपि में एक ही भाषा का प्रयोग करने पर जनभाषा को मुखरित करने की अधिक सुविधा मिल सकती थी। अतः उनकी रचनाओं से विभिन्न कालों में भाषागत विभिन्न प्रवृत्तियॉ दिखाई पड़ती हैं। (प्रेमचंद : उर्दू – हिन्दी कथाकार', पृ० 289)

इसमें कोई शक नहीं कि प्रेमचंद को हिंदी तथा उर्दू दोनों भारतीय भाषाओं में प्रेरणा–स्रोत की स्थिति प्राप्त है तथा उनकी रचनाएँ इन दोनों भारतीय भाषाओं के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। प्रेमचंद की रचनाओं का आधार भारतीय ग्राम्य जीवन है, जिसकी अपनी मान्यताएँ हैं, अपनी विपत्तियॉ और उपलब्धियाँ हैं। शोषण हैं, दुर्भाग्य हैं और इसे भाग्य कहकर सहने की शक्ति है। प्रेमचंद ने भारतीय नगरों – उपनगरों को भी देखा था। वहॉ का औपचारिक जीवन, औद्योगिककरण, पश्चिमी प्रभाव और चमक–दमक देखकर प्रेमचद की आँखें चौंधिआई हुई थी। लेकिन नगरों के जीवन में उन्होंने अपने ह्रदय की धड़कनें नहीं सुनी थीं। उन्होंने नागरिक सभ्यता को भारतीय जीवन में अभिशाप के रूप में ग्रहण किया था। उन्हें इस जीवन से सहानुभूति नहीं, इसलिए उसमें उनका मन नहीं रमता। डॉ० रज़ा का कथन एकदम सही है कि 'इस ग्राम्य एवं नागरिक जीवन के परिवेश को ध्यान में रखे बिना प्रेमचद की भाषा नीति को भी नहीं समझा जा सकता।'

एक तरफ हिंदी में प्रेमचंद की भाषा शैली को लेकर आक्षेप किये जाते रहे हैं। दूसरी ओर उर्दू पक्ष से प्रेमचंद की भाषा शैली को उर्दू में इतना पसन्द किया जाता रहा है कि व्यंग्यात्मक रूप में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए एक बार मौलाना शिबली ने कहा था – भारत में आठ करोड़ मुसलमान बसते हैं लेकिन इनमें दम नहीं कि इस काफ़िर से उर्दू

जबान छीन ले! यह वही काफ़िर है, जिसको उर्दू दुनिया देखकर जीती है और जिस पर उसका दम निकलता है।

वस्तुतः प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में जिस भारतीय जनमानस की भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, उसका रूप अखिल भारतीय है क्योंकि प्रेमचंद' की भाषा बोलने वाले देश के किसी एक भाग तक सीमित न रहकर पूरे देश में कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं।

डॉ० जाफ़र रज़ा के अनुसार प्रेमचंद मूलतः मानववादी, राष्ट्रवादी और भौतिकवादी थे। उन्होंने क्रमबद्ध रूप से न तो मार्क्सवाद का अध्ययन किया था न उस पर विचार ही। परंतु वे न्याय और अन्याय के संघर्ष में न्याय के साथ तथा पूँजीपति और निर्धन के संघर्ष में निर्धनके साथ दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचंद हरदम जनसाधारण के साथ हैं। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी और मानवतावादी है। ढहते सामंतवाद के साथ उनकी सहानुभूति है पर पूँजीवाद जिस प्रकार से धन संचय करता है उसके वे खिलाफ़ हैं। सामतवाद में धन के अपव्यय को शाहखर्ची माना जाता है जिसका सामाजिक–सास्कृतिक आधार है। उनकी रचनाओं से आभास मिलता है कि इतिहास के भौतिक विकास के विषय में उनके विचार वर्तमान चिंतकों से मेल नहीं खाते। नारी के अधिकारों एव दायित्व के विषय में भी उनका दृष्टिकोण वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संकीर्ण प्रतीत होता है। अंत में डॉ० रज़ा का निष्कर्ष है : 'प्रेमचंद को उनके युग की समस्याओं एवं मान्यताओं से अलग करके देखने पर भ्रांतिपूर्ण निष्कर्ष ही मिलेंगें' (पृ० **297**)। डॉ० जाफ़र रज़ा के इस निष्कर्ष से सहमति जताई जा सकती है :–

'भारत जैसे–जैसे समाजवादी लक्ष्यों की ओर बढ़ता जाएगा, प्रेमचंद की रचनाओं का महत्त्व भी बढ़ता जाएगा।'

प्रेमचंद की कहानियाँ : परिदृश्य और परिप्रेक्ष्य (1993 ई०)

सं० डॉ० राजेन्द्र कुमार

हिन्दी आलोचना में शिखंडी के रूप में विख्यात डॉ० राजेन्द्र कुमार (यह कथन सुप्रसिद्ध कहानीकार कमलेश्वर का है) का लेखन वामपंथी और 'अभिप्राय' नई समीक्षा का

है। उन्होंने बड़ी कुशलता से प्रतियोगी छात्रों के लिए प्रेमचंद की कहानियों के आलोचनात्मक मूल्यांकन का संकलन तैयार किया है जो स्तरीय है और प्रेमचंद के पाठकों की समझ बढ़ाने वाला है। इसमें एक तरफ डॉ० गंगा प्रसाद विमल और डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र के लेख हैं तो दूसरी तरफ डॉ० नन्दकिशोर नवल, सुरेन्द्र चौधरी और नीलकान्त के। सम्पादन और चयन अच्छा है। प्रेमचन्द के विशिष्ट उपन्यासों पर लिखित परीक्षोपयोगी पुस्तकों पर यहाँ विचार करना उचित नहीं है। वस्तुतः इन्हें आलोचना की कोटि में रखा ही नहीं जाना चाहिए। यह हिन्दी–आलोचना का दुर्भाग्य है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों पर अभी तक जितने अध्ययन प्रकाशित हुए हैं, वे सब के सब बजारू नोट्स की शैली में है। गोदान : एक अध्ययन की समस्याएँ (1958 ई०) – डॉ० गोपाल राय : एक उल्लेखनीय पुस्तक है।

दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद (2000 ई०)

श्री सदानंद शाही द्वारा संपादित यह संकलन दलित चेतना के संदर्भ में प्रेमचंद का मूल्याकन करता है। प्रेमचंद दलित जीवन को हिन्दी साहित्य के केन्द्र में लाने वाले पहले लेखक हैं। उनका कथा और विचार साहित्य हिंदी क्षेत्र के दलित जीवन की त्रासदी का प्रामाणिक आकलन है। इस आकलन के मूल में दलित जीवन स्थितियों को बदलने की चिन्ता भी है। इसलिए हिंदी में प्रेमचंद ऐसे व्यक्तित्व के रूप में दिखाई देते हैं, जिनसे दलित आंदोलन की टकराहट अपरिहार्य है।

दलित का प्रश्न, वर्ण और जाति का प्रश्न, हिंदी प्रदेश के नवजागरण के एजेन्डे से छूट गया था। प्रेमचंद ऐसे लेखक थे जो इतिहास द्वारा छोड दिये गये इस प्रश्न को अपने साहित्य के माध्यम से निरन्तर केन्द्र में लाने के लिए यत्नशील रहे। आज हिंदी प्रदेश का दलित जागरण नवजागरण के दौरान छूट गए ऐतिहासिक प्रश्न का नवोन्मेष है। प्रश्न यह भी है कि क्या इस नवोन्मेष का प्रेमचंद से कोई रिश्ता बनता है। 'दलित साहित्य की अवधारण और प्रेमचंद' पुस्तक इस रिश्ते की पहचान के बहाने दलित साहित्य, उसके सौन्दर्यबोध तथा विश्व दृष्टि को समझने का एक प्रयत्न करती है।

डॉ० नामवर सिंह, विजेन्द्र नारायण सिंह और मैनेजर पांडेय के लेख अच्छे बन पड़े हैं। 'दलित चेतना का यथार्थ' शीर्षक लेख में श्री राजेन्द्र कुमार ने दलित आलोचना का पैरोकार बनते हुए, बड़ी निर्लज्जतापूर्वक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और रामस्वरूप चतुर्वेदी पर प्रहार किया है। मौका देखकर गिरगिट की तरह रंग बदलने वाले विद्वानों के कारण ही हिदी आलोचना का बेड़ा गर्क हुआ है। आलोचना की निष्पक्षता और गंभीरता इस तरह के प्रयासों से दूषित होती है और वह पत्रकारिता के सनसनीखेज रूप के नजदीक पहुँच जाती है। इस दलित चेतना के थोथे शोर में डाम् नामवर सिंह सुचिन्तित ढंग से कहते हैं कि प्रेमचंद के साहित्य में दलित चेतना जिस रूप में है, उसका ठीक–ठीक मूल्यांकन होना चाहिए। स्वयं उनके शब्दों में – 'दलित साहित्य और प्रेमचंद को गड्डमड्ड करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। दलित साहित्य की स्वायत्तता और स्वतंत्रता का पूरा सम्मान किया जाना चाहिए। यह केवल सयोग नहीं कि प्रेमचंद की पहली रचना भी दलित जीवन से संबंधित है और अंतिम रचना गोदान भी। सद्गति, ठाकुर का कुआँ, दूध का दाम जैसी कहानियॉ दलित जीवन की पीड़ा और संघर्ष व्यक्त करती है। विचार करना चाहिए कि इस दृष्टि से लिखी कहानियॉ जितनी मार्मिक हैं उतने उपन्यास नहीं। यह जरूर है कि रंगभूमि का नायक अछूत है और गोदान में मातादीन ब्राह्मणत्व का अतिक्रमण करता है। जब राष्ट्रीय एजेण्डा पर दलित मौजूद नहीं था, तब भी प्रेमचंद दलित–जीवन की कहानी लिख रहे थे।' (पृ० **171**)। डॉ० नामवर सिंह के उपर्युक्त कथन से प्रेमचंद – आलोचना का नया दरवाज़ा खुलता है।

जैसा कि डॉ० रामविलास शर्मा ने इसके बारे में कहा है कि यह हिंदी में बड़े पैमाने पर लिखी हुई किसी भी साहित्यकार या अन्य महान व्यक्ति की पहली जीवनी है। प्रेमचद–साहित्य का अध्ययन करने वालो के लिए इसका महत्व कभी कम न होगा। प्रेमचंद का व्यक्तित्व असाधारण था। ऐसे व्यक्ति की भीतरी पेंचीदगियों को पहचानना आसान काम नहीं था। अमृत राय ने बड़ी कुशलता से इस कार्य को किया है। एक तरफ प्रेमचंद पर किये गए आक्षेपों का उल्लेख काफी विस्तार से किया है तो दूसरी तरफ उनके समर्थन में प्रकाशित होने वाले लेखों का हवाला बहुत ही कम है। इससे गलत तस्वीर सामने आती है। इसी तरह जैसा कि डॉ० शर्मा ने कहा है कि प्रेमचंद के यथार्थ चित्रण की गहराई का एक बहुत बड़ा कारण उनकी पारिवारिक जीवन की पकड़ है। उनका एक भी ऐसा उपन्यास नहीं है जिसमें विभिन्न पात्रों के पारिवारिक जीवन का चित्रण न किया गया हो। प्रेमचंद की कला

की गहरी जड़े इस पारिवारिक परिवेश में हैं। "इसीलिए उनके जीवन चरित्र में उस विघटन का चित्र आना जरूरी था और इस चित्र से उनकी पचीसों पारिवारिक जीवन सबंधी कहानियों का सूत्र जोड़ना आवश्यक था। 'कलम का सिपाही' कहने से पारिवारिक जीवन के विघटन का मोहपूर्ण किंतु यथार्थ चित्रण करने वाले प्रेमचद पाठक की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।" ('प्रेमचद और उनका युग'– डॉ० रामविलास शर्मा, पृ० **176–177**)।

यहॉ यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचद के जीवन को आधार बनाकर सबसे अधिक जीवनियॉ लिखी गई हैं। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने 'प्रेमचद घर में' (**1956** ई०) मे प्रेमचंद के बचपन से लेकर अंतिम समय तक के संघर्षमय जीवन को पूरी ईमानदारी एव सच्चाई के साथ अंकित किया है। लेखिका ने उन प्रसंगों को भी छिपाया नहीं है जिनसे प्रेमचंद के जीवन की कोई दुर्बलता प्रकट होती हो। इसके साथ ही उन्होंने पति से भतभेद के बिंदुओं तथा विवाद को भी बिना किसी हिचक के व्यक्त कर दिया है। अमृतराय प्रेमचंद विरोधी समकालीन आलोचकों से सम्बद्ध प्रकरणों में तटस्थ नहीं रह पाये हैं। अपनी सीमाओं के बावजूद यह कृति एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसको पढते समय उपन्यास जैसा आनंद मिलता है और प्रेमचंद का बहुमुखी संघर्षशील जीवन साकार हो उठता है। प्रेमचंद के जीवन पर एक अन्य महत्वपूर्ण रचना मदनगोपाल कृत 'कलम का मजदूर' (**1965** ई०) है जिसमे प्रेमचद की तेजस्वी छवि उभरती है। प्रेमचंद के जीवन से सम्बद्ध सभी प्रकार की सामग्री की निष्ठापूर्वक खोज और तटस्थतापूर्वक जीवनी–लेखन के कार्य का श्रेय डॉ० कमलकिशोर गोयनका का है जिन्होंने 'प्रेमचंद विश्वकोश भाग–**1** (**1981** ई०) में प्रेमचंद का प्रामाणिक जीवन वृत्त प्रस्तुत किया है। लेकिन 'कलम का सिपाही' जहॉ एक सर्जनात्मक उपलब्धि है वहॉ यह पुस्तक सूचनात्मक और विवरणों की एक ढेरी बनकर रह गई है।

प्रेमचंद के कथा साहित्य की आलोचना – प्रक्रिया

1926 ई० से अवध उपाध्याय के प्रेमचंद विरोधी लेखों से जिस प्रेमचंद विरोधी आलोचना की शुरुआत हुई उसे रामकृष्ण 'शिलीमुख', श्रीनाथ सिंह, ज्योति प्रसाद 'निर्मल' आदि निन्दक आलोचकों द्वारा विस्तार प्राप्त हुआ। इस विरोध की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति सर्वश्री रामचंद्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, इलाचंद्र जोशी, नगेन्द्र, इन्द्रनाथ मदान,

रामस्वरूप चतुर्वेदी, कमल किशोर गोयनका और गिरिजा राय की आलोचनाओं में होती है। दरअसल यह गैर मार्क्सवादी आलोचना है। प्रेमचंद के समर्थन में **1933** ई० में लिखी पहली आलोचना पुस्तक श्री जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' की है। यह समर्थन का स्वर डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना पुस्तक 'प्रेमचंद' (**1941** ई०) में चरम पर पहुँचता है। यहाँ से मार्क्सवादी आलोचना डॉ० शर्मा के नेतृत्व में प्रेमचंद समर्थन में लामबंद हो जाती है। इसी समर्थन का विस्तार डॉ० शर्मा की प्रेमचंद पर लिखी दूसरी पुस्तक 'प्रेमचंद और उनका युग' (**1952** ई०) में फूटता है। अन्य मार्क्सवादी आलोचकों सर्वश्री नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रमेश कुन्तल मेघ, कुँवरपाल सिंह, नन्दकिशोर नवल और मैनेजर पांडेय इस समर्थन को और व्यापक बनाते हैं। समर्थक आलोचना होने के कारण मार्क्सवादी आलोचक प्रेमचंद के रचना संसार का सहानुभूतिपूर्व विश्लेषण करते हैं। सही अर्थों में मार्क्सवादी आलोचक ही प्रेमचंद के रचना संसार से सर्जनात्मक स्तर पर टकराते हैं और उसके वैशिष्ट्य को खोलते हे। प्रेमचद की महत्ता के उद्घाटन का श्रेय इन मार्क्सवादी आलोचकों को जाता है।

प्रेमचंद (**1880–1936** ई०) के पूर्ववर्ती कथा साहित्य में अजीबोगरीब घटनाओं के द्वारा कुतूहल और चमत्कार की सृष्टि रहती थी अथवा आर्यसमाज या अन्य सामाजिक आदोलनों से प्रभावित समाज सुधारों का प्रचार था। जीवन की सही अभिव्यक्ति का साधन साहित्य नहीं बन पाया था। प्रेमचंद ने मनोरंजन ओर प्रचार से ऊपर उठकर उपन्यास को जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उनका साहित्य को जीवन के सीधे सम्पर्क में लाने का प्रयास सराहनीय था। चारो फैले हुए जीवन और उसकी अनेक सामयिक समस्याओं–पराधीनता, जमीन्दारों–पूँजीपतियो और सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों का शोषण, निर्धनता, अशिक्षा, गरीबी, अंधविश्वास, अनमेल विवाह, साम्प्रदायिक वैमनस्य आदि को उठाया। उनके द्वारा ग्रामीण जीवन का इतना सच्चा और प्रभावशाली अंकन हुआ है कि वैसा किसी दूसरे रचनाकार द्वारा नहीं संभव हो सका। महात्मा गाँधी से प्रभावित होने के कारण नहीं, अपनी मानवतावादी दृष्टि और राष्ट्रीय चेतना के कारण साम्प्रदायिक समस्या प्रेमचंद की चिंता का मुख्य विषय थी। नारी की पराधीनता और उसके अधिकारों के प्रति वे सचेत थे। अछूतों की समस्याओं को बार–बार अपनी रचनाओं में तीखेपन के साथ उठाया हैं नये उद्योग–धंधों के फैलने के कारण ध्वस्त होती ग्रामीण अर्थव्यवस्था उनकी चिंता का कारण बनती है। उनका वैशिष्ट्य इस बात में है कि सामयिक समस्याओं को आधार बनाने के बावजूद जीवन की सहजता को खंडित होने नहीं

दिया। उन्होंने अपनी रचनाओं में समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की सामान्य जिंदगी को उसकी सम्पूर्ण मार्मिकता में प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद की कहानियाँ अपने आसपास की जिदगी से जुडी हुई हैं और यही उनकी सफलता का रहस्य भी है। मार्क्सवादी आलोचक डॉ० कुँवरपाल सिंह के शब्दों में प्रेमचंद की महत्ता उजागर होती है:–

'प्रेमचंद हिंदी साहित्य के युगप्रवर्तक लेखकों में हैं। कबीर, तुलसी और भारतेन्दु के बाद ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद का ही नाम आता है। हिदी साहित्य का बीसवीं शताब्दी मे बहुत विकास हुआ है। छोटे–बडे साहित्यकारों की बडी संख्या है और उनका विपुल साहित्य भी है। इतना सब होते हुए भी प्रेमचंद के कंधों से अधिक कोई हिन्दी साहित्यकार नहीं पहुँच पाया। प्रेमचंद अपने युग में जितने प्रासंगिक थे, उससे अधिक आज हैं। भविष्य मे भी उनकी प्रासंगिकता बढ़ेगी कम नहीं होगी।' ('उत्तरार्द्ध', प्रेमचंद अंक, अप्रैल' 80, पृ० 44)।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चर्चित कथन कि जनता की चित्तवृत्तयों में होने वाले परिवर्तनों का असर साहित्य के रूप और स्वभाव को परिवर्तित करता है– साहित्य का अनिवार्य संदर्भ समाज को बना देता है। जनता की चित्तवृत्तियों में परिवर्तनों के भीतर से उमडती जनांकांक्षाओं को सशक्त ढ़ंग से मुखरित करने में प्रेमचंद इतने सफल होते हैं कि उन पर तात्कालिकता और समसामयिकता की अभिव्यक्ति का आरोप लगता है। सरहपा के समय से ही जनभाषाएँ संस्कृत के एकाधिकार को चुनौती दे रही हैं तथा जनांकाक्षाओं की सफल दुराग्रहों से उत्पन्न साम्प्रदायिक शक्तियों ने नवनिर्माण की प्रक्रिया से गुजर रही जन भाषा को दो फाड़ कर दिया – हिंदी और उर्दू। प्रेमचंद इस साम्प्रदायिक विभाजन को मिटाना चाहते थे। यह सच है कि सस्कत से हिंदी को बहुत अधिक आंतरिक और भाषिक ऊर्जा प्राप्त हुई पर उसने अंततः हिंदी के हिन्दुस्तानीपन को निष्प्रभ कर दिया। प्रेमचंद इस हिन्दुस्तानीपन को बनाये रखना चाहते थे। इसके लिए जबर्दस्त प्रयास भी किया। पर यह विडम्बना है कि उन्होंने हिंदी की जिस भाषिक क्षमता का अर्जन, उपयोग और संचय किया, वह हिंदुस्तानीपन को बनाये रखने की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण और उपयोगी होते हुए भी परवर्ती भाषिक विकास का आधार नहीं बन सका। छायावाद ने संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के सहारे जो भाषिक क्षमता अर्जित की, उसके मूल में नागर भाव ही अधिक सक्रिय था। प्रेमचद की सर्जनातमकता के केन्द्र में नागर नहीं, गाँव का किसान है। रचनात्मकता का सारा ठाठ देशी है। विद्वानों ने उत्साह के अतिरेक में गाँधीवाद और मार्क्सवाद की

प्रगतिशील चेतना को एक दूसरे की विरोधी मुद्रा में आमने सामने खड़ा कर दिया। इसके पीछे राजनीतिक कारण थे। पर प्रेमचंद साहित्य इसलिए भी महान है कि जीवन के सन्निकट होने के कारण प्रगतिशीलता के दोनों रूपों को एक दूसरे के विरोधी के रूप में नहीं बल्कि पूरक रूप में चित्रित करता है। यहाँ हिन्दी के यशस्वी उपन्यासकार अमृतलाल नागर को उद्धृत करना उपयुक्त होगा। उन्होंनें बॅंगला साहित्य के बंकिम, रवीन्द्र और शरत् से प्रेमचंद की तुलना करते हुए लिखा हैः– 'राजा, राजकुमार, बड़े कुलीन ब्राह्मण और जमीन्दारों तक की बंकिम के नायक बँधे रहे, रवि बाबू भी इस लीक से अधिक न हट पाये, शरत् अवश्य एक कदम आगे बढ़े। उन्होंने अपने उपन्यास के नायक – नायिकाओं को बीसवीं सदी के पहले दो दशकों के पढ़े लिखे मध्यवर्ग मे प्रतिष्ठित किया। परन्तु प्रेमचंद यही तक सीमित नहीं रहे। उनके कहानी–उपन्यासों की नायक – नायिकाएँ ठेठ जनजीवन से उठाकर साहित्य के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किये गये हैं। साहित्य के नायक नायिकाओं की लम्बी विरासत वाले तख्ते ताउस पर होरी, घीसू, हल्कू, धनियां, सलोनी, काकी आदि प्रेमचंद के दम पर बेझिझक बड़ी शान से बैठे और जमाने का सिर श्रद्धा से उनके आगे नत हो गया। इस दिशा में प्रेमचंद ने न केवल उर्दू और हिन्दी लेखकों को ही नहीं बल्कि सारे भारतीय साहित्य को अभूतपूर्व गति दी। यही उनका बड़प्पन है। उन्होंने भारतीय साहित्य के इतिहास को एक नया मोड़ दिया।'(समालोचक, नवम्बर 1959 ई०)।

प्रेमचंद के कथा–साहित्य पर लिखी आलोचनाओं को मोटे तौर पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (i) प्रेमचंद समर्थक आलोचना और (ii) प्रेमचंद विरोधी आलोचना। इसी को यों भी विभाजित किया जा सकता है (i) मार्क्सवादी आलोचना और (ii) गैर मार्क्सवादी आलोचना। गैर मार्क्सवादी आलोचना का मूल स्वर प्रेमचद विरोधी है वहीं मार्क्सवादी आलोचना प्रेमचंद साहित्य का पक्षधर है। ज्यादातर मार्क्सवादी आलोचक प्रेमचंद के पक्ष में लामबन्द हैं, एकाध शिवदान सिंह चौहान जैसे अपवादों को छोड़कर। इसी तरह साहित्य में आंशिक रूप से स्वीकृति पाई दलित आलोचना में भी विरोध और समर्थन के दो खेमे देखे जा सकते हैं।

दलित आलोचना का बड़ा हिस्सा प्रेमचंद का समर्थन करता है और उन्हें प्रासंगिक और प्रामाणिक मानता है। दूसरा हिस्सा उन पर तरह तरह के आरोप लगाता है। इनके अनुसार प्रेमचंद ने दलितों का मखौल उड़ाया है। वस्तुतः दलित आलोचना का यह आरंभिक दौर है, इसलिए उसमें आवेश और उफान ज्यादा है। क्रमशः जब दलित आलोचना परिपक्व

और प्रौढ़ होगी तब प्रेमचंद विषयक आलोचना में गंभीरता आएगी और सतहीपन खत्म होगा। अभी दलित आलोचना की इस सुगबुगाहट में किसी दलित आलोचक का नाम इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसका उल्लेख किया जाय।

राजनीति में दलित चेतना के उभार के साथ हिंदी में दलित लेखन की **पृष्ठभूमि** बन चुकी है। अब दलित साहित्य आंदोलन हिंदी साहित्य के दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। यह एक तरह से राजनीति के जातिवाद की साहित्य में घुसपैठ है जिसे छद्म प्रगतिशीलता के नाम पर बढ़ावा दिया जा रहा है। फिर भी दलित आलोचना के मूलस्वर को पकड़ने के लिए सहानुभूति की अपेक्षा है ताकि प्रतिपक्ष के विचारों को उदारतापूर्वक समझा जाय। दलित आलोचना के पैरोकार श्री सदानन्द शाही का कथन इस संबंध में उल्लेखनीय है :-

'प्रेमचंद दलित जीवन को हिंदी साहित्य के केन्द में लाने वाले पहले लेखक हैं। उनका कथा और विचार साहित्य हिंदी क्षेत्र के दलित जीवन की त्रासदी का प्रामाणिक आकलन है। इस आकलन के मूल में दलित जीवन स्थितियां को बदलने की चिंता भी है। इसलिए हिंदी में प्रेमचंद ऐसे व्यक्तित्व के रूप में दिखाई देते हैं, जिनसे दलित आंदोलन की टकराहट अनिवार्य है। दलित का प्रश्न, वर्ण और जाति का प्रश्न हिंदी प्रदेश में नवजागरण के एजेन्डे से छूट गया था। प्रेमचंद ऐसे लेखक थे, जो इतिहास द्वारा छोड़ दिये गये इस प्रश्न को अपने साहित्य के माध्यम से निरन्तर केन्द्र में लाने के लिए प्रयत्नशील रहे।' (दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचद, भूमिका, पृ० 4)।

प्रेमचंद – सहित्य की आलोचना प्रक्रिया पर डॉ० कमल किशोर गोयनका की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है :-

'प्रेमचद की जीवित अवस्था में 'सरस्वती', 'चाँद', 'मर्यादा', 'विश्वामित्र', 'विशाल भारत', 'स्वदेश', 'भारत', 'आज', 'हिन्दुस्तानी' आदि विभिन्न पत्रिकाओं में उनके उपन्यासों पर स्वतंत्र एवं प्रवृत्तिपरक लेख प्रकाशित होते रहे, परन्तु इन आलोचनाओं के मूल में या तो आलोचक का व्यक्तिगत राग–द्वेष था अथवा आलोचना के मनगढ़ंत एवं अवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर उनका मूल्यांकन किया गया था। यहाँ तक कि युग के सर्वाधिक प्रबुद्ध समीक्षक श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में उनके उपन्यासों की विस्तृत विवेचना के प्रति उपेक्षा भाव रखा और अपने संक्षिप्त विवेचन में युग के कुछ अन्य आलोचकों के स्वर में स्वर मिलाते हुए उन्हें 'प्रचारवादी' घोषित कर दिया। इस प्रकार प्रेमचंद का अपना काल उनके साहित्य के अवमूल्यन का काल है। प्रेमचंद के

देहान्त के पश्चात उनकी महानता के गुणगान का ऐसा दौर शुरू हुआ कि जिन आलोचकों ने उनकी जीवित अवस्था में उनपर और उनके उपन्यासों पर गदे आक्षेप लगाये थे, वे भी प्रशसकों की पहली पंक्ति में आ खड़े हुए। (प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान, प्रस्तावना)।

गैर मार्क्सवादी आलोचना में प्रेमचंद विरोधी स्वर दबे रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'इतिहास' में फूटता है। डॉ० समीक्षा ठाकुर का पर्यवेक्षण एकदम सही है कि यह विरोध का स्व 'इतिहास' के संशोधित संस्करण में आकर तेज हो जाता है। शुरू में प्रेमचंद – साहित्य के प्रति जो आशंसा का भाव था वह क्रमशः खत्म हो जाता है। लेकिन शुक्ल जी महान आलोचक हैं, इसलिए आलोचना की सर्जनात्मकता बनी रहती है। यह कहीं भी आक्षेपों या आरोपों–प्रत्यारोपों में नहीं परिणत होती। विरोध का स्वर पहले उपेक्षा और उदासीनता में फूटता है। जहाँ समकालीन रचनाओं का उदारतापूर्वक विवेचन हुआ है वहॉ प्रेमचंद को मात्र तीन–चार पृष्ठों में समेट दिया है। प्रेमचद – साहित्य का यह संक्षिप्त विवेचन आचार्य शुक्ल की उपेक्षा और उदासीनता का सूचक है। शुक्ल जी का दूसरा प्रहार प्रेमचद के राजनीति से सराबोर उपन्यासों और कहानियों पर है। प्रेमचंद की राजनीतिक दृष्टि और उसके अंकन पर शुक्ल जी प्रश्नचिह्न लगाते हैं।:–

हमारे उपन्यासकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, यदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।(हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 536)

आचार्य शुक्ल की निष्कर्ष के रूप में की गई टिप्पणी उल्लेखनीय है :–

'सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के जो आंदोलन देश में चल रहे हैं उनका आभास भी बहुत से उपन्यासों में मिलता है। प्रवीण उपन्यासकार उनका समावेश और बहुत सी बातों के बीच कौशल के साथ करते हैं। प्रेमचंद जी के उपन्यासों और कहानियों में भी जहॉ राजनीतिक उद्धार या समाज सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक का रूप ऊपर आ गया (उपर्युक्त, पृ० 542)।

प्रेमचंद की दुनिया उन्नीसवीं बीसवी सदी की एक जीवन्त और भरी पूरी दुनिया है। उसमें अनेक प्रकार के लोग विचरण करते हैं जो यथार्थ जगत के हैं। उनका कथा साहित्य राजनीतिक सामाजिक हलचलों का जीवन्त दस्तावेज है। प्रेमचंद के माध्यम से साहित्य में

यथार्थवाद का प्रवेश होता है जो प्राकृतवाद से भिन्न है। उनके सामाजिक सरोकार उनकी रचना–प्रक्रिया को यथार्थवादी और आधुनिक बनाते हैं। उनके द्वारा किया गया निर्धनता और बेबसी का चित्रण पाठकों को झकझोर देता है।

गैर मार्क्सवादी आलोचना का सबसे तीखा स्वर आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी में प्रकट होता है। वे कई तरह के आक्षेप और आरोप लगाते हैं । मसलन स्त्री चरित्रों का अकन करने में सफलता नहीं मिली, उपन्यासों के अंत में प्रचारक बन जाते हैं, ब्राह्मणों के विद्वेषी हैं, भाषा का बहुत साधारण ज्ञान है। वे लिखते हैं कि प्रेमचंद के मानसिक संघटन के कल्पना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। कथानक का स्थूल रगरूप बनाने में जितनी स्वल्प कल्पना चाहिए बस प्रेमचंद में उतनी ही है। इसके अलावा कल्पना के अभाव के साथ प्रेमचद जी में तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फलस्वरूप निर्मित होने वाले व्यवस्थित जीवन दर्शन का भी अभाव है। प्रेमचंद किसी तात्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचते। नन्ददुलारे बाजपेयी के प्रेमचद – विरोधी विचार उनकी पुस्तक 'प्रेमचद : एक साहित्यिक विवेचन' में तथा 'आधुनिक साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के एक –दो निबंधों में द्रष्टव्य है। पूर्वाग्रह और प्रेमचंद – विरोध के कारण बाजपेयी जी की आलोचना अतिरजनापूर्ण हो गई है –

'प्रेमचंद जी की कृतियां यथार्थवाद से बहुत दूर है। शैली में भी प्रेमचंद जी तर्क प्रधान बौद्धिक शैली को छोड़कर प्रायः भावात्मक शैली को अपनाते हैं। उनकी दृष्टि भी भौतिकवादी नहीं है और न वे समाज का वह साँचा ही अपने दृष्टिपथ में लाते हैं, जिसका आधार मार्क्सवादी समाजवाद है' (आधुनिक साहित्य, पृ० **201**)।

अंत में उनका निष्कर्ष द्रष्टव्य हैं :–

"परन्तु केवल भाषा या शैली सम्बन्धी विशेषताओं विशेषताओं को लेकर किसी लेखक को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। उसका जीवन दर्शन, चरित्र–चित्रण और कला की मुख्य प्रेरणा से ही उसकी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से प्रेमचंद जी यथार्थवादी नहीं हैं। उन्हें यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहना भी अस्पष्टता को ही बढ़ाना है। यथार्थोन्मुख आदर्शवादिता से क्या तात्पर्य हो सकता है? साहित्य में यथार्थवादी और आदर्शवादी रचना के दो अलग–अलग विभाग हैं" (उपर्युक्त, पृ० **193**)।

श्री विश्वम्भर 'मानव' ने वाजपेयी जी के आरोपों का प्रत्याख्यान करते हुए 'हिन्दुस्तानी' के प्रेमचंद स्मृति अंक (जुलाई 1980) में प्रकाशित 'प्रेमचंद : एक प्रतिवाद' शीर्षक निबंध में सही कहा है।:–

'प्रेमचंद जी का जीवन दर्शन भी वही है जो विश्व के सभी श्रेष्ठ साहित्यकारों का होता है अर्थात, मानवता का प्रचार। संसार में सत् असत् का जो संघर्ष चल रहा है। उसमें वे सत् की प्रतिष्ठा और असत् का विनाश चाहते हैं। जीवन के यथार्थ पर उनकी पूरी दृष्टि है, लेकिन अंत में वे अपने कथानक को आदर्श की ओर मोड़ देते हैं, इसी से बहुत से विवेचकों ने उनमें आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के दर्शन किए हैं (हिन्दुस्तानी, प्रेमचंद स्मृति अंक, जुलाई 1980, पृ० 10)

ग़ैरमार्क्सवादी आलोचना का दूसरा प्रतिष्ठित और मानक स्वर है डॉ० नगेन्द्र का, जिन्होंने प्रेमचद को द्वितीय श्रेणी का कलाकार घोषित किया। उनका यह वक्तव्य काफी विवादास्पद बना। 'आस्था के चरण' में 'प्रेमचंद' शीर्षक लम्बा निबंध प्रकाशित है। इसमें प्रेमचद के रचनात्मक कृतित्व का सहानुभूतिपूर्वक मूल्यांकन करते हुए अतं में कहते हैं 'परन्तु फिर भी मेरा मन प्रेमचंद को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है। उनका कथन है :–

'प्रेमचंद के साहित्य में इस प्रकार की घटनाएँ तथा पात्र अत्यंत विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्भूत कर सकें। तीव्र अर्न्तद्वन्द के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते–उतर भी नही सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गंभीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल प्रेरणा कभी नहीं बन पायी। वह उनके जीवन दर्शन के लिए अप्रसांगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यवहारिक समस्याओं को सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला है। परंतु जीवन में तो उनसे गहनतर समस्याएँ भी हैः अर्न्तजगमत की समस्याएँ – जिन्हें प्रेमचंद की व्यवहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्व नहीं दिया। उनमें किसान जमीन्दार मजदूर पूँजीपति छूत अछूत शिक्षा अशिक्षा आदि बाह्य जगत के द्वंदो का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रान्ति, कर्तव्य और लालसा आदि अंतर्जगत के द्वन्द्वों का नहीं। (आस्था के चरण, पृ० 457)।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार प्रेमचंद के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है । विगत युग के सामाजिक राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप

संभव थे, प्रेमचंद की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्व दिया उतना महत्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचंद की दृष्टि सामयिक समस्याओ तक ही सीमित रही है। इसलिए डॉ० नगेन्द्र का निष्कर्ष है : 'चिन्तन और गंभीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसीलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि मे एक प्रकार का पोलापन मिलता है। विचारों की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है।' (उपर्युक्त, पृ० **458**)। इसी आधार पर वे घोषणा करते है कि साधारण व्यक्तित्व कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है। प्रेमचंद पहली श्रेणी में नहीं आते।

डॉ० नगेन्द्र ने प्रेमचंद को द्वितीय श्रेणी का कलाकार सिद्ध करने के लिये जो कारण दिये हैं, वे मूलतः निषेधात्मक हैं। यह सही है कि प्रेमचद की रचनाओं में फ्रायड के मनोविज्ञान और कामग्रन्थियों का निदर्शन नहीं मिलता पर मानवीय अर्न्तद्वन्द्व का अभाव है– ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रेमचंद के उपन्यासों में महाकाव्योचित विस्तार है। ये अपने युग की राष्ट्रीय चेतना की सफल अभिव्यक्ति हैं। स्वाधीनता सघर्ष के अनेक पहलुओं को सफलतापूर्वक प्रतिबिंबित करने के कारण उनकी रचनाएँ युग के इतिहास को जीवन्त ढंग से प्रस्तुत करती है। इसी से उनके उपन्यासों को युग का दस्तावेज़ कहा गया है। उनकी रचनाओं का युग के दस्तावेज़ के रूप में अध्ययन करने का श्रेय डॉ० इन्द्रनाथ मदान को जाता है। उन्होंने प्रेमचंद की रचनाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनकी पुस्तक 'प्रेमचंद : एक विवेचन' डॉ० मदान की आंरभिक आलोचना कृति है, विवेचन पद्धति नवीन होने के बावजूद इसमें कच्चापन है और परिपक्वता का अभाव है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के इस निष्कर्ष से प्रेमचंद विरोध छलक पड़ता है : 'उन्होने युग की गूढ़ समस्याओं का तो चित्रण किया, परन्तु वे उसकी उलझनों को पूरी तरह से समझ नहीं पाये ...... वे और भी महान होते यदि उन्होंने विकास के मार्गों को भी समझा होता।' ('प्रेमचंद : चिंतन और कला', सं० इन्द्रनाथ मदान, पृ० **104**)। इस कथन पर डॉ० रामविलास शर्मा की टिप्पणी उल्लेखनीय है : – 'हर आदमी की समझ की सीमा होती है। प्रेमचंद की समझ की भी सीमा थी। यदि वाल्मीकि, होमर, शेक्सपियर थोड़ा और समझदार होते तो और भी महान होते। समझ की सीमा है, महत्ता की नहीं। लेकिन विद्वान आलोचक के विश्लेषण से यह

स्पष्ट नहीं होता कि विकास के वे मार्ग कौन से हैं जिनसे प्रेमचंद अपरिचित थे।' ('प्रेमचंद और उनका युग',पृ० 160)।

गैर मार्क्सवादी आलोचकों मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले आलोचक हैं जिनकी आलोचना में प्रेमचंद साहित्य का समर्थन का स्वर फूटता है। प्रेमचंद का महत्त्व शीर्षक लेख लिखकर प्रेमचंद के क्रांतिकारी महत्व का उद्घाअन किया। इस संदर्भ में डॉ० नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज में लिखा है :–

'प्रेमचद का महत्व उनकी दृष्टि में क्या था, इसका पता उनकी इस घोषण से चलता है कि 'वे अपने काल में समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार थे।' निश्चय ही यह घोषणा करते समय गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उनके सामने रहे होंगे; फिर भी यह उल्लेखनीय है कि उस समय शायद ही किसी ने इतने अकुण्ठ भाव से प्रेमचंद के महत्व को पहचाना। द्विवेदी जी ही पहले आदमी हैं जिन्होंने हिंदी जगत को यह बतलाया कि 'वास्तव मे तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद प्रेमचंद के समान सरल और जोरदार हिन्दी किसी ने नहीं लिखी।' (दूसरी परम्परा की खोज, पृ० 48–49)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार –'दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही प्रेमचंद सरल और निरीह थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढ़ोंग समझते थे पर मनुष्य को वे सबसे बड़ी वस्तु समझते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया फिर भी इस युग के साहित्यकारों में और मानव की सद्वृत्तियों पर उनका अडिग विश्वास प्रेमचन्द का था वैसा शायद ही किसी और का हो। वे बुद्धिवादी थे और मनुष्य की आनन्दिनी वृत्ति पर पूरा विश्वास करते थे।' 'गोदान' के एक पात्र के माध्यम से प्रेमचंद का मतव्य प्रकट हो जाता है :– 'जो वह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा हे जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है चहक है, प्रेम हे, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष और उपासना है।' ऐसे थे प्रेमचंद – जिन्होंने ढ़ोंग को कभी बर्दाश्त नहीं किया, जिन्होंने समाज को सुधारने के लिए बड़ी–बड़ी बातें सुझायी ही नहीं, स्वयं उन्हें व्यवहार में लाये, जो मनसा, वाचा एक थे, जिनका विनय आत्माभिमान का, संकोच महत्व का, निर्धनता निर्भिकता का, एकान्तप्रियता विश्वानुभूति का और निरीह भाव कठोर कर्तव्य का कवच था, जो समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसकी टीमटाम और भभ्भड़पन का पर्दाफाश करने में आनन्द पाते थे और जो दरिद्र किसान के अन्दर आत्मबल का

उद्घाटन करने को अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझते थे। जिन्हे कठिनाइयों से जूझने में मजा आता था और जो तरस खाने वाले पर दया की मुस्कुराहट बिखेर देते थे। जो ढोंग करने वाले को कसके व्यंग्य बाण मारते थे और जो निष्कपट मनुष्यों के चेरे हो जाया करते थे। इस प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अत्यंत काव्यमयी शैली मे प्रेमचद के महत्व का उद्धाटन किया है।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा दूसरे महत्वपूर्ण गैर मार्क्सवादी आलोचक हैं जिनकी आलोचना का स्वर प्रेमचंद के समर्थन में फूटा है। उनके अनुसार प्रेमचंद हिंदी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। 'गोदान' के पहले तक के प्रेमचद हिंदी उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथ चिह्न हैं। प्रेमचंद के विराट लेखन में हिंदी उपन्यास की विभिन्न धाराएँ मिलकर एक हो जाती हैं। 'गोदान' श्रेष्ठता का प्रतिमान है। इसका स्थापत्य कसा हुआ और विलक्षण है। इतने बड़े पैमाने पर यथार्थ चित्रण किसी दूसरे भारतीय उपन्यास में नहीं मिलता। हिंदी उपन्यास के विकास क्रम में प्रेमचंद के महत्व को उजागर करने के साथ नलिनविलोचन शर्मा ने प्रेमचंद की भाषा पर महत्वपूर्ण टिप्पणी की है। उनके अनुसार उन्होंने देवकीनंदन खत्री की भाषा की सरलता और सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपान्तरित और उन्नत किया। वस्तुतः प्रेमचंद की तरह मुहावरेदार, चलती, सरल और टकसाली भाषा दूसरे लेखक नहीं लिख पाये।

नई समीक्षा के समर्थ आलोचक डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी काव्यभाषा को केन्द्र में रखकर चलने वाले हिंदी के एकमात्र आलोचक हैं। प्रेमचद की भाषा पर की गई उनकी टिप्पणी महत्त्वपूर्ण हैं : –

'प्रेमचंद अपनी रचना–प्रक्रिया में भाषा का संपूर्णतः दोहन कर लेते हैं, फलतः आलोचक के लिए ऐसी भाषा छवियाँ और संकेत नहीं बचते जिनके सहारे वह उस रचना में आगे अर्थ का संवर्द्धन कर सके।' (हिंदी गद्य : विन्यास और विकास', पृ० **250**)।

गैर मार्क्सवादी आलोचना में प्रेमचंद – विरोध का स्वर कहीं हल्का, कहीं तेज सुनाई पड़ता है। उदारता और सहानुभूतिपूर्वक किये गये विवेचनों में भी यह विरोध भाव प्रच्छन्न रूप से झाँकता रहता है। यह विरोध की धारा आज भी गतिशील है। ग़ैर मार्क्सवादी धारा का यह विरोध अपने चरम रूप में डॉ० गिरिजा राय के 'साहित्य का नया शास्त्र' के 'उर्दू परम्परा और प्रेमचंद' नामक अध्याय में दिखता है। उन्होंने तर्कों के आधार पर प्रेमचंद को उर्दू परम्परा का कथाकार घोषित किया :

'नन्द दुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा से लेकर इन्द्रनाथ मदान तक अनेक आलोचकों के नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने प्रेमचंद के साहित्य पर बड़ी गहराई से विचार किया है। पर किसी ने प्रेमचद के उपन्यासों की जातीय चेतना की चर्चा नहीं की और न यह दिखाने की कोशिश की है कि प्रेमचंद के उपन्यास हिंदी साहित्य की जातीय चेतना की परिधि के बाहर पड़ते हैं। प्रेमचंद मूलतः उर्दू परम्परा के रचनाकार हैं। वे उर्दू से हिंदी मे आये नहीं, अनुवादित किये गये हैं। केवल एक 'कायाकल्प' को छोड़कर जो हिन्दी भाषा में रचा गया है और प्रेमचंद के उपन्यासों की परम्परा मे 'मिसफिट' है यही कारण है कि पूरे हिंदी साहित्य के प्रवाह में प्रेमचद की रचनाएँ रोड़े की तरह अवरोध पैदा करती हैं। उनका अस्तित्व खटकता है, वे पूरी साहित्य धारा में घुलकर समरस नहीं बन पातीं, अलग सिर उठाये खडी रहतीं हैं।' (साहित्य का नया शास्त्र, पृ० 48)।

वस्तुतः प्रेमचंद न शुद्ध हिंदी और न ही शुद्ध उर्दू, बल्कि आम बोलचाल में प्रचलित हिन्दुस्तानी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में देखना चाहते थे। जनवादी और प्रगतिशील कथाकार होने के कारण उनके साहित्य में भी भाषा का यह रूप प्रकट हुआ। मार्क्सवादी आलोचक डॉ० कुँवरपाल सिंह की यह टिप्पणी प्रेमचंद साहित्य की विकास प्रक्रिया प्रकाश डालती है :–

'वे विभिनन समाज सुधार आंदोलनों, आर्य समाज आंदोलन, फिर गॉधीवादी दर्शन के प्रभाव से होते हुए मार्क्सवादी चेतना के बहुत करीब पहॅुचते हैं जो उनकी दलित और शोषित जनता के प्रति गहन प्रतिबद्धता का प्रमाण है।' (उत्तरार्द्ध 13, डॉ० कुँवरपाल सिंह, पृ० 11)।

समकालीन और परवर्ती रचनाकारों का एक वर्ग भी गैरमार्क्सवादी आलोचकों के सुर मे सुर मिलाता है। प्रेमचंद में जैनेन्द्र ने समस्याओं के सरल समाधान का दोष देखा तो अज्ञेय प्रेमचंद के साहित्य में यह दोष दिखाते हैं कि उनके पात्र 'केवल एक परिपाटी के सॉचे में ढली हुई छायाएँ मात्र हैं तथा उनका शिक्षित मध्यमवर्गीय या उच्ववर्गीय पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वसनीय है। (आधुनिक हिंदी साहित्य, पृ० 92–93)। इलाचंद्र जोशी भी विरोधियों की कतार में शामिल हैं। प्रेमचंद पर जोशी का मुख्य आरोप यह है कि उन्होंने अपने साहित्य में 'सृष्टि के मूल में यह जो सनातन नारी है उसके प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की है। उनका कहना है कि प्रेमचंद ने 'पुरुष प्रवृत्ति के रहस्य का परिचय अवश्य प्राप्त किया है, मूल प्रकृति जो नारी है उसकी आत्मा के भीतर उन्होंने गहरी दृष्टि नहीं डाली है'

(विश्लेषण, पृ० 49)। डॉ० धर्मवीर भारती प्रेमचंद पर शार्टकट अपनाने का आरोप लगाते हैं : 'जिस बिन्दु पर स्थित होकर हमने मनुष्य को समझने का प्रयास किया है, विश्व उपन्यास की तुलना में वह बिंदु काफी सतही है। यह बात प्रेमचंद के बारे में भी उसी तरह लागू होती है।' (आलोचना, जुलाई 1954, संपादकीय)। निर्मल वर्मा का तो यह मानना है कि प्रेमचंद के पास उपन्यास का सही ढाँचा ही नहीं था। निर्मल वर्मा का विचार है कि साहित्य की गणना समाज संबंधी अनुशासनों में की जाती है, जबकि वह अपनी प्रकृति में उनसे मूलतः भिन्न है। वे साहित्य को मात्र भाषिक संरचना मानते हैं, इसीलिए यह प्रश्न उठाते हैं कि 'यथार्थवाद की समूची बहस जो प्रेमचंद के नाम पर पिछले पचास वर्षों से हिंदी में चल रही है, क्या आज बिल्कुल अप्रासंगिक नहीं हो गई है? (आदि, अन्त और आरंभ, पृ० 121)। परवर्ती रचनाकारों में फणीश्वर नाथ रेणु, नागार्जुन, मार्कण्डेय, राजेन्द्र यादव और दूधनाथ सिह प्रेमचद की विरासत के दावेदार रहे हैं। इनकी कोशिश प्रेमचंद साहित्य के सही सदर्भ को उजागर करने की रही है।

मार्क्सवादी आलोचना की पृष्ठभूमि बनाने वाले आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त औरन राम विलास शर्मा के नाम प्रमुख हैं। मार्क्सवादी आलोचना के आरंभिक आलोचक होने के नाते प्रकाश चंद्र गुप्त ने प्रेमचंद पर जो लिखा है, उसका स्वरूप परिचयात्मक है। शिवदान सिंह चौहान ने ध्वंसात्मक आलोचना ही लिखी है। जनवादी आलोचना की वास्तविक शुरूआत डॉ० रामविलास शर्मा के प्रेमचंद संबंधी मूल्यांकन से होती है। यह एक अजीब संयोग है कि मार्क्सवादी आलोचना की वास्तविक शुरूआत और प्रेमचंद का सही मूल्याकन रामविलास शर्मा की पुस्तक 'प्रेमचंद' (1941 ई०) से शुरू होता है। रामविलास जी ने प्रेमचंद का मूल्याकन लीक से हटकर जनवादी आधार और मार्क्सवादी सदर्भों में किया है। 'प्रेमचंद' (1941 ई०) से मार्क्सवादी आलोचना का तेवर हिंदी आलोचना में देखने को मिलता है जो उसे कई अर्थों में समृद्ध करता है। पहली बार कृतियों के पहचान और मूल्यांकन का संदर्भ सामाजिक आधार बनता है।

डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार प्रेमचंद का युग आदर्शवाद और रोमांटिसिज्म का था। उन पर उनके युग के आदर्शवाद की पूरी–पूरी छाप पड़ी थी परंतु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं जिनमें रहकर पूर्ण रूप से आदर्शवादी बनना उनके लिए संभव न था। भारत में उस समय किसान मजदूरों का एक दृढ़ आंदोलन चल रहा था जबकि सुधारवादी कांग्रेस खद्दर और चर्खे को लेकर खेल कर रही थी। प्रेमचंद अपने युग के साथ थे और अपने युग

की उथल पुथल को उन्होंने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। प्रेमचंद ने धर्म की सामाजिक भूमिका को दिखाया है। सामाजिक परिस्थितियो म उलझे हुए मनुष्य के धार्मिक विचारों को बनते – बिगड़ते दिखाया है।

डॉ० शर्मा ने यह जोर देकर दिखाया है कि प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में सामाजिक सघर्ष के चित्र दिए हैं। 'प्रेमाश्रम' का आधार किसान–जमीन्दार का संघर्ष है, 'गोदान' की समस्या किसान – महाजन की है। 'कर्मभूमि' में अछूत आदोलन और 'रंगभूमि' में नये उद्योग धंधों से गाँवों में परिवर्तन का चित्रण किया गया है। अपने युग की निर्धनता, दासता और पीड़ितों की आर्तवेदना को जैसा उन्होंने अनुभव किया था, वैसा किसी दूसरे रचनाकार ने नहीं। डॉ० शर्मा के इस मूल्यांकन से साहित्य का अनिवार्य संदर्भ समाज हो गया। दलितों, गरीब किसानों और मजदूरों की दुरवस्था पर ध्यान केन्द्रित करना प्रगतिशील साहित्य की मुख्य विशेषता बना। मार्क्सवादी आलोचना को उसके अंतविर्रोधों से मुक्त कर डॉ० शर्मा ने उसे सही दृष्टि प्रदान की। स्वयं उनके शब्दो में : 'परम्परागत आलोचना का मार्ग छोड़कर मैने यह बताने का प्रयत्न किया था कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रेमचंद का विश्लेषण किया जाय तो भारतीय समाज का एक भरा – पूरा चित्र उनके साहित्य में उभर कर सामने आता है।'(प्रेमचंद, पृ० 21)। ऊँच नीच के भेदभाव के प्रति प्रेमचंद से अधिक सचेत और कोई हिंदी लेखक नहीं था। समस्याओं का समाधान खोजने में प्रेमचंद आदर्शवाद की ओर झुकते थे पर किसानों की वास्तविक दशा का चित्रण करने में वह यथार्थ को रंग चुनकर पेश न करते थे। साहित्य में जो प्रचलित यथार्थवाद है, उसकी प्रेमचंद ने अनेक स्थलों पर निंदा की है। इस प्रकार का यथार्थवाद मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण है और यह मनुष्य को दुर्बलताओं की ही ओर ले जाता है।

साहित्य का ध्येय मनुष्य का पतन न होकर उत्थान है। प्रेमचंद की यह मान्यता है। उनका विश्वास है कि मनुष्य कमजोरियों का पुतला है और उसकी कमजोरियों का चित्रण उसके लिए घातक हो सकता है, उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण का मूल कारण है।

विदेशी सभ्यता ने महाजनी सभ्यता की जड़ें हमारे समाज में मजबूती से जमा दी हैं और इसीलिए प्रेमचंद उसका विरोध करते हैं। नई शिक्षा एक नई सभ्यता को पोषित कर रही है और इस सभ्यता की भित्ति स्वार्थ पर है। पुराने उद्योग–धंधों को नष्ट कर महाजनी सभ्यता ने नये उद्योग–धंधों का जाल बिछा दिया है।'रंगभूमि' में या तो महाजन बनो या कर्जदार। किसान के जीवन के अनेक पहलू हैं। सामाजिक आचार–विचारों के निर्जीव

सिह के अनुसार बीसवीं शताब्दी का कोई भी भारतीय लेखक गाँधीवाद और मार्क्सवाद से अछूता नहीं रह सकता। प्रेमचंद पर गाँधीवाद के प्रभाव की बात जोर देकर कही जाती है, पर वे आरम्भिक दिनों में भी गाँधीवादी नहीं थे। उन्होंने समाज पर गॉधीवाद के प्रभाव का वर्णन किया है, उसमें अपनी आस्था नहीं दिखलाई है। उन्होंने महात्मा गाँधी की अन्तरात्मा की आवाज़, उनके अंधविश्वासों तथा उनके सत्याग्रह, हृदय परिवर्तन और वर्ग सहयोग के सिद्धान्तों का लगातार विरोध किया है। उनके जिन उपन्यासों को गाँधीवाद से प्रभावित बताया जाता है उनमें भी गॉधीवाद की आलोचना है। महात्मा गॉधी समझते थे कि किसान और जमीन्दार लडेंगे तो उससे आजादी की लड़ाई कमजोर होगी। प्रेमचंद इस बात को नहीं मानते। उनके प्रायः हर उपन्यास में किसान और जमीन्दार की टकराहट है। महात्मा गॉधी का रास्ता वर्ग सहयोग का है, प्रेमचंद का विश्वास वर्ग सघर्ष में है। इस तरह प्रेमचंद के चित्रण और जीवन दृष्टि में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, गॉधीवाद और मार्क्सवाद को लेकर भी नहीं। उनकी जीवन–दृष्टि यथार्थ के गहन बोध से निर्मित हें। डॉ० सिंह के अनुसार प्रेमचंद किसान की छोटी महत्त्वाकांक्षा से सम्पूर्ण विश्व को देखते हैं। उनका यथार्थवाद किसानों के जीवन से उत्पन्न है। उन्होंने किसानों के जीवन की सच्चाई दिखाई। अँग्रेजी हुकूमत सामंतों के बल पर टिकी है इसलिए सामंतों से लड़ाई छेड़ना जरूरी है। वस्तुतः प्रेमचंद के लिए सामत विरोध साम्राज्यवाद विरोध था। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार प्रेमचंद किसानों को हर तरह के शोषण से मुक्त करना चाहते थे। प्रेमचंद अकेले लेखक हैं जिन्होंने हर प्रकार के सम्प्रदायवाद का विरोध किया है। डॉ० नामवर सिंह का निष्कर्ष है :–

'कला और शिल्प की दृष्टि से भी प्रेमचंद ने कम से कम बीस ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, जो बेजोड़ हैं जैसे ठाकुर का कुऑ, दूध का दाम, जुर्माना, कफन, पूस की रात। उनके उपन्यासों के गठन को ढीला ढाला बताया गया है, लेकिन कमजोरियों के बावजूद वे कलात्मक दृष्टि से ऊँचाइयों को छूते हैं। इस श्रेष्ठता का आधार है वास्तविकता की पहचार, जीवन्त चरित्रों का निर्माण, पात्रों के मानसिक गठन और व्यवहार की परख। केवल समकालीन विषयों पर लिखने के कारण उनका महत्त्व ऐतिहासिक होता, लेकिन उनका महत्त्व कलात्मक भी है।' (प्रेमचंद और प्रगतिशील लेखन', सं० विजय गुप्त)।

डॉ० रामविलास शर्मा और डॉ० नामवर सिंह जैसे धुरंधर मार्क्सवादी आलोचकों के बाद मार्क्सवादी आलोचना की दूसरी कतार के आलोचकों में डॉ० शिव कुमार मिश्र, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० कुँवरपाल सिंह, डॉ० नन्द किशोर नवल और डॉ० मैनेजर पांडेय के

नाम उल्लेखनीय है। शिवकुमार सिंह और डॉ० नवल की प्रेमचंद पर एक–एक पुस्तक प्रकाशित है। कुँवर पाल सिह और मैनेजर पाडेय ने प्रेमचद से सबधित कई लेख लिखे हैं। रमेश कुन्तल मेघ ने प्रसंगवशात प्रेमचंद साहित्य की चर्चा आधुनिकता के धरातल पर की है जिसमें पर्याप्त मौलिकता है। शिव कुमार मिश्र ने डॉ० रामविलास शर्मा की मान्यताओं का भाष्य किया है। उनकी आलोचना में किसी तरह का नयापन नहीं है और मौलिकता का अभाव है। इनकी आलोचना मार्क्सवादी कट्टरता से भरी हुई और अखबारीपन लिए हुए है।

प्रेमचंद साहित्य में आधुनिक संवेदना को रेखांकित करने वाले आलोचकों में डॉ० इन्द्रनाथ मदान, रमेश कुन्तल मेघ, सुधीश पचौरी, गंगा प्रसाद विमल, कमल किशोर गोयनका और शैलेश जैदी के नाम लिये जा सकते हैं जिन्होंने अस्तित्ववादी संदर्भों और अजनबीपन की दृष्टि से प्रेमचंद के परवर्ती साहित्य (1930–1936) का मूल्यांकन किया है तथा उसकी आधुनिकता को रेखांकित किया है। एक तरह से इन आलोचकों ने आधुनिकता की शुरूआत प्रेमचंद के परवर्ती साहित्य से मानी जाती है। उल्लेखनीय है कि इसी परवर्ती प्रेमचंद साहित्य पर मार्क्सवादी आलोचना भी अपना दाव ठोंकती है। सन् **1930** के बाद का प्रेमचद का लेखन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो उठता है। यहाँ प्रेमचंद एकदम सर्जनात्मकता के शिखर पर हैं। इस काल की रचनाओं का स्वर आधुनिक और मार्क्सवादी है। यों आधुनिकता और मार्क्सवाद में अंतर्विरोध नहीं – दोनों का गहरा जुड़ाव मनुष्य की नियति और स्थिति में मुकम्मल बदलाव की आकांक्षा इस काल के प्रेमचंद साहित्य का मुख्य स्वर है, जो एक तरफ आधुनिकता से जुड़ता है तो दूसरी तरफ मार्क्सवाद से। अगस्त **1979** ई० के 'आजकल' में डॉ० विनय ने इसी आधार पर प्रेमचंद के उपन्यासवों को अस्तित्ववाद से प्रभावित बताया है। उनका विचार है कि उनके उपन्यासों में मानव मुक्ति की आस्था की अभिव्यक्ति और समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व की जो बात साइमन द बोउवा ने कही है, वह भी उनमें मिलती है और जीवन के दैनंदिन संघर्षो से घनिष्ठ सम्बद्धता (जो कि अस्तित्ववादी विचार का विस्तृत रूप है) प्रेमचंद साहित्य की धुरी है।

पंचम अध्याय :

ग़ैर मार्क्सवादी आलोचना : विरोध का स्वर

रामचन्द्र शुक्ल
नन्द दुलारे वाजपेयी
इलाचन्द्र जोशी
हजारी प्रसाद द्विवेदी
नगेन्द्र
नलिन विलोचन शर्मा
इन्द्रनाथ मदान
रामस्वरूप चतुर्वेदी

ग़ैर मार्क्सवादी आलोचना : विरोध के स्वर

रामचन्द्र शुक्ल

प्रेमचंद के कथा साहित्य का विवेचन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सन् **1929** ई० और संशोधित संस्करण सन् **1940** ई०) में किया है। आचार्य शुक्ल का 'इतिहास' उनकी साहित्य– साधना की चरम परिणति है। हिंदी साहित्य के ज्ञानकोश के रूप में चर्चित यह ग्रन्थ एक साथ इतिहास भी है और आलोचना भी, हिंदी जाति की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब भी और हिंदी भाषा की मूल प्रकृति का मानक भी।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल इतिहास के क्रमिक अध्ययन मे सबसे पहले उपन्यास विधा पर टिप्पणी करते हैं। – 'वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है'। फिर वे कहते हैं कि द्वितीय उत्थान के भीतर बंगला से अनूदित अथवा उनके आदर्श पर लिखे गये उपन्यासों में देश की सामान्य जनता के गार्हस्थ्य और पारिवारिक जीवन के बड़े मार्मिक और सच्चे चित्र रहा करते थे। प्रेमचंद जी के उपन्यासों में भी निम्न और मध्य श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप मिलता है (हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृ० **537**)। बंगला लेखकों की अनुवादित रचनाओं में जातीय रूपों का विविधता में अंकन हुआ है और पात्रों के गठन में जन सामान्य के विभिन्न रूपों का सन्तुलित चित्रण मिलता है– शरतचंद्र एवं टैगोर के उपन्यास इसके सशक्त उदाहरण हैं। उपन्यास की सर्जन–प्रक्रिया में प्रेमचंद भी तत्कालीन भारत के दलित–शोषित तथा मध्यवर्ग के पात्रों को अपनी रचनाओं के केन्द्र में रखते हैं क्योंकि प्रेमचंद ने समाज की विभीषिकाओं को स्वयं देखा एव भोगा था। अभावों के विभिन्न रूपों से रूबरू हुए थे, जीने के लिए जीवन भर आर्थिक संघर्ष किया था। मूलभूत वस्तुओं के अभाव का गहरा अनुभव था। इसलिए गरीबी और दुःख की परिभाषा के लिए उन्हें किसी पाठशाला का अनुसरण नहीं करना पड़ा। यही कारण है कि प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में अनुभव की आँच में तपे हुए मध्य और निम्न वर्ग के पात्रों की स्थितियों का सजीव चित्रण किया है।

आचार्य रामचंद शुक्ल के अनुसार – ''तृतीय उत्थान का आरंम्भ होते – होते हमारे हिदी साहित्य में उपन्यास का यह पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्वरूप लेकर स्वर्गीय प्रेमचद जी आए। द्वितीय उत्थान के मौलिक उपन्यासकारों में शील–वैचित्र्य की उद्भावना नहीं के बराबर थी। प्रेमचंद के ही कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढॉचे की व्यक्तिगत विशेषतायें मिलने लगी जिन्हें सामने पाकर अधिकांश लोगों को यह भासित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषता वाले व्यक्ति हमने कहीं न कहीं देखे हैं। ऐसी व्यक्तिगत विशेषता ही सच्ची विशेषता है, जिसे झूठी विशेषता और कथित विशेषता दोनों से अलग समझना चाहिए'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास– पृ० 538-39)। तृतीय उत्थान का काल यथार्थवाद की प्रवृत्तियों को लेकर प्रकट हुआ, और इन भंगिमाओं के सृजन में प्रेमचंद ने अपने पूर्ववर्तियों से इतर ऐसे पात्रों की रचना की कि जिसको देखकर पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह सभी जीवंत हैं चाहे वह 'सेवासदन' की सुमन हो या 'प्रेमाश्रम' का मनोहर हो या फिर चाहे 'गोदान' की धनिया ही क्यों न हो, ये पात्र अपने वजूद की याद दिलाते रहते हैं।

डॉ० समीक्षा ठाकुर ने प्रेमचंद के प्रति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बदलती धारणाओं के प्रति टिप्पणी की है कि ''हिन्दी शब्द सागर की भूमिका; 'इतिहास का प्रथम संस्करण और संशोधित संस्करण' इतिहास के इन तीनों रूपों के अन्तर्गत प्रेमचंद के विवेचन से यह सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमचंद के प्रति आचार्य शुक्ल के मन में प्रशंसा का जो भाव आरम्भ में था, उसमें क्रमशः कमी आती गई और आलोचना का स्वर प्रखर होने लगा। हिन्दी शब्द सागर की 'भूमिका' में उन्होंने जिस उत्साह से प्रेमचंद का स्वागत किया था, वह बाद के सस्करणों में फिर दिखाई न पड़ा।'' ('आचार्य रामचंद शुक्ल के इतिहास की रचना–प्रक्रिया', लोकभारती प्रकाशन – 1996 ई०, पृ० 108)

आचार्य शुक्ल के अनुसार, "मनुष्य की अंतः प्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु विन्यास की जो सहजता इनके उपन्यासों में मिली, वह पहले और किसी मौलिक उपन्यासकार में नहीं पायी गई थी। इनकी जैसी चलती और पात्रों के अनुरूप रूप बदलने वाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई" (हिन्दी साहित्य का प्रथम संस्करण–पृ० 606)। प्रयोगशीलता एवम् रचना धर्मिता की दृष्टि से प्रेमचंद उपन्यासों के माध्यम से दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति के अन्दर परिस्थितियों एवं वातावरण की ऐसी, संकल्पना खड़ी करते हैं कि पाठक पढ़कर भाव विभोर हो जाता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल उपन्यास और कहानी के सन्दर्भ में प्रेमचंद को कहानीकार के रूप में श्रेष्ठ समझते हैं। वे मानते हैं कि बड़े उपन्यासों से भी सुदर और मार्मिक प्रेमचंद जी की छोटी कहानियाँ (गल्प) होती हैं" (हिन्दी साहित्य का इतिहास–प्रथम सं. पृ० **606**)। उदाहरण के रूप में देखा जाय तो 'रंगभूमि' का रचना ससार इतना बिखरा हुआ है कि उसकी सन्दर्भ कथायें अंत तक एक सूत्र में बँध नहीं पाती है और मूल कथा चक्रों के सीमा से लेखक कट जाता है परन्तु 'पंच परमेश्वर' या 'कफन' कहानी के शिल्प को देखकर प्रेमचंद की सफलता का राज खुलता है।

अपने 'इतिहास' के प्रथम संस्करण में शुक्ल जी आशसा के बाद यह टिप्पणी जोड़ देते हैं जो उनके परिवर्तित रूख का संकेत करता है:– "इनमे कुछ खटकने वाली बात यह मिलती है कि आख्यान समाप्तत होते–होते प्रेमचंद जी की कलाकार **(Artist)** का रूप प्रायः छिप जाता है और वे एक प्रचारक **(Propagandist)** के रूप में सामने आ जाते हैं" (हिन्दी साहित्य का इतिहास प्र० सं पृ० **606**)। आचार्य जी की यह टिप्पणी सदैव प्रेमचंद की कृतियों पर लागू नहीं होती। 'गबन' और 'गोदान' के परिप्रेक्ष्य में क्रमशः देवीदीन का स्वदेशी सम्बन्धी व्याख्यान, 'गोदान' में प्रो० मेहता का नारी विषयक आख्यान काफी लम्बा एव उबाऊ लगता है, परन्तु विषय वस्तु की दृष्टि से यह जरूरी भी है कि श्रोताओं को उसकी पृष्ठभूमि से अवगत करायें नहीं तो सन्दर्भ अधूरा रह जाने का भय रहता है। वैचारिक स्थापनाओं की दृष्टि से प्रेमचंद यहाँ अन्य उपन्यासकारों से समर्थ सिद्ध होते हैं। डॉ० कमलकिशोर गोयनका का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है :– 'यहाँ तक कि युग के सर्वाधिक प्रबुद्ध समीक्षक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में उनके उपन्यासों की विस्तृत विवेचना के प्रति उपेक्षा भाव रखा, और अपने सक्षिप्त विवेचन में युग के कुछ अन्य आलोचकों के स्वर में स्वर मिलाते हुए उन्हें 'प्रचारवादी' घोषित कर दिया।' ('प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान', भूमिका)।

कहानी एवं उपन्यास सम्बन्धी शुक्ल जी की टिप्पणी पर डॉ० समीक्षा ठाकुर असन्तोष प्रकट करती हुई लिखती हैं–"प्रेमचंद के प्रचारक के रूप के प्रति शुक्ल जी की शिकायत इतनी बद्धमूल थी कि उन्होंने संशोधित संस्करण में भी इसे दोहराने के लिए अवसर निकाल लिया। वहाँ प्रसंग है उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के आन्दोलनों के चित्रण का" ('आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास क्री रचना–प्रक्रिया' पृ०

108)। डॉ० समीक्षा ठाकुर का पर्यवेक्षण एकदम सटीक है कि जो उत्साह हिन्दी शब्द सागर की 'भूमिका' में था वह संशोधित संस्करण में आकर एकदम खत्म हो गया है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में किसानों पर तअल्लुकेदारों के अत्याचार का चित्रण आचार्य शुक्ल को पसन्द नहीं आया। इस प्रकरण में शुक्ल जी ने डेढ़ पृष्ठों का लम्बा उपदेश प्रेमचद के उपन्यासों के बारे में दे डाला। व्यंग्यात्मक लहजे में शुक्ल जी कहते हैं– "तअल्लुकेदारों के अत्याचार, भूखे किसानों की दारूण दशा के बड़े चटकीले चित्र उनमें प्रायः पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा केवल यही कहना है कि हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें ही लेकर न चलना चाहिए, वस्तु स्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए" (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० 643)। किसानों की दारूण दशा तथा अत्याचार सम्बन्धी वर्णन एवं राजनीति से प्रेरित लेखों के विषण में अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि प्रेमचद ने किस भावना से प्रेरित होकर इसका अपनी रचनाओं में वर्णन किया। यह प्रेमचंद की सचमुच में कमजोरी है अथवा आचार्य शुक्ल का पूर्वाग्रह यह फिलहाल अलग से शोध का विषय है। इस विषय में डॉ० समीक्षा ठाकुर भी मौन हैं। लेकिन इसका जवाब छायावादी समीक्षक श्री विश्वम्भर 'मानव' ने 'प्रेमचद: एक प्रतिवाद' शीर्षक लेख में इस प्रकार दिया है:–

'लेकिन ये शुक्ल जी ही थे जिन्होंने प्रेमचंद की राजनीतिक और सामाजिक चेतना को लक्ष्य करके उन्हें प्रचारक या 'प्रोपेगेन्डिस्ट' **(Propagandist)** कहा। कठिनाई यह है कि यदि लेखक अपने समय की परिस्थितियों का चित्रण नहीं करता, तो वह असामाजिक है, व्यक्तिवादी है, उसे युगबोध नहीं है और करता है, तो सुधारक है, प्रचारक है। शुक्ल जी एक तो प्रेमचंद जी के समकालीन थे, अतः उनके प्रति तटस्थ दृष्टि रखना कठिन था। दूसरे उनके संस्कार कुछ ऐसे थे कि छायावाद युग के किसी भी रचनाकार के प्रति, चाहे वह कवि हो या उपन्यासकार, वे न्याय नहीं कर पाये। अब तो धीरे–धीरे यह स्पष्ट हो रहा है कि आधुनिक साहित्य की आलोचना के लिए वे प्रामाणिक व्यक्ति नहीं हैं।' (–'हिन्दुस्तानी', प्रेमचद स्मृति अंक, भाग 41, अंक 3–4, पृ० 9–10)

नन्द दुलारे वाजपेयी

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का प्रेमचंद विषयक विवेचन उनकी पुस्तक – "प्रेमचंदः साहित्यिक विवेचन" में संकलित है।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी के मतानुसार–"प्रेमचंद जी के उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्शवादिता। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने मे वे आदर्शोन्मुखी हैं। घटनावली का निर्माण और उपसंहार करने में आदर्श का सदैव ध्यान रखते है उनकी दूसरी विशेषता ध्येयोन्मुखता है। उन्होंने प्रत्येक उपन्यास में जो सामाजिक या राजनीतिक प्रश्न उठायें हैं, उनका निर्णय भी हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। निर्णय का निरूपण करने के कारण प्रेमचंद जी लक्ष्यवादी हैं और चरित्र तथा कथा के स्वरूप–निर्माण मे वे आदर्शवादी हैं" ('प्रेमचदः साहित्यिक विवेचन, पृ० **14–15**)। प्रेमचंद के उपन्यासों में मानवतावाद से आदर्शवाद आया। उनके उपन्यासों में प्रेम, सेवा और त्याग का ही आदर्श बारम्बार आता है, उन्होंने मानव के हित और कल्याण को सर्वोपरि माना, उनकी सहानुभूति इतनी अधिक व्यापक थी कि प्रेमचंद में छोटे–बड़े धनी, निर्धन, कुलीन–अकुलीन, पढ़े–लिखे व गॅवार सभी लोगों से उनकी सहानुभूति है। अतः प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में चरित्र तथा स्वरूप–निमार्ण में आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाया। आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है कि मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्य निर्माण करना। उनके समस्त साहित्य को देखकर यह विदित होता है कि प्रेमचंद जी आदर्शवादी विचारधारा से प्रभावित थे। 'सेवासदन' की सुमन 'प्रेमाश्रम' का मनोहर, 'निर्मला' की निर्मला आदि पात्रों में इसका प्रतिफलन देखा जा सकता है। वाजपेयी जी के मत का विरोध करते हुए कुछ आलोचकों ने इस बात की पुष्टि की है कि प्रेमचंद जी स्वयं आदर्श और यथार्थ के समन्वय में विश्वास रखते थे। उनका मत हैं कि यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, विषमताओं और क्रूरताओं का नग्न चित्र होता हैं और इसी तरह यथार्थ मनुष्य को निराशावादी बना देता है। मानव चरित्र पर से उसका विश्वास उठ जाता है, उसे चारो तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। साहित्तय में तो अलग–अलग प्रयोजन हैं। यथार्थवाद हमारी आखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें आकर किसी मनोरम स्थान पर पहुँचा देता हैं। एक हमें जीवन और जगत की परिस्थितियों से परिचित कराता है, दूसरा हमारे यथार्थ के अभावों को भावभरी कल्पना

प्रदान करता है। अर्थात उच्चकोटि का साहित्य वही है जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। प्रेमचद आगे लिखते हैं यथार्थ को प्रेरक बनाने के लिए आदर्श और आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए, नग्न यथार्थ और नग्न आदर्श दोंनो अतियाँ हैं। नग्न यथार्थ पुलिस की रिपोर्ट भर हो जाता है। नग्न आदर्श प्लेटफार्म का फतवा। डॉ० महेन्द्र भटनागर ने आदर्शवाद की आलोचना करते हुए आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थन किया। डॉ० रक्षापुरी ने कहा है कि प्रेमचंद ने यथार्थ की नीव पर आदर्श का भवन निर्मित करने का प्रयास किया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने कहा कि प्रेमचंद के साहित्य में यथार्थवाद की धारा अधिक शक्तिशाली है। हसराज रहबर भी प्रेमचंद को यथार्थवादी मानते हैं।

वाजपेयी जी अपने मत के समर्थन में कहते हैं कि कोई कलाकार या तो यथार्थवादी हो सकता है या आदर्शवादी। ये दो परस्पर विरोधी विचारधारायें और शैलियाँ हैं, इनका मिश्रण किसी एक रचना मे सम्भव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख नाम की कोई वस्तु नही हो सकती। आदर्श और यथार्थ को मिलाने वाला कोई पृथकवाद नहीं हैं, यह तर्कसगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दो परस्पर विरोधी जीवन दर्शनों और कला परिपाटियों मे एकत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है। वास्तव में प्रेमचंद अपने विचार और लेखन में आदर्शवादी हैं। उनका चरित्र चित्रण, निर्माण और मनोवैज्ञानिक सद्‌वृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्य का निर्माण करना ध्येय है। इसका सशक्त उदाहरण 'गोदान' उपन्यास है।

डॉ० नगेन्द्र के अनुसार "आदर्श और यथार्थ के मूल विरोध हैं। पहले का आधार भाववृत्ति दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है, आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा। उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं, वह कल्पना विलासी और स्वप्न दृष्टा न होकर व्यवहारिक जगत के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचंद का आदर्शवाद इसी रूप में है, वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है। व्यवहारिक आदर्शवाद है परन्तु यथार्थवाद नहीं है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है जो रोमानी नहीं है वह यथार्थवादी ही हो" ('कृतिकार डॉ० नगेन्द्र' पृ० **139**)। एक दृष्टि में यह वाजपेयी जी का समर्थन ही है जो व्यवहारिक धरातल पर आदर्शवाद की प्रतिष्ठा है। प्रेमचंद साहित्य की सिद्धि इसी में मानते हैं कि वह देश, जाति और समाज के कल्याण का माध्यम बनें। प्रेमचंद की उपन्यासकला का सामाजिक ध्येय–न्याय, समता और नीति के आदर्शो से प्रेरित रहा हैं। प्रत्येक उपन्यास में एक न एक सामाजिक ध्येय परिलक्षित होता है। उन्होंने प्रत्येक स्थान में

जो सामाजिक या राजनैतिक प्रश्न उठाये हैं उनका निर्णय भी हमारे सम्मुख हैं। उपन्यास के नामकरण, विषय, चयन, निष्कर्ष निर्धारण में उनका उद्देश्य स्पष्ट है। 'वरदान' में प्रेम और कर्तव्य की विजय दिखाई गई है। 'प्रतिज्ञा' में विधवाओं की मुक्ति का सवाल उठाया गया है, इसी तरह से कहानियों में जैसे 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर', 'नमक का दारोगा', 'उपदेश' आदि में कुछ न कुछ ध्येय अवश्य रहता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार "उनमें भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज–सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है, वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक का रूप उभर गया है" ('हिन्दी साहित्य का इतिहास'–पृ० **854**)। यहाँ वाजपेयी के मत का खण्डन शुक्लजी बहुत सहज रूप में करते हैं और प्रेमचंद की कृतियों के बारे में यह सत्य भी है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार–"प्रेमचंद के चरित्र वर्गगत जातिगत या प्रतीकात्मक होते हैं। जमींदार, किसान आदि में अपने वर्ग की साधारण विशेषताओं का आरोप रहता है। आधुनिक व्यक्ति–चित्रण प्रणाली से वे दूर हैं। केवल कुछ पात्रों में स्वतंत्र विशेषताओं का चित्रण किया गया है, वह भी परिस्थितियो के गहरे घात–प्रतिघात की भूमिका पर नहीं" (प्रेमचंदः साहित्यिक विवेचन पृ० **16**)। प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों मे तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गो का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र मिलते हैं– 'प्रेमाश्रम' उपन्यास में ज्ञानशंकर, प्रभाशंकर, रायसाहब, कमलानंद, जमींदार वर्ग के पात्र हैं। मनोहर कृषक वर्ग का प्रतीक है साथ ही बैरिस्टर इफनिअली के व्यक्तित्व में वकील की एवम् प्रेमनाथ चोपड़ा में डाक्टरों की सभी सामान्य विशेषतायें मिलती हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान वाजपेयी जी के विचारों का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'प्रेमचंद का उद्देश्य चरित्र चित्रण न होकर सुधार करना है वे नैतिक समस्याओं में अधिक रूचि लेते हैं, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं और असंगतियों में नहीं इसलिए उनके अधिकांश पात्र वर्ग विशेष के प्रतिनिधि या प्रतीक बनकर उभरे हैं।' परन्तु कुछ आलोचक इस विचार से सहमत नहीं हैं और उनका कहना है कि प्रेमचंद स्थितियों को ध्यान में रखकर अपने पात्रों का सृजन करते हैं और हृदय परिवर्तन की घटना मनोवैज्ञानिक को स्पष्ट भी कर देती हैं।

आचार्य नन्दरुलारे वाजपेयी के अनुसार– " 'रंगभूमि' लिखे जाने के समय गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन पराकाष्ठा पर था। गाँधी जी के सामाजिक, राजनीतिक तथा आदर्शमूलक विचारों से यह उपन्यास प्रभावित है। सूरदास नामक अन्धापात्र भारतीय ग्रामीण

जीवन का प्रतीक है तथा गाँधीवादिता में पगा हुआ है। वह अन्धा निर्बल होने पर भी निष्ठावान है" (प्रेमचदः साहित्यिक विवेचन पृ० 190)। यह सत्य है कि रंगभूमि के समय गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन चरमोत्कर्ष पर था, और इसमें प्रेमचंद खुलकर गाँधीवाद का प्रचार करते नजर आते हैं और सूरदास पराधीन होते हुए भी स्वतंत्रता के लिए अनवरत सघर्ष करता है और भारतीय (स्वतंत्रता) जीवन का सशक्त प्रतिनिधित्व करता है। साधनहीनता और शारीरिक रूप से अक्षम होने के बाद भी गाँधी के सत्य अहिंसा का अनुकरण करते हुए अपनी जमीन छुड़ाने के संघर्ष में मारा जाता है परन्तु अपने आदर्शों को नहीं छोडता है। सूरदास में गाँधी जी द्वारा प्रतिष्ठित आशावादिता और अजेयता भी सूरदास के जीवन में सन्निहित है। विरोधी भावों तथा गुणों का समन्वय होने के बावजूद सूरदास एक श्रेष्ठ चरित्र हैं। गोदान के रचनाकाल तक आते–आते प्रेमचंद का मोह गाँधीवाद से भग हो जाता है।

डॉ० राजेश्वर गुरू लिखते हैं कि " प्रेमचंद का आदि गान्धीवाद है और उनका अन्त साम्यवाद।" यह सत्य है कि प्रेमचंद गाँधीवादी नहीं थे, परन्तु वे उनके हृदय परिवर्तन को मानते थे और सत्य, अहिंसा, सेवा, त्याग की बातों को अपनी कृतियों में रखने में संकोच नहीं करते थे।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार– "बड़े–बडे जीवन चक्रों को हाथ में लेना, पेचीदा भाव धाराओं और सांस्कृतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप उठी हुयी जटिल समस्याओं का निरूपण करना, व्यक्ति, देश और जाति के जीवन के वृहद छाया आलोकों को उद्घाटित कर सकना, सारांश यह है कि जीवन के गहरे और बहुमुखी घात–प्रतिघातों और विस्तृत जीवन दशाओं में पद–पद पर आने वाले उद्वेलनों को चित्रित करना, उन्हें सम्हालना और अपनी कला में उन सबको सजीव करना गुप्त (मैथिलीशरण गुप्त) और प्रेमचंद के साहित्य सीमा के बाहर हैं" ('जयशंकर प्रसाद'–भूमिका)। प्रेमचंद का जीवन दर्शन वही है जो विश्व के सभी श्रेष्ठ साहित्यकारों का होता है अर्थात मानवता का प्रचार। संसार में सत–असत का जो संघर्ष चल रहा हैं उसमें वे सत् की प्रतिष्ठा और असत का विनाश चाहते हैं। जीवन के वृहत घात–प्रतिघातों को उनके उपन्यास रंगभूमि, कर्मभूमि तथा गोदान मे स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। वाजपेयी जी ने एक आरोप प्रेमचंद की रचनाओं पर यह भी लगाया है कि जीवन के प्रति उनकी कोई दृष्टि नहीं उभरती। आशय यह है कि उनका अपना कोई जीवन–दर्शन नहीं है।

विश्वम्भर 'मानव' इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि "जीवन के यथार्थ पर उनकी पूरी दृष्टि है, लेकिन अन्त में वे अपने कथानक को आदर्श की ओर मोड़ देते हैं, इसी से बहुत से विवेचकों ने उनमें आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के दर्शन किए हैं। हिन्दी के महान् साहित्यकारों में तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त के समान नैतिकता के वे प्रबल समर्थक हैं और उनकी सास्कृतिक दृष्टि बहुत स्वच्छ है। यहाँ इस बात को हम पूरे विश्वास के साथ फिर दुहराना चाहते हैं कि प्रेमचंद जी एक राष्ट्रवादी व्यक्ति थे और इस नाते राजनीति में वे गाँधीवाद के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अपने हित को राष्ट्रीय हित से एकाकार कर लिया था। उनका कथा–साहित्य हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलनो का एक विशाल दर्पण हैं। इस राष्ट्रीय चेतना का विश्व–मानवतावाद से कोई विरोध नही हैं। कुछ नये उत्साही समीक्षक तथ्यों को तोड़–मरोड़कर जो उन्हें साम्यवादी सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहें हैं, वह उनकी भूल है। वे मूलतः गाँधीवादी थे" ('हिन्दुस्तानी', प्रेमचंद स्मृति अंक **3-4**, भाग **41**, प्रेमचंदः एक प्रतिवाद पृ० **10**)।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार–"कायाकल्प भारत वर्ष के आध्यात्मिक उत्कर्ष, योगियों के अलौकिक–कार्यो आदि के आधार पर बना है। इस उपन्यास को प्रेमचंद जी की सामान्य उपन्यास धारा से अलग टूटी हुई एक स्वतन्त्र कृति मानना पड़ता है। यद्यपि सामाजिक चित्रण और समस्यायें इसमें भी हैं, पर इसमें अलौकिक चमत्कारों की योजना एक नवीन वस्तु है जो प्रेमचंद जी की साधारण प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाती" (प्रेमचदः साहित्यिक विवेचन पृ० **18–19**)। कायाकल्प प्रेमचद जी की एक प्रयोगवादी रचना सी प्रतीत होती है। अलौकिकता और रहस्य के नवीन तत्व इसमें मिलते हैं। नायक चक्रधर को भी धार्मिकता अथवा साधुता की ओर उन्मुख किया है। घर छोड़कर चले जाने वाला चक्रधर एक प्रकार का वैराग्य ही ग्रहण कर लेता है। आरम्भ में प्रेमचंद जी बड़ी स्वाभाविक रीति से बढ़ते प्रतीत होते हैं, किन्तु अनायास ही अलौकिकता भरे चमत्कार दिखा कर प्रेमचंद ने इसके ढ़ाँचे में कृत्रिमता पैदा कर दी है। साथ ही घटनाओं और पात्रों को भली–भाँति लेखक सँभाल नहीं पाता और संयोग तथा परिस्थिति पर अवलम्बित कथानक गिरता–पड़ता आगे बढ़ता है। प्रेमचंद जी को कायाकल्प के प्रयोग में सफलता नहीं प्राप्त हुई।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार– "केवल भाषा या शैली सम्बन्धी विशेषताओं विशेषताओं को लेकर किसी लेखक को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। उसका जीवन

दर्शन, चरित्र–चित्रण और कला की मुख्य प्रेरणा से ही उसकी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से प्रेमचद जी यथार्थवादी नहीं हैं। उन्हें यथार्थोन्मुख आदर्शवादिता से क्या तात्पर्य हो सकता है? साहित्य में यथार्थवादी और आदर्शवादी रचना के दो अलग–अलग विभाग हैं" (प्रेमचंद–साहित्यिक विवेचन पृ० 21)। प्रेमचंद यथार्थ तथा आदर्श को लेकर अपनी रचनाओं का सृजन करते हैं और दोनों के समन्वय को आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नाम देते हैं, साहित्य में यह अभी तक प्रतिवाद के रूप में माना जाता है परन्तु प्रेमचद का प्रयोग काफी हद तक सफल भी होता है। परन्तु अन्तिम समय की रचनाओं में यह मोहभंग हो जाता है। 'कफन' और 'गोदान' इसका सशक्त उदाहरण है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार– "प्रेमचंद क अन्तिम उपन्यास 'गोदान' के सम्बन्ध में यह प्रश्न अवश्य उपस्थिति होता है कि उसे आदर्शवादी किस आधार पर कहे। गोदान में समस्या के निर्णय का कोई प्रयत्न नहीं है, परन्तु चरित्र निमार्ण और कथानक के विकास–क्रम में प्रेमचंद जी भारतीय किसान के आदर्श–स्वरूप को भूले नहीं है। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओं और संकटों के सहते हुए भी अपने मूल आदर्श का विस्मरण नहीं कर सका है। वह अन्ततः आदर्शवादी है" (प्रेमचंदः साहित्यिक विवेचन पृ० 22)। गोदान उपन्यास का कथानक एक सीदे–सादे कथानक पर आधारित है। वह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करता है। होरी का युग भारतीय राष्ट्र नव जागृति की अगडाइयाँ लेकर उठ रहा है, उसके जीवन में वैयक्तिक संघर्ष है। परन्तु वह उस पर विजय पाने की कामना लेकर दैन्य और दुःख भोगता रहता है और उसका जीवन नवजागृति का सपना देखते–देखते जीवन से पलायन कर जाता है इसलिए यह कोरा आदर्शवाद गोदान में जगह–जगह प्रतिबिम्बित होता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार– " प्रेमचंद जी पात्रों का निमार्ण करने में जितने कुशल हैं उतने उनका निर्वाह करने में नहीं। कई पात्रों को बीच में ही अस्वाभाविक अकाल मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है" (प्रेमचंदः साहित्यिक विवेचन पृ० 18)। प्रेमचंद ने पात्रों की वर्गगत प्रवृत्तियों का चित्रण ऐसे कौशल से किया है कि अन्य उपन्यासकार वहॉ तक पहुँच नहीं पाये। गतिशीलता और जीवन संघर्ष की दृष्टि से प्रेमचंद के उपन्यासों के पात्र बहुत अधिक प्रभावोत्पादक हैं। उनके उपन्यासों में चरित्र चित्रण की प्रधानता है, घटनायें गौण रूप से आती हैं, प्रत्येक पात्र का कथानक में योग आवश्यकतानुसार ही रहता है। वह कथा–विकास में अपना योग देकर डट जाते हैं, जैसे– 'सेवा–सदन उपन्यास में

पूर्वार्द्ध में सुमन की कहानी को प्रमुखता देने के पश्चात उत्तरार्द्ध में शान्ता की कहानी को प्रमुखता देते हैं। इसी प्रकार उन्होंने 'गोदान' में भी दो पात्रो होरी और धनिया को कथानक में आद्यन्त बने रहने देते हैं। बाकी सभी पात्रों को घटनानुसार उपस्थित करते हुए भी दूसरा रास्ता दिखा देते है।

आलोचकों ने प्रेमचंद के सन्दर्भ में कहा है कि वे समस्याओं को यथा सम्भव औपन्यासिक कला के भीतर रखने और सुलझाने में प्रायः पात्रों को अपनी इच्छानुसार मोड़ लेते हैं। यही कारण है कि कुछ आलोचक उनके पात्रों को कठपुतली पात्र की संज्ञा देते हैं। अर्थात उनका चरित्रांकन बड़ा दुर्बल है। उनके पात्र स्थान–स्थान पर लेखक की इच्छानुसार कठपुतली की तरह नाचने लगते हैं। अतः उनके चरित्रों मे मानव मनोविज्ञान का दोष आ जाता है, क्योंकि मनुष्य का मन इतना सरल नहीं होता जो सुगमता से अपनी इच्छानुसार मोडा जा सके, विशेष परिस्थितियों में अथवा लम्बा समय निकालने के बाद भी चरित्र परिवर्तन कभी–कभी सम्भव होता है। अतः प्रेमचंद के पात्र कहीं–कहीं पर निसन्देह निर्जीव से लगते हैं।

मन्मथनाथ गुप्त के अनुसार "किसी चरित्र को आकस्मिक तौर पर बदल डालने, घटनाओं में चरित्रों का बौना बना डालने, यथार्थ से शुरू कर आदर्श पर पहुँचने के लिए कई पात्रों की हत्या कर डालने आदि के आरोप उन पर लगाये गये" (कथाकार–प्रेमचंद, पृ० 135)। रंगभूमि का सूरदास अतिश्योक्ति के सहारे और प्रेमचंद की कलम के बल पर खड़ा है। 'गबन' में आदर्श की बेदी पर यथार्थ की बलि चढ़ा दी गयी। अतः प्रेमचंद की महानता चरित्रांकन में दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः उनके उपन्यासों को व्यक्ति चरित्र के उपन्यास कहना उनके महत्व को कम करना है।

प्रेमचंद अपने कलात्मक उद्देश्य में एक सफल कथाकार हैं क्योंकि अपने पूर्ववर्ती कथाकारों की भाँति उन्होंने शिल्प विधान में किसी परम्परा का अनुकरण नहीं किया बल्कि अपने शिल्प विधान को स्वयं रचा और अपनी रचनाओं में आदर्शोन्मुखी–यथार्थवाद को प्रमुखता दी जो समकालीन साहित्य मे क्रांतिकारी साबित हुआ। यह सत्य है कि प्रेमचंद की रचनाओं में उद्देश्यवाद या ध्येयवाद की प्रधानता है परन्तु कुछ पात्रों के चरित्र में वर्गगत एवं जातिगत के मोह से वे मुक्त नहीं हो पाते हैं और अनावश्यक पात्रों को हटाने के लिए जैसा कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने दिखाया हैं, वे ऐसे पात्रों की हत्या या आत्म–हत्या कराने

से नहीं चूकते। यदि इसमें सफलता नहीं मिलती है ता वर्तमान आन्दोलनों में अपने पथ–प्रदर्शक गाँधी जी का लेबल लगा कर कथा की इति श्री कर देते हैं।

इलाचन्द्र जोशी

इलाचंद्र जोशी ने प्रेमचंद के जीवन काल में उनकी रचनाओं पर विरोध में लेख लिखे थे। उनमें कुछ जवानी का जोश ज्यादा था। बाद में उनकी पुस्तक 'विश्लेषण' (1948 ई०) में प्रेमचंद पर लिखे उनके दो लेख संकलित हैं। इनमें उन्होंने गंभीरतापूर्वक प्रेमचद के साहित्य पर विचार किया है और कई जगह अपनी असहमतियाँ प्रकट की है। प्रेमचंद साहित्य की आलोचना–प्रक्रिया में जोशी जी के मूल्याकन का अपना महत्त्व है।

इलाचंद जोशी के अनुसार प्रेमचंद की रचनाएँ पुरूष प्रधान हैं। उनकी कला का असाधारण पौरूष अपनी अदम्य तीव्रता से पाठक समाज को चकित कर देता है। राष्ट्र, मानवतावाद, विश्वविजय, विश्वमैत्री, सभ्यता और संस्कृति के विभिन्न छायात्मक आदर्शों के पीछे सनातन पुरूष भटकता फिरता है। पुरूष की प्रवृत्ति सदैव बाह्य केन्द्रित रही है। नारी की प्रवृत्ति केन्द्रोन्मुख है। नारी मूल सत्ता के केन्द्र को अनंत काल से जकड़े हुए है। प्रेमचंद ने पुरूष प्रवृत्ति के रहस्य का परिचय अवश्य प्राप्त किया है। पर मूल प्रकृति नारी की आत्मा के भीतर उन्होंने गहरी दृष्टि नहीं डाली है। नारी सारी सृष्टि के मूल में है। प्रेमचंद ने अपने लेखन में नारी तत्त्व की उपेक्षा की है। उनके नायक अनेक दुर्बलताओं का सामना करते हुए छायात्मक आदर्शों के पीछे मर मिटते हैं। कोई राष्ट्रीयता के पीछे पागल होता है तो किसी को नैतिक आदर्शों की धुन होती है। अपने इन चरित्रों का चित्रण प्रेमचंद ने सुंदर रूप से किया है। विश्व के वात्याचक्र के मैदान में उनके पुरूष पात्र अनंत कीर्ति के लिए लड़ते चले जाते हैं। पर उनके अंतरतम के किसी कोने में जो अत्यंत सुकुमार भाव छिपे हैं, उन्हें प्रेमचंद ने छुआ तक नहीं। सृष्टि के मूल में यह जो सनातन नारी है उसके प्रति प्रेमचंद ने अवज्ञा प्रदर्शित की है। समस्त श्रेष्ठ रचनाकारों ने नारीत्व के शाश्वत भाव को अपनाया है। रामायण के केन्द्र में सीता और महाभारत के केन्द्र में द्रौपदी है। विश्व साहित्य की महान कृतियाँ सनातन नारीत्व से ओतप्रोत रही हैं।

इलाचद्र जोशी का आरोप है कि प्रेमचंद ने अपने स्त्री चरित्रों को वैयक्तिक रूप नहीं दिया है। वे सब एक मूर्तिमान भाव हैं, विशेष आदर्शों के काल्पनिक प्रतीक हैं। उनके सुख–दुख उनकी अन्तरात्मा से नहीं स्फुटित हैं। यही कारण है कि प्रेमचंद के उपन्यासों की दुनिया महिलाओं को एकदम विजातीय और कल्पित मालूम होती है। प्रेमचंद की राष्ट्रीयता से भाराक्रान्त रचनाओं में नारी के सत्तात्मक सुख–दुख की अवहेलना की गई है। इलाचन्द्र जोशी का कहना है कि प्रेमचंद के उपन्यासों का मूलगत दोष यह है कि उनकी रचनाओं के पीछे आभ्यंतरिक अनुभूति नहीं, बाह्य चक्रों की प्रेरणा है। 'रगभूमि' की सोफिया के चरित्र में उनके अनजाने में पौरूष भाव आया है। उसका हृदय मातृत्व की ऑच में नहीं तपा है। उसका सुख सत्तारहित और दुख असत्य है। उसकी सहानुभूति में नारी की सम्वेदना का कोई आभास नहीं झलकता है। वह एक आकाशचारिणी पक्षी है जो पृथ्वी के निवासियों पर दो–चार बूँद ऑसू गिराने का शौक रखती है। ऐसा लगता हं जैसे रंगमंच पर पात्र अभिनय कर रहे हैं। जीवन्तता का अभाव है। प्रेमचंद के नारीपात्र राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाली कठपुतलियों के सिवा कुछ नहीं है। नारी हृदय की अतलव्यापी मार्मिक वेदना वह नहीं प्रस्फुटित कर पाये हैं। जोशी जी के शब्दों में, 'प्रेमचंद की कला में मस्तिष्क का चमत्कार है, हृदय का नहीं। जहाँ मानव हृदय की सुकुमार भावनाओं के प्रस्फुटन का अवसर आया है, वहॉ प्रेमचंद की कलम रूक गई है। वस्तुतः प्रेमचंद के पात्र जीवित हाड़–मांस के व्यक्ति नहीं, नैतिक आदर्शों के मूत्तिमान प्रतीक हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास कल्पित आदर्शों का कठपुतला है, वास्तविक जगत का सजीव पात्र नहीं। होरी के चरित्र में उसके अंतर्द्वन्द्वों का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। इलाचंद्र जोशी का निष्कर्ष है:–

'प्रेमचंद जी की कला में स्थान–स्थान पर रसावेग अवश्य दृष्टिगोचर होता है। पर वह रसावेग भी कल्पना के दबाव से उत्पन्न होता है। वह उनका हृदयानुभूति जीवित सत्य नहीं है।'

जोशी जी 'सेवासदन' को एक सफल रचना मानते हैं। जोशी जी के अनुसार 'सेवासदन' पहला उपन्यास था जिसमें हिंदी उपन्यास को बाजारू दुनिया से ऊपर उठाकर साहित्य के स्तर पर खड़ा किया। पर इसके बाद प्रेमचंद रस–रचना छोड़कर तत्त्वालोचन में लग गए। जोशी जी की दृढ़ मान्यता है कि नारी की मूल शक्ति से प्रेरित हुए बिना किसी भी यथार्थ सर्जनात्मक साहित्य की प्राण–प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। यद्यपि वे समसामयिक निन्दकों को लताड़ते हैं तथा प्रेमचंद की महत्ता बताते हैं कि उन्होंने ऐय्यारी–तिलिस्मी

उपन्यासो की बाढ़ से हिन्दी साहित्य का उद्धार किया। उनक अनुसार प्रेमचद के द्वारा हिदी कथा–साहित्य को प्रौढ़ता प्राप्त हुई। प्रेमचंद की भाषा की जोशी जी प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने मुहावरेदार और रोजमर्रा की भाषा का सुन्दर प्रयोग किया। संस्कृत के तत्सम शब्दों से दूर रहे और तद्भव शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया।

हजारी प्रसाद् द्विवेदी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शोध और आलोचना का क्षेत्र प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य रहा है। साहित्य की दूसरी परम्परा के खोजी प्रतिष्ठापक विद्वान होने के कारण उनका जोर लोकमत और लोक परम्परा पर ज्यादा रहा है। वाममार्ग और तांत्रिक धारा के विवेचक विद्वान के रूप में उनकी ख्याति रही है। तंत्रों के कारण उनकी नारी विषयक दृष्टि विशिष्ट रही है और रवीन्द्र नाथ ठाकुर के प्रभाव के कारण साहित्य के मानवतावादी पक्ष पर उनका बल रहा है। आलोचक और निबंधकार के अलावा उनकी ख्याति एक उपन्यासकार के रूप में भी रही है जिसमें उन्होंने तंत्रों की विशिष्ट दृष्टि को व्यंजित किया है। आधुनिक काल उनकी आलोचना का केन्द्र कभी नहीं रहा। आधुनिक साहित्य के विवेचन से उनकी अरूचि का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। फिर भी उनकी पुस्तक "हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास" में प्रेमचंद विषयक विचार मिलते हैं। प्रस्तुत सस्करण **1952** ई० का है जिस पर यह विवेचन आधारित है।

प्रारम्भिक युग के हिन्दी उपन्यासों में कल्पना, रोमांस, ऐय्यारी, तिलस्मी तथा ऐतिहासिक रूप मिलते थे। इनमें कच्चेपन के साथ–साथ प्रौढ़ता का नितान्त अभाव था एवम् इनका विषय आदर्शवाद के रंग में भी रंगा होता था। ये उपन्यासकार झोपड़ियों में रहकर गगन चुम्बी प्रासादों का भी स्वप्न देखते थे और मखमली फर्श पर लगे हुए सोफों पर बैठने वाली नायिका उनके पात्रों में प्रमुख रहती थी। प्रेमचंद ने रंगीन कल्पना को छोड़कर यथार्थ को गहराई से पकड़ा और उसे अभिव्यक्ति देना अपने उपन्यास का लक्ष्य बनाया। हजारी प्रसाद द्विवेद्वी के अनुसार– "प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों और कहानियों को मानव जीवन का यथार्थ चित्रण ही कहा है।" (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास– पृ० स० **225**)।

प्रेमचंद को हिन्दी–उर्दू दुनिया में जबर्दस्त लोकप्रियता मिली, उसका कारण यही है कि उन्होंने जनता के बीच से पात्रों को उठाया और उनकी विश्वसनीय तस्वीर खींची। जनता से गहरे लगाव के कारण वे इतने जनप्रिय हुए कि तुलसीदास के बाद कोई दूसरा साहित्यकार उनके समान नहीं पैदा हुआ। प्रेमचंद की लोकप्रियता का आलम यह था कि उनके जीवन काल में ही उनकी रचनाओं के अनुवाद विदेशी भाषाओं में होने लगे थे। साहित्य में उपेक्षित और पीड़ित जनता की प्रामाणिक तस्वीर पेश करने और उसकी जबर्दस्त पक्षधरता के कारण उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई। प्रेमचंद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उचित कहा हैः–

'प्रेमचंद शताब्दियों से पीडित, पददलित और अपमानित कृषकों की आवाज थे, वे पर्दे में कैद, पद–पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबर्दस्त वकील थे, गरीबो और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार–विचार, भाषा–भाव, रहन–सहन, आशा–आकांक्षा, दुख–सुख और सूझ–बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गॉव से लेकर धारा सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्ण और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।' ('हिन्दी साहित्यः उद्भव और विकास' पृ० 266)।

हिन्दी के सर्वप्रथम यथार्थवादी उपन्यासकार होकर भी प्रेमचंद ने थोड़ा आदर्श को लेकर अपने उपन्यासों एव कहानियो में महलों में न जाकर सबसे पहले गॉव की झोपड़ियां की ओर गये और झोपड़ियों में पड़ी आत्माओं को, फटेचिथडों के रूप में उनके सरल और स्वाभाविक, सौन्दर्य का वर्णन किया जो वासना रहित था और इन लोगों में उन्होंने प्रेम की पीर महसूस की। ऐसा लगता है कि परिस्थितियों ने प्रेमचद को उत्पन्न किया था और उनका घायल हृदय सामाजिक–आर्थिक दशा को देखकर व्याकुल हो गया तथा उन्होंने इसी दीन–हीन लोगों को ही अपना आदर्श चुना। डॉ० द्विवेदी जी के मत की पुष्टि डॉ० रामविलास शर्मा ने भी की है–

डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार "प्रेमचंद के कथा साहित्य में यथार्थ की धारा ही अधिक शक्तिशाली है।" (प्रेमचंदः आलोचनात्मक परिचय पृ० स० 14)। प्रेमचंद धर्म को झूठा आडम्बर मानते थे और इसकी इन्होंने अपने सभी उपन्यासों एवम् कहानियों में निन्दा की है तथा इसके उच्चतम बिन्दु को प्रेमचंद मानवता की श्रेष्ठतम सेवा मानते थे।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार प्रेमचंद "धार्मिक ढकोसलों को ढ़ोंग समझते थे, पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु मानते थे। प्रेमचद शताब्दियों से पद्दलित, अपमानित और शोषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद–पद पर लांक्षित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे।" (हिन्दी साहित्य :उद्भव और विकास–पृ० स० 229)। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचद मानवतावादी लेखक थे और अपने उपन्यासों में दमन के मूलभूत कारणों के विश्लेषण का प्रयास किया है। प्रेमचंद ने रूढ़ियो के विरूद्ध आवाज उठाई, और सुधारवादी पात्रों के माध्यम से कहलवाया है कि सामाजिक संस्थायें एवं नियम मानव कल्याण के लिए बनाये गये हैं, मानव उनके लिए नहीं। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों मे पीड़ित मानवता के पक्ष में आवाज बुलन्द की है तथा शोषको और अत्याचारियों के खिलाफ गहरा आक्रोश व्यक्त किया है। 'उपन्यास' नामक निबन्ध के प्रारम्भ में प्रेमचद कहते हैं कि– "मैं उपन्यास को मानव–चरित्र का चित्र समझता हूँ। मानव–चरित्र पर प्रकाश डालना और उनके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास के मूल तत्व है।" (प्रेमचंदः कुछ विचार, पृ० स० 38)। डॉ० द्विवेदी जी के मत की पुष्टि करते हुए डॉ० नगेन्द्र प्रेमचंद को मानवतावादी लेखक मानते हैं। उन्होंने कहा हैः– "प्रेमचंद के जीवन दर्शन का मूल तत्व है मानवतावाद"। प्रेमचद ने अपनी सभी कृतियों में अत्याचार और अमानुषिक व्यवहार करने वाले लोगों के प्रति रोष तो व्यक्त किया ही है साथ ही उनका अंत तक ह्रदय परिवर्तन कराने में वे सफल होते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार– "प्रेमचंद का मानवतावाद मनुष्य की तरफदारी करने वाला मानवतावाद है, वह अमानुषिक भावनाओं को देखकर चुप नहीं रहता।" (प्रेमचंद और उनका युग– पृ० स० 151)। प्रेमचंद ने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से भिन्न एक नये मार्ग का अनुसरण नारी चित्रण में किया है। इसके पहले इतना विशद विवेचन नहीं हुआ था। नारी को यह प्रताडना समाज की रूढ़ियों से तथा आर्थिक दुरवस्थाओं के कारण मिलती है। इसके उदाहरण 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन' तथा 'निर्मला' में देखे जा सकते हैं। निर्मला उपन्यास की प्रमुख पात्र की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए प्रेमचंद कहते है कि "निर्मला की दशा उस पंखहीन पक्षी की सी हो रही थी, जो सर्प को अपनी ओर आते देखकर उड़ना चाहता है पर उड़ नहीं सकता, उछलता और गिर पड़ता है" ('निर्मला' पृ० 76)। इस प्रकार प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में ऐसी नारियों का चित्रण किया है जो परिस्थितियों में जकड़ी भारतीय आदर्श नारी के रूप में समाज की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व बलिदान कर देती है। दूसरी ओर प्रेमचंद की बाबू वर्ग की

नारियाँ स्वाभिमानिनी एव विद्रोही हैं। परिस्थितियो की विषमता ने उनके पॉव बॉध दिये हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का प्रेमचंद के बारे में यह दृष्टिकोण अक्षरशः सत्य है कि 'वकील का काम जिरह द्वारा सत्य का उद्घाटन करना होता है।' प्रेमचंद ने नारी जीवन की समस्याओं को उठाकर समाज में नारी की स्थिति पर प्रकाश तो डाला ही साथ में उनकी प्रगति का पथ भी प्रशस्त किया। प्रेमचंद का नारी विषयक दृष्टिकोण बहुत ऊँचा है,। प्रेमचद ने एक शहरी पात्र मि० मेहता से इसका स्पष्टीकरण करवाया है– "स्त्री पृथ्वी की भाँति धैर्यवान है, शक्ति सम्पन्न है, सहिष्णु है, पुरूष में नारी के गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरूष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है" ('गोदान' पृ० 217)। एक स्थान पर मि० मेहता कहते हैं कि "नारी धरती के समान है, जिसमें मिठास भी मिल सकती है, कड़ुवापन भी, उसके अन्दर पड़ने वाले बीज में ऐसी शक्ति है" ('गोदान', पृ० 249)। प्रेमचंद का नारी विषयक दृष्टिकोण पुरूष प्रधान समाज द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों पर करारी चोटें करता है।

प्रेमचंद अतीत की कथा न कहकर विषय का आधार वर्तमान जीवन की समस्याओं को बनाते हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "प्रेमचद ने अतीत के गौरवगान का पुराना राग नहीं गाया। और न ही भविष्य की हैरत अंगेज कल्पना ही की, वे ईमानदारी के साथ वर्तमान काल की अवस्था का विश्लेषण करते हैं" (हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास– पृ० स० 215)। यह सच है कि प्रेमचंद समकालीन जयशंकर 'प्रसाद' ने अपनी कृतियो में अतीत का गौरवगान एवं भारत की गरिमामय सस्कृति का वर्णन किया है परन्तु प्रेमचंद उनकी तरह अतीत में विचरण न करके वर्तमान की समस्याओं से टकराते हैं। वही रचनाकार सफल भी होता है जो तत्कालीन समस्याओं और ज्वलन्त प्रश्नों को लोगों के समक्ष प्रस्तुत करे, हो सके तो उसका वैसानिक या नैतिक हल भी पेश करे। प्रेमचंद ने यह सब किया और पाठकों के दिलों पर अधिकार किया। प्रेम विषयक दृष्टिकोण में प्रेमचंद ने अपने पूर्ववर्तियों (उपन्यासकारों) को काफी पीछे छोड़ दिया। उनका प्रेम वासना रहित है और उसमें त्याग एवं पवित्रता की खूशबू आती है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– "प्रेमचंद के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गन्दगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है" (हिन्दी साहित्यः उद्‌भव और विकास पृ० 229)। प्रेम के विषय में कथाकार प्रेमचंद के उज्जवल विचार हैं। प्रेमचंद के अनुसार यह प्रेम ही है जो

मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहॉ सेवा और त्याग नहीं वहाँ प्रेम नहीं, वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग मे ही अभिव्यक्ति पाता है, अतः प्रेमचंद का पात्र जब प्रेम करता है, तब वह सेवा की ओर अग्रसर होने लगता है। इसमें वह अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। प्रभुसेवक से बातचीत करते हुए 'रंगभूमि' की सोफिया कहती है– " प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है जितना कचन और कॉच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है, और उसमें केवल मात्रा का भेद रहता है। भक्ति में सम्मान का और प्रेम में सेवा भाव का आधिक्य होता है" (रंगभूमि भाग 1– पृ० 145)।

डॉ० नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' (1982 ई०) में लिखा है, 'फक्कडपन का यह नशा उन दिनों द्विवेदी जी पर इस हद तक चढ़ा था कि अप्रत्याशित रूप से प्रेमचंद में भी उन्हें अपना एक समानधर्मा दिखायी पड़ गया। प्रेमचंद की मृत्यु के तीन वर्ष बाद नवम्बर 1939 ई० की 'वीणा' में उन्होंने 'प्रेमचंद का महत्त्व' शीर्षक लेख प्रकाशित किया (बाद में यह 'विचार और वितर्क'(1945 ई०) में संकलित हुआ), जिसमें बड़ी आत्मीतया के साथ वे 'गोदान' के एक मौजी चरित्र मेहता का यह कथन उद्धत करते हैं: मैं भूत की चिंता नहीं करता, भविष्य की परवाह नहीं करता। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हममें जीवनी शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है। हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर रूढियों और विश्वासों तथा इतिहास के मलबे के नीचे दबे पडे हैं। उठने का नाम ही नहीं लेते। वह सामर्थ्य ही नहीं रही। जो शक्ति, जो स्फूर्ति मानव धर्म को पूरा करने में लगानी चाहिए थी, सहयोग में, भाईचारे में, वह पुरानी अदावतों का बदला लेने और बाप–दादों का ऋण चुकाने की भेंट हो जाती है।' प्रेमचंद के संदर्भ में द्विवेदी जी के फक्कड़पन का वह क्रांतिकारी पहलू प्रकट होता है जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति कबीर की समीक्षा में होती है। प्रेमचंद का महत्त्व उनकी दृष्टि में क्या था, इसका पता उनकी इस घोषण से चलता है कि 'वे अपने काल में समस्त उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार थे।' उस समय शायद ही किसी ने इतने अकुण्ठ भाव से प्रेमचंद के महत्त्व को पहचाना। द्विवेदी जी ही पहले आदमी हैं जिन्होंने हिन्दी जगत को यह बतलाया कि 'वास्तव में तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद प्रेमचंद के समान सरल और जोरदार हिन्दी किसी ने नहीं लिखी।' ('दूसरी परम्परा की खोज', पृ० 48–49)।

प्रेमचंद के बारे में लिखते समय द्विवेदी जी प्रायः उसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं जो आगे चलकर कबीर के लिए काम आई। आचार्य द्विवेदी के अनुसार दुनिया की सारी जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही प्रेमचंद सरल और निरीह थे। धार्मिक ढ़कोसलों को वे ढ़ोंग समझते थे पर मनुष्य को वे सबसे बड़ी वस्तु मानते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया फिर भी इस युग के साहित्यकारों मे और मानव की सद्वृत्तियों पर उनका अटूट विश्वास था। मूलतः वे बुद्धिवादी थे। 'गोदान' मे एक पात्र के मुँह से मानो वे अपनी बात कहते हैं:— 'जो वह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है।' प्रेमचंद ने ढ़ोग को कभी बर्दाश्त नहीं किया, समाज को सुधारने के लिए बडी—बड़ी बातें सुझायी, स्वय उन्हें व्यवहार में लाये। उनका कथन है, 'जो ज्ञान मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं कोल्हू है।' वे समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसकी टीमटाम और भभ्भड़पन का पर्दाफाश करने में आनंद पाते थे और दरिद्र किसान के आत्मबल का उद्‌घाटन करना अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझते थं। उन्हें कठिनाइयों से जूझने मे मजा आता था और तरस खाने वाले पर दया की मुस्कुराहट बिखेर देते थे।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार प्रेमचंद मानवातावादी लेखक हैं। अपनी रचनाओं में वे यथार्थवादी धारा के प्रबल समर्थक हैं। साथ ही वे मनुष्यता को सबसे ज्यादा महत्त्व देते हैं तथा नारी जाति की विडम्बना को उजागर करते हैं। मध्यकालीन साहित्य के अध्येता का यह विवेचन प्रेमचंद के कथा—साहित्य को एक अलग नजरिये से देखता है जिसमें एक तरह का नयापन है।

नगेन्द्र

'रस सिद्धान्त' के चर्चित आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने 'आस्था के चरण' (1968 ई०) नामक पुस्तक के एक लंबे निबन्ध में प्रेमचंद विषयक विवेचन किया है। डॉ० नगेन्द्र का प्रेमचंद के विषय में यह विचार अति महत्वपूर्ण है कि प्रेमचंद ने साहित्य को समग्ररूप में देखा और चित्रित किया अर्थात साहित्य को किसी खानों में या बाद में न बाँटकर एक उद्देश्यपूर्ण रचना की सृष्टि की है और यही समग्र दृष्टि महान् साहित्यकार का मौलिक लक्षण है।

डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार "प्रेमचंद का सबसे प्रधान गुण है, उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन–दुखी जनता, गॉव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्नवर्ग के असख्य श्रम–श्रान्तवर्ग और वर्ण व्यवस्था के शिकार नर–नारी तो उनके विशेष स्नेह भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी, उच्चवर्ग के राजा, उद्योगपति, जमींदार और हुक्काम, उधर मध्यमवर्ग के व्यवसायी, नौकरी पेशा लोग, समाज के पुराण पन्थी, पडित–पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं थे। ('आस्था के चरण'–पृ० 451)। प्रेमचद के साहित्य–अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उपन्यास एवं कहानी को अवास्तविकता तथा अतिरंजना के आकाश से उतार कर यथार्थ और रागात्मक सम्बन्ध की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रेमचंद का उद्देश्य अपने युग के समाज का एक व्यापक चित्र प्रस्तुत करना है, इसलिए उन्होंने तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों तथा उनकी विशेषताओ को ही अभिव्यक्ति प्रदान की है। प्रेमचंद के उपन्यासों एवं कहानियों में तत्कालीन समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र मिलते हैं। ये धर्म के ठेकेदार पात्र, महन्त, पुजारी, पण्डे हैं जो तत्कालीन समाज के कर्मकाण्डों, अन्धविश्वासों की आड़ में समाज को गर्त में ढ़केलते हैं। अछूतों के प्रति प्रेमचंद को सहानुभूति है, सुखिया चमारिन का बच्चा बीमार है वह मन्दिर में ठाकुर जी का दर्शन करना चाहती है ताकि उसका बेटा ठीक हो जाये। लेकिन धर्म के ठेकेदार पुजारी एवं अन्य भक्त उसको मना करते हैं, तब सुखिया विद्रोही स्वर में कहती है– "मेरे दर्शन कर लेने भर से ठाकुर जी को छूत लग जायेगी। पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है। पारस लोहा नहीं हो सकता। मेरे छूने से ठाकुर जी अपवित्र हो जायेंगें, मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी" ('मन्दिर'– मानसरोवर भाग 5, पृ० 12)। प्रेमचंद का युग कृषक एवं जमींदार के अत्याचारों के पीड़ित था, दूसरी ओर महाजन जोंक की तरह उसका शोषण कर रहा था। 'गोदान' के प्रमुख पात्र होरी की विवशता देखी जा सकती है। मध्यवर्ग की विवशता एवम् यथार्थ से प्रेमचद भली–भाँति परिचित थे, और इसका जीवन्त उदाहरण 'गबन' है, जो एक दर्पण सदृश्य है, हमारी झूठी संस्कृति, फटीचर बाबू वर्ग के लोगों के आडम्बर और प्रेम का मार्मिक अंकन एवम् काले धब्बों को प्रेमचंद ने अपनी तूलिका से गहराई में जाकर चित्रित किया है। डॉ० त्रिभुवन सिंह, नगेन्द्र के विचारों से सहमत नहीं हैं– "मुख्यतः मध्यवर्ग जिनकी आर्थिक नींव अत्यन्त खोखली है, आभूषण प्रेम के कुपरिणामों से इतना पीड़ित हैं कि इसका अस्तित्व ही कभी–कभी सन्देहास्पद हो जाता

है" ('हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद'–पृ० 196)। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में पाप पर प्रहार किया है और गाँधी जी से प्रभावित होने कारण पापी से घृणा का सिद्धान्त नकारते हैं। 'सेवासदन' का पद्म सिह कहता है– "हमें उनसे घृणा करने का (वेश्याओं से) कोई अधिकार नहीं है, यह उनके साथ घोर अन्याय होगा, यह हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया" ('सेवासदन'–पृ० 148)।

डॉ० नगेन्द्र प्रेमचंद को एक साधारण व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति मानते थे और उनके जीवन को एक सन्त तथा फकीर से सुशोभित करते हैं एवम् जीवन में अवैध कमाई तथा धन के लालची रूप में न पड़ने की प्रशंसा करते हैं। प्रेमचद ने अपने वास्तविक जीवन में लोभ के चक्कर में न पड़कर कभी भी अपने आदर्शों को नहीं छोड़ा और न ही कभी अपने सिद्धान्तों को छोड़ा। 'गोदान' में गोविन्दी अपने पति खन्ना से कहती है – "सत्य पुरुष धन के आगे सिर नहीं झुकाते। वह देखते हैं तुम क्या हो। अगर तुममें सच्चाई है, त्याग है, पुरुषार्थ है तो ये तुम्हारी पूजा करेंगे" ('गोदान' – पृ० 397) आर्थिक दशा एवम् अनमेल विवाह की कथा कहने में प्रेमचन्द अत्यन्त माहिर हैं। 'निर्मला' उपन्यास इसका सजीव उदाहरण है। प्रेमचन्द के साहित्य में काम को तिरस्कार होते हुए भी कभी कभी प्रतिपाद्य विषय का स्थान पा गया है, परन्तु प्रेमचन्द के समकालीन हिन्दी के उपन्यासकार इसमें लिप्त पाये गये हैं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार – "ये उपन्यास सभी निभ्रान्ति रूप से किसी न किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएँ नैत्विक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है" ('आस्था के चरण' पृ० 455–456)। वास्तव में हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द यथार्थवादी उपन्यासकार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों की शुरुआत स्वाभाविक एवम् यथार्थवादी दृष्टि से करते हैं परन्तु अन्त तक जाते – जाते उनकी दृष्टि आदर्शवादी हो जाती है। सभी दुष्ट पात्रों का हृदय परिवर्तन हो जाता है जिससे आदर्श की सृष्टि होती है। उनके कथा साहित्य का पूर्वाद्ध अत्यन्त यथार्थवादी और उत्तराद्ध आदर्शवादी हो जाता है। प्रेमचंद कां आदर्श उपयोगिता का शत–प्रतिशत पहलू रखता है। प्रेमचन्द लिखते हैं– "साहित्य का उद्देश्य जीवन के आदर्श को उपस्थित करना है, जिसे पढ़कर हम जीवन में कदम – कदम पर आने वाली कठिनाइयों का सामना कर सकें" (हंस – जनवरी 1935)। प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में समाज की सभी अच्छी–बुरी विषयक बातों की ओर संकेत किया है। इसमें सबसे प्रमुखता

वह विवाह को देते हैं। विवाह को प्रेमचन्द एक पवित्र बंधन मानते हैं और इसे तोड़ने के पक्षधर तो वे थे ही नहीं। एक कहानी के माध्यम से अपनी बात भी उनका कथन है:–

'मेरा मन प्रेमचंद को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है। अन्तर्द्वन्द्व के अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते। प्रेमचंद का विचार–क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता। चिंतन और गंभीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसीलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार का पोलापन मिलता है। वास्तव में, ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्ति कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। प्रेमचद पहली श्रेणी में नहीं आते।' ('आस्था के चरण', पृ० 457)। नगेन्द्र अन्तर्द्वन्द्व विषयक धारणा तो अस्वीकार करते ही है, साथ प्रेमचंद में विवेक के कारण गहराई का अभाव पाते हैं। चिंतन और गम्भीर दर्शन उनकी परिधि में नहीं आते। इसलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव भी पाते हैं। इसी कारण उनके उपन्यासों में पोलापन मिलता है। इसके साथ ही वे प्रेमचंद मे साधारण व्यक्तित्व का सहज अभाव पाते हैं। उनका रचनाकार द्वितीय श्रेणी का है। इसलिए प्रेमचद पहली श्रेणी में नहीं आते हैं। सच तो यह है कि प्रथम और द्वितीय श्रेणी के भेद का दो कथाकारों की तुलना में कोई विशेष महत्व नहीं रखता। क्योंकि प्रत्येक कथाकार विशेष वातावरण, विशेष परम्पराओं और विशेष परिस्थितियों की उपज होता है। डॉ० नगेन्द्र, प्रेमचद में आध्यात्मिकता और नैतिकतावादी दृष्टि को पलायन का आधार नहीं मानते है, क्योंकि 'कफन' उनकी यथार्थवादी कहानी है। इसमें भी आस्था का सकेत है।

डॉ० नगेन्द्र के विचारों का विरोध करते हुए विश्वम्भर 'मानव' कहते हैं– "डॉ० नगेन्द्र ने प्रेमचद जी को द्वितीय श्रेणी का कलाकार सिद्ध करने के लिए जो कारण दिये हैं वे मूलतः निषेधात्मक हैं। प्रथम यह कि उनकी रचनाओं में अन्तर्द्वन्द्व का अभाव है, क्या यह बात 'सेवासदन' की सुमन, 'रंगभूमि' की सोफिया और विनय तथा 'प्रेमाश्रम' की गायत्री आदि के चरित्र को लेकर कही जा सकती है? गोदान में होरी जब रूपा के विवाह में दो सौ रूपये लेता है, तो दरिद्रता की विवशता में, यह एक प्रकार से लड़की बेचना है। उस समय उसके हृदय की व्यथा क्या किसी से कम है? कमी शायद यह है कि इन पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व, फ्रायड के मनोविज्ञान के, जिसके डॉ० नगेन्द्र विशेषज्ञ हैं, अनुकूल नहीं है। दूसरी कमी बतायी है चिंतन और गम्भीर दर्शन की और उसके आधार पर बौद्धिक सघनता और दृढ़ता को। बौद्धिकता का नारा पश्चिम का दूसरा नारा है। इसमें पहले तो यह सोचना

चाहिए कि प्रेमचंद का जो रचना संसार है, अर्थात देश के सामान्यजन का, उसमें बौद्धिकता के उन्मेष के लिए कहाँ स्थान है? इस देश के अशिक्षित किसान और मजदूर और इसी स्तर के अन्य शोषित व्यक्तियों के जीवन में गम्भीर दर्शन के विवेचन की गुंजाइश कहाँ है? इतना तो सभी जानते हैं कि प्रेमचंद गाँधीवादी थे और यदि गाँधी जी का कोई जीवन दर्शन नहीं था, तो प्रेमचंद का भी नहीं था। गाँधी जी के विचारों का समर्थन प्रेमचंद ने वृहत्तर आशय के लिए किया है। वह है मानवता की प्रतिष्ठा, जो एक अन्तर्राट्रीय मूल्य है। गाँधीवाद उनकी रचनाओं में एक साधन ही है" ('प्रेमचंदः एक प्रगतिवाद'– पृ० **11**)।

डॉ० नगेन्द्र के प्रेमचंद के कथा साहित्य में पोलापन वाली टिप्पणी पर विश्वम्भर 'मानव' हस्तक्षेप करते हुए कहते हैं कि "प्रेमचंद भारतीयता और विश्वमानवता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। वे सभी दृष्टियों में प्रथम श्रेणी के एक प्रतिभाशाली कलाकार हैं। ऐसी दशा में यदि डॉ० नगेन्द्र को उनके विचारों में पोलापन दिखाई देता है, तो इसे उनका दृष्टिदोष समझना चाहिए। ऐसी ही हल्की धारणा उन्होंने 'प्रसाद' की कामायनी के संबंध में व्यक्त की थी। परन्तु आगे चलकर उसमें सुधार कर लिया।" (प्रेमचद एक प्रतिवाद–पृ० **11–12**, 'हिन्दुस्तानी', प्रेमचंद स्मृति अंक, जुलाई **1980**)।

प्रेमचंद की महानता के कई कारण हैं। पहला यह कि उनकी रचनाओं का धरातल बहुत व्यापक है। वे एक युग और देश की वाणी हैं। अतः उनमें महाकाव्य जैसा विस्तार पाया जाता है। वे अपने युग की राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक थे, अतः उनके साहित्य में वैसी ही गभीरता, उच्चाशयता और पवित्रता पाई जाती है। एक महान राष्ट्र के महान संघर्ष के अनेक पहलुओं को प्रतिबिम्बित करने के कारण, उनका साहित्य इस देश के इतिहास को जीवन्त ढग से प्रस्तुत करता है। अतः वह इतिहास के रूखे तथ्यों की तुलना में अधिक रोचक और स्थायी है। अपने देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का जैसा सही चित्र उन्होंने अंकित किया है, वैसा हिंदी का दूसरा कोई कथाकार नहीं कर पाया। इस व्यापक विषय के अनुरूप ही उनकी ऐसी सहज, सरल और अनुपम है कि उसका अनुकरण करना असंभव है। डॉ० नगेन्द्र ने प्रेमचंद के संबंध में बहुत हल्की धारणाएँ व्यक्त की हैं जो उनके पूर्वाग्रह की सूचक हैं। आलोचक का प्रेमचंद को दोयम दर्जे का रचनाकार कहना स्वयं आलोचक और उसकी आलोचना के लिए ज्यादा मौजूँ है। प्रेमचंद का लेखन आकाश से नहीं टपका। वह समकालीन समाज के भीतर से आया है। उनकी रचनाओं की पारदर्शिता

इतनी अधिक है कि उसके भीतर से जीवन की गहराई बड़ी साफ दिखाई पड़ती है। उनके साहित्य में ताजगी है, समय का ताप है जिसके भीतर पीडित समाज की व्यथा है।

नलिन विलोचन शर्मा

ग़ैरमार्क्सवादी आलोचकों में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा दूसरे महत्त्वपूर्ण आलोचक है (हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद) जिनकी आलोचना का स्वर प्रेमचद के समर्थन में फूटा है। उनकी आलोचना कृति 'हिन्दी उपन्यासः विशेषतः प्रेमचद' (**1968** ई०) प्रेमचंद का सहानुभूतिपूर्वक विश्लेषण करती है, पर अब यह अनुपलब्ध है। उनके प्रेमचंद संबंधी विचारों का बीज उनके लेख 'हिन्दी उपन्यास' में द्रष्टव्य है जो 'हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ' (दूसरा सस्करण, **1958** ई०) में संकलित है। प्रस्तुत अध्ययन इसी पर आधारित है।

आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार हिंदी उपन्यास का इतिहास हिंदी भाषी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति के नवीन रूप के विकास का साहित्यिक प्रतिफलन है। समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य में अभिव्यंजना पाती है, जटिलता, वैषम्य और संघर्ष की सभ्यता उपन्यास में। हिंदी उपन्यास यदि आज पश्चिमी उपन्यासों के समकक्ष सिद्ध नहीं होते तो इसलिए कि हमारी वर्तमान सभ्यता अपेक्षाकृत पश्चिम के आज भी कम जटिल, कम उलझी हुई और कहीं ज्यादा सीधी–सादी है। हिंदी उपन्यास की छोटी अवधि में भी अंग्रेजी या फ्रेंच भाषा के उपन्यास के विस्तीर्ण इतिहास की विकास–प्रक्रियाओं की संक्षिप्त किन्तु पूर्ण रूपरेखा विद्यमान है।

नलिन विलोचन शर्मा का कथन है कि प्रेमचंद हिदी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। 'गोदान' के पहले तक के प्रेमचंद हिंदी उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथ चिह्न हैं। हिंदी उपन्यास के विकास की सीमा रेखाएँ अधिक नहीं हैं, मुख्यतया दो हैं और ये उपन्यासकार प्रेमचंद में निहित हैं– 'प्रेमचंद उस शिखर के समान हैं जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार–चढ़ाव हैं।'

नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है कि हिंदी का उपन्यास साहित्य वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पच्छिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बँगला कलम तो लिया ही गया था। अपने आरंभिक दिनों में उपन्यास मुख्यतः मनोरंजन का साधन था। उस समय वह

सामाजिक जीवन के सत्य का वाहक बन सकने के लिए भी प्रयास कर रहा था। प्रेमचंद के पूर्व श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास ने उपन्यास को मनोरंजन के स्तर से ऊपर जरूर उठाया था, किन्तु उन्होंने प्रेमचंद को प्रभावित किया था (जैसा कि डॉ० रामविलास शर्मा ने 'भारतेन्दु युग' में दिखाया है) यह उद्भावना निराधार है। नलिन जी के शब्द हैं:–

'प्रेमचंद के उपन्यासों में हिन्दी उपन्यास की ये दोनों धाराएँ सहसा एक होकर अतिशय महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। प्रेमचंद के उपन्यास आपाततः मनोरंजन के साधन भी हैं और सत्य के वाहक भी। स्वयं प्रेमचद के उपन्यासों में भी 'गोदान' इसका अपवाद है– वह मात्र सत्य का वाहक है।' (उपर्युक्त, पृ० 23)।

आचार्य शर्मा के अनुसार प्रेमचंद में हिन्दी उपन्यास की क्षीण और लक्ष्यहीन धाराएँ सम्मिलित होकर महानद बनीं और उनके जीवन काल में ही वे अनेक मंद–तीव्र धाराओं में विभक्त भी हो गई। मुख्य धारा से हटकर स्वयं प्रेमचंद भी एक सर्वथा नवीन दिशा की ओर मुड़े थे। यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण, मौलिक और महान प्रयास था। लेकिन इसमें प्रेमचंद अकेले ही रह गए। उनके इस प्रयोग का अनुकरण दूसरे रचनाकारों ने नहीं किया जिस तरह उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का किया था। इस तरह 'गोदान' हिन्दी की ही नहीं स्वयं प्रेमचद की भी एक अकेली औपन्यासिक कृति है जिसका विराट विस्तार, तटस्थ यथार्थता और सरलता किसी दूसरे भारतीय उपन्यास में नहीं दिखती।

उन्होंने हिंदी आलोचकों के इस दृष्टिकोण की आलोचना की है कि 'गोदान' की कथावस्तु असम्बद्ध है। नलिन जी के अनुसार, 'वस्तुतः यही 'गोदान' के स्थापत्य की वह विशेषता है जिसके कारण उसमे महाकाव्यात्मक गरिमा आ जाती हैं। नदी के दो तट असम्बद्ध दीखते हैं पर वे वस्तुतः असम्बद्ध नहीं रहते– उन्हीं के बीच से जल–धारा बहती है। इसी तरह 'गोदान' की असम्बद्ध–सी दीख पड़ने वाली दोनों कहानियों के बीच से भारतीय जीवन की विशाल धारा बहती चली जाती है। भारतीय जनजीवन का, जो एक ओर तो नागरिक है और दूसरी ओर ग्रामीण और जो एक साथ ही अत्यंत प्राचीन भी है और जागरण के लिए छटपटा भी रहा है, इतने बड़े पैमाने पर इतना यथार्थ चित्रण हिन्दी में ही क्यों, किसी भी भारतीय भाषा के किसी उपन्यास में नहीं हुआ है।' (उपर्युक्त, पृ० 24)। इस तरह 'गोदान' के स्थापत्य के वैशिष्ट्य को नलिन विलोचन शर्मा ने सर्जनात्मक स्तर पर

खोला है तथा बताया है कि यदि उसका स्थापत्य कृत्रिम होता तो भारतीय जीवन के वैविध्य को इतने विराट स्तर पर अकित करने में सफल नहीं होता।

हिन्दी उपन्यास के विकास क्रम में प्रेमचंद के महत्त्व को उजागर करने के बाद आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने प्रेमचंद की भाषा पर टिप्पणी की है। उनके अनुसार प्रेमचद के पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासकारों के लिए भाषा चुनौती के रूप रही है। इस समय तक ये रचनाकार अँग्रेजी गद्य की बारीकियों को समझ सकने में असमर्थ थे। संस्कृत का मोह भी बाधा के रूप में था। उस समय केवल अपवाद रूप में देवकीनंदन खत्री ने सरल भाषा में लिखकर अपार लोकप्रियता प्राप्त की। इस संदर्भ मे नलिन जी के विचार महत्त्वपूर्ण है:–

देवकीनंदन खत्री की लोकप्रियता और सफलता की चाह रखने वाले लेखक यह नहीं समझते थे कि खत्री जी का रहस्य सुरंग और लखलखा नहीं था बल्कि भाषा की वह सादगी थी जो अमोघ सिद्ध होती थी। प्रेमचद ने, जिन्होंने अपने समय के असंख्य युवकों की तरह देवकीनंदन खत्री की पुस्तकें चाव से पढ़ी थी, भाषा की इसी सादगी को शैली की विशिष्टता में रूपान्तरित और उन्नत किया था। यह प्रेमचद के लिए तब संभव हुआ जब उन्होंने उर्दू गद्य का आकर्षक दोष, जबानदराजी का मोह, कठिनता से, पर कठोरतापूर्वक, धीरे–धीरे बिल्कुल छोड़ दिया। 'गोदान' में प्रेमचंद की शैली उर्दू गद्य की अलंकारिकता के निर्भीक से सर्वथा मुक्त हो गई है। 'गोदान' की महत्ता का, स्थापत्य कौशल के अतिरिक्त, शैली मुख्य कारण है।' (उपर्युक्त, पृ० **25–26**)।

वस्तुतः प्रेमचंद की तरह मुहावरेदार, चलती, सरल और टकसाली भाषा दूसरे लेखक नहीं लिख पाये। नलिन विलोचन शर्मा का उपर्युक्त प्रेमचद विवेचन सर्जनात्मक आलोचना का प्रतिमान प्रस्तुत करता है जो प्रेमचंद के साहित्यिक महत्त्व को उद्‌घाटित करने के साथ ही समीक्षक की मौलिकता को भी प्रकट करता है।

इन्द्रनाथ मदान

डॉ० इन्द्रनाथ मदान की ख्याति आधुनिक समीक्षक के रूप में रही है। उपन्यास–आलोचना के क्षेत्र में उन्होनें महत्त्वपूर्ण काम किया है। नई समीक्षा के सिद्धान्तों से

उनकी आलोचना प्रभावित रही है, पर वे उसके सैद्धान्तिक विवेचन में नहीं उलझे हैं। उनका कार्य व्यवहारिक समीक्षा का है। 'कृति' की राह से गुजरने का नारा देकर उन्होंने नई समीक्षा के सिद्धान्तों को व्यवहारिक रूप दिया। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि रचना का मूल्यांकन इतर मापदंडों या विचारधाराओं के आधार पर नही – कृति के आधार पर होना चाहिए। 'आज का हिन्दी उपन्यास' और 'हिन्दी उपन्यास एक नई दृष्टि' उनकी चर्चित कृतियाँ हैं। प्रस्तुत अध्ययन उनकी पुस्तक 'प्रेमचन्द : एक विवेचन (सन् **1989** ई०)' पर आधारित है।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह प्रेमचन्द विषयक विवेचन समाजशास्त्रीय परम्परा का है। समीक्षक की यह स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी लेखक चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, अपने समय की उपज होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह समीक्षक की आरंभिक कृति है। इसमें कच्चापन बहुत है तथा प्रौढ़ता का अभाव है।

साहित्य एक अविरल अखण्डित एवं गतिशील प्रक्रिया है जिसे युगों के बंधन में बॉधना मुश्किल ही नहीं वरन असम्भव भी है परन्तु पठन–पाठन की सुविधा हेतु उसे एक युग विशेष का नाम देकर चिन्हित कर दिया जाता है। जब व्यक्ति स्वयं उस युग विशेष को रेखाकित करे और कालजयी तथा प्रासंगिक होने के लिए उसे युग विशेष का सहारा न लेना पड़े। प्रेमचन्द के बारे में यही सच है। सन् **1905 – 36** का समय इतिहास तथा साहित्य के लिए एक संक्रमण का दौर था जिसे विद्वानों ने प्रेमचंद युग कहकर पुकारा है। प्रसाद और निराला जैसे महारथियों से भिड़ने के साथ–साथ प्रेमचंद को विदेशी साम्राज्यवादी ताकतों से भी लोहा लेना था। यह सामन्तशाही के पूँजीवाद में बदलने का दौर था। इन समस्याओं से रुबरु होने के साथ एक ऐसा भूखा, टूटा एव निराश भारत उनके सामने विकराल मुँह खोले खड़ा था जो मानवीय सम्बन्धों से अधिक तवज्जो भूख को दे रहा था। तब ऐसे समाज के लिए कफ़न खींचने के अलावा शेष ही क्या था? प्रेमचंद ने एक भावुक कलाकार की भांति यह रूप अपनी आंखों से देखा तथा गम्भीर विचारक के मस्तिष्क से अनुभव किया। प्रारम्भिक कृतियों में हांलाकि इन्होनें यथार्थ को छोड़कर गाँधीवादी विचारधारा आरोपित करके कहीं जागीरदारों का ह्रदय परिवर्तन दिखाया है तो कहीं भूमिदान करवाया है और इस प्रकार समस्याओं का एक बनावटी हल निकाला है। इससे उनकी रचनायें कृत्रिम हो गयी हैं परन्तु 'गोदान' तक आते आते वे सचेत हो जाते हैं और जर्मन नाटककार बर्ट्रेन्ड रसेल की उक्ति उनके ऊपर सटीक बैठती है कि "वे लेखक महान होते

हैं जो अपनी रचनाअें में समस्याओं का अन्तर ढूँढ लेते हैं लेकिन उनसे भी महान तो वे लेखक होते हैं जो अपनी रचनाओं से समाज इतिहास के पाठकों के सामने एक सवाल पैदा करते हैं।''

प्रेमचन्द के कथा साहित्य के सम्पूर्ण विवेचन को केन्द्र में रखकर डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने प्रेमचन्द : एक विवेचन में कुछ प्रश्न उठाये हैं। विषय एवं पात्रों को चिन्हित करने के लिए सुविधानुसार आठ स्तम्भों के रूप मे विभाजित प्रेमचद की कथागत मान्यताओं एवम् समस्याओं को स्पष्ट किया है। जो निम्नलिखित हैं :-

1. मध्य वर्ग
2. भूमिपति
3. उद्योगपति
4. किसान और अछूत
5. किसान-होरी
6. कला और शिल्प विधान
7. कहानियॉ
8. सामाजिक उद्देश्य

प्रेमचन्द अपने अधिकतर उपन्यासों में उस वर्ग पर अधिक ध्यान देते हैं जो अपने वर्ग से हट गया है साथ ही सामाजिक वातावरण की दृष्टि से सक्रमण का शिकार हो गया है।

डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार – ''वास्तव में यदि देखा जाये तो प्रेमचन्द महान् इसलिए हैं कि उन्होंने किसानों के मानसिक गठन और मध्यवर्ग के दृष्टिकोण को उस समय अत्यन्त विश्वास और उत्साह के साथ वाणी दी, जिस समय इस देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। सामंती अर्थशास्त्र और सामंती जीवन की पुरानी नींव-वह नींव जो युग -युग से दृढ़ता पूर्वक ग्राम्य जीवन को सँभाले थी, विदेशी सत्ता और पूँजीवाद तथा दरिद्रता की बढ़ती हुई कहर के विरुद्ध हुए राष्ट्रीय संघर्ष के इस युग में हिल गई। उनके ग्रन्थों में आर्थिक शोषण और सामाजिक अत्याचार के विरुद्ध कृषक वर्ग की पुञ्जीभूत घृणा और कटुता की झलक मिलती है – उनमें उस पूँजीवाद या पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध निम्न मध्यवर्ग के विरोध और घृणा के भी दर्शन होते हैं, जो इस युग में देश में व्याप्त हो रही थी।'' (पृ० **10-11**)। एक बड़े एवम महान लेखक

की विशेषता है कि वह तत्कालीन समाज में व्याप्त घटनाओं को किस प्रकार आत्मसात करता है? अपनी रुढिवादिता के कारण मध्यवर्ग न केवल पुरानी परम्पराओं से अपनी पीछा छुड़ाने की कोशिश कर रहा था, बल्कि समय के साथ नयं नये विचारों एवं संघर्ष से भी गुजर रहा था। इन परिस्थितियों में प्रेमचन्द की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। तत्कालीन समय में घटित स्वदेशी आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन (1920–1922) एव सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930–1932) ने प्रेमचंद के मन–मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोडा। यह सच है कि प्रारम्भिक आन्दोलन सुधारवादी होते हुए उसकी परिणति साम्यवाद एव समाजवाद की ओर उन्हें ले जाती है। इसे सामाजिक व्यवस्था ने मध्यवर्ग को पर्याप्त स्वतन्त्रता दे दी थी। इसके साथ ही नवीन सामाजिक व्यवस्था ने व्यक्ति के सोचने का दायरा बढ़ाया तथा शिक्षितों के बीच भेदभाव तथा दूरियॉ कम की। अन्र्तजातीय विवाह तथा अधिक उम्र में शादियों से लोगों के व्यवहार में एक पवित्रावादी दृष्टिकोण एवं देश प्रेम का रूप ले लिया। प्रेमचन्द की भूमिका यहाँ इसलिए प्रासंगिक हो जाती है कि वे इस नये दल में नैतिकता का प्रयोग चाशनी के रूप में अपनी कृतियों के माध्यम से करने लगे। प्रेमचन्द ने आदर्श एवं यथार्थ का प्रयोग करके स्वयं अपने पाठक पैदा किये। परन्तु सच यह है कि उनको पुण्य की अपेक्षा पाप शक्तिशाली दिखाई देता था। यही कारण है कि सत् एवं असत् के बीच संघर्ष में वे समन्वय द्वारा समझौतावादी दृष्टिकोण निकाल लेते थे। तत्कालीन राजनीति के क्षितिज पर गाँधी – इरविन समझौता (1932) यदि उनका जीवन दर्शन रहा हो तो इससे भी इंकार नहीं किया जा सकता है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार –''यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय, समाजवाद और पूँजीवाद का समन्वय तथा क्रान्तिकारी विचारों और रुढ़िवादिता का समन्वय वे मौलिक तत्व थे, जिनसे उनका मस्तिष्क और कला अनुप्राणित थी। वे उपन्यास को जीवन का प्रतिबिम्ब और उसकी आलोचना समझते थे। वे जासूसी तथा प्रेम कथाओं की विधमता और लोकप्रियता पर खेद प्रकट करते थे।'' (पृ० 39)। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रेमचंद के पूर्व के कथा साहित्य में जादू, आकर्षण एवं कौतूहलमय विषयों का समायोजन रहता था। प्रेमचन्द की दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन न होकर उसमें सुधारवादी दृष्टिकोण भी होना चाहिए। यही कारण है कि प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में कथावस्तु पर विशेष ध्यान दिया है और प्रत्येक घटना को जीवन की हलचल से जोड़ने का प्रयास किया। चरित्र प्रधान उपन्यास लिखकर लोगों

के प्रेरणाश्रोत बने। साथ ही समकालीन लेखकों के इन विषयां पर लिखने के लिए प्रेरित भी किया।

मध्यवर्ग के जीवन पर प्रेमचन्द द्वारा लिखे गये प्रमुख उपन्यास 'सेवासदन', 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला' एवं 'गबन' हैं।

'सेवासदन' प्रेमचंद का मध्यवर्ग पर लिखा गया प्रारम्भिक उपन्यास है। इसमें मध्यवर्ग की एक नारी की कहानी है जो अपने पति की संकीर्ण मानसिकता के कारण परित्यक्त कर दी जाती है। समय के थपेड़े उसे वेश्या बनने के लिए मजबूर कर देते हैं। जिस पति ने उसे त्यागा है, वह अपनी पत्नी के वेश्या बनने की सोच में साधू हो जाता है। पद्म सिह जो समाज का स्तम्भ है वह भी अपने किये कर्मो के प्रति नैतिक पाश्चाताप करता है। शेष कथा समाज के मध्यवर्ग के व्यक्तियों में व्याप्त कुकर्मो एवं नैतिक पतन पर प्रकाश डालती है। प्रेमचद की एक विशेषता है कि अपने सभी उपन्यासों मे ('गोदान' को छोड़कर) एक सुधारवादी आश्रम की स्थापना करते हैं। प्रेमचंद के समकालीन लेखक 'प्रसाद' भी अपने उपन्यासों में समाज के बूढ़े या किसी मंदिर के पुजारी को आदर्श रूप में पेशकर आदर्श स्थापित करने की कोशिश करते हैं। निराला के उपन्यासो में थोड़ा भिन्न नजारा नजर आता है और वह पात्रों की श्रेणी में स्वयं को पाते हैं, और अपनी बनाई परम्परा को वे खुद तोड़ते नजर आते हैं। परन्तु शरत्चन्द्र के उपन्यासों में पात्रो का ईमानदारी से यथार्थ वर्णन मिलता है। प्रेमचंद की दूसरी विशेषता यह है कि लगभग सभी कृतियों में आदर्श एवम् यथार्थ को साथ–साथ लेकर चलते हैं एवं जरूरत पड़ने पर दोनों को साथ–साथ मिलाकर उसका समन्वय करा देते हैं। परन्तु प्रमुखता आदर्शवाद की रहती है। यही कारण है कि 'सेवासदन' की मुख्य पात्र 'सुमन' प्रारम्भ में वेश्या बनने पर झिझकती है। प्रेमचंद का उमड़ता समाज सुधार उनके चरित्रों के सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। कथा के प्रारम्भ में सुमन की जीवन सम्बन्धी कुछ मान्यतायें थीं परन्तु पीछे चलकर सुमन का चरित्र समाज सुधार की बलि चढ़ जाता है। तीसरी विशेषता के रूप में प्रेमचद अनावश्यक पात्रों को हटाने के लिए या तो पात्रों को साधू बना देते हैं या फिर रहस्यमय रूप में उसे आत्महत्या या हत्या के रूप में पेश कर इति श्री कर देते है। सेवासदन के माध्यम से प्रेमचंद समाज में व्याप्त बुराइयों का इतने सजीव ढ़ंग से वर्णन करते हैं कि मूल समस्या (वेश्याओं की) गौण एवं सारहीन हो जाती है। इनके इस विचार से डॉ० इन्द्रनाथ मदान भी सहमत नहीं हैं और कहते हैं कि प्रेमचंद के पवित्रतावादी दृष्टिकोण के अनुसार बुराई मानव की प्रकृति में नहीं है

वरन इसके अंकुर तत्कालीन वातावरण में मिलते हैं। आश्वासन और सहानुभूति पाकर स्त्रियाँ पाप और घृणा के जीवन से बच सकती हैं। जिस बहुविवाह प्रथा की उपज यह वेश्यावृत्ति है उसकी लेखक ने अवहेलना कर दी है। 'वरदान' एक मध्यवर्ग से सम्बन्धित उपन्यास है परन्तु प्रेमचंद इसमें सनसनीखेज घटनाओं में बँध से गये हैं। उपन्यास की मूलकथा प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व पर केन्द्रित है। 'प्रतिज्ञा' एक ऐसा उपन्यास है जो 'प्रेमा' का परिवर्द्धित रूप है। इस उपन्यास की मूलकथा विधवाओं के पुनर्विवाह की समस्या को लेकर बुनी गयी है। सुधारक प्रेमचंद ने विधवाओं के जीवन को नष्ट करने वाली इस सामाजिक बुराई का भण्डाफोड़ किया है। इसका प्रमुख पात्र अमृतराय सगाई हो जाने के बावजूद एक विधवा से शादी करने का संकल्प करता है। पूर्वा नाम की एक लड़की रगमंच पर प्रस्तुत की जाती है परन्तु एक बार समाज के दरिदों के हाथ बलात्कार के हादस से बचने पर वह शादी करने का संकल्प त्याग देती है और अपने पूर्व स्वामी की सेवा मे डूब जाती है। अमृतराय भी शादी की प्रतिज्ञा तोड़कर विधवाओं की समस्याओं को सुलझाने में जुट जाता है। प्रेमचंद तो इसी ताक में रहते हैं कि ऐसे लोगों को कोई तो आश्रय दे, और बीच-बीच में इसका क्रियात्मक हल भी सुझाते रहते हैं। इसलिए 'प्रतिज्ञा' खूनी रिस्तों की अपेक्षा विधवाओं के उद्धार को प्रमुखता देता नजर आता है।

'निर्मला' उपन्यास के माध्यम से प्रेमचंद समाज मे मध्यवर्ग व्याप्त दहेज प्रथा तथा अनमेल विवाह की समस्याओं को रेखांकित करते हैं। साथ ही तीन परिवारों की समानान्तर कथा कहकर उनकी बरिबादी का चित्रण किया है। इसमें कई प्रश्न उठाये गये हैं। चूंकि यह दश प्रेमचंद ने खुद झेला था इसलिए इसका अंत उनके अपने विचार भी हो सकते हैं। उपन्यास के अन्त में मरती हुई निर्मला कहती है- "मेरी लड़की की शादी किसी उचित व्यक्ति से की जानी चाहिए।" इसके साथ ही यह सन्देश भी दिया है, कि वह कोई व्यक्तिगत समस्या नहीं वरन यह सामाजिक रोग है, जिसका स्थाई समाधान होना चाहिए। 'गबन' 1930 में लिखा गया एक मध्यमवर्गीय उपन्यास है। पति-पत्नी के आपसी संम्बधों पर जब अविश्वास एवं व्यक्ति रोब जमाने की कोशिश करता है तो निश्चित है कि इसका परिणाम भी गम्भीर निकलता है। नवविवाहिता पत्नी को उपहार में गहनों के लिए इस उपन्यास का पात्र दफ्तर से रूपयों का गबन करता है और जानबूझकर इस जाल में फँस जाता है। अंत में एक वेश्या द्वारा सोने के हार को बेचकर को वह इस ऋण से उऋण होता है। वेश्या को जब प्रमुख पात्र की पत्नी द्वारा उसके त्याग की कथा मिलती है, तो शर्म से

वह आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार इसमें एक वेश्या का हृदय परिवर्तन भी दिखाया गया है। साथ ही पुरानी परम्परा को प्रेमचंद यहाँ भी ढ़ोते नजर आते हैं और जिन पात्रों से छुटकारा नहीं पाते उससे आत्महत्या करवा देते हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार– "प्रस्तुत उपन्यास में यथार्थवाद की प्रवृत्ति उभर कर आई हं। लेकिन उन्होंने जीवन की आवश्यक बातों को भावुकता से ही अपनाया है। सामाजिक समस्याओं और पात्रों का चरित्र निरूपण करने में वे भावुकता को नहीं छोड सके हैं। 'गबन' ऐसा गठा हुआ उपन्यास है, जिसमें थोथे आदर्शवाद से उत्पन्न अनावश्यक विवरणों से जानबूझ कर बचा गया है। इससे पता चलता है कि लेखक ने जीवन के समझने का एक सुन्दर और निजी ढ़ंग खोज निकाला है।" (पृ० **54**)।

भूमिपति

प्रेमचंद ने समाज की सामन्ती व्यवस्था को दो रूपो में विभाजित किया है। प्रथम विभाजन में उन्होंने प्राचीन परम्परा से युक्त लोगों को रखा ह जो रूढ़िवादी के कारण पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। दूसरे वर्ग में पूँजीवादी व्यवस्था वाले लोगों को रखा है जो दिनों दिन समृद्ध होते जा रहे हैं। इसी न्दूसरे वर्ग की व्याख्या प्रेमचंद अपने कृषि जीवन पर आधारित उपन्यास 'प्रेमाश्रम' के माध्यम से करते हैं। इस उपन्यास में औद्योगिक सभ्यता से पूर्व ग्रामीणों की आर्थिक सामाजिक दशा का सजीव चित्रण मिलता है। लखनपुर गॉव इस कथा का केन्द्र बिन्दु है। इसमें सरकारी कारिंदों के माध्यम से जमींदार गाँव के लोगों को आतंकित करते हैं, मनोहर एवं उसका लड़का बलराज इन लोगों से लोहा लेते हैं। कहानी का शिल्प बहुत विस्तार से है परन्तु इसमें अत्याचार एवम् शोषण के सभी रूप सामने नजर आते हैं। एक कारिन्दे की हत्या से वातावरण विषाक्त हो जाता है। इसमें हत्या करने वाला मनोहर भी स्वयं को मार लेता है। प्रेमशंकर गरीबों की सेवा का बीड़ा उठाता है। ज्ञानशंकर जमींदारों के नवीनतम संस्करण के रूप में है। वह स्वार्थी, लालची, विलासी एवं क्रूर है। अंत मे प्रेमशंकर की ही विजय होती है। इसकी कथा की प्रकृति से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचंद जीवन की सुन्दर व्याख्या एवं परिवर्तन में विश्वास रखते हैं। लेकिन परिवर्तन में तीव्रता इतनी अधिक होती है कि पाठक सहज रूप में इसे पचा नहीं पाता है। यह प्राकृतिक रूप से सच है कि हर दुष्ट व्यक्ति के मन में एक देवता होता है और इसी नाटकीयता से

प्रेमचंद अपने पाठकों के दिलों में एक स्थाई स्थान बनाने मे सफल भी होते हैं क्योंकि प्रेमचद समाज सुधारक होने के नाते अपने पाठकों को समाज में भेड़ के रूप में छिपे भेडिए को दिखाना चाहते हैं। इस अच्छाई–बुराई के खेल में वे सफल भी होते हैं। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के अनुसार– "सड़ी–गली और कुरूप सामन्ती दुनिया की बुराइयॉ दिखाने में प्रेमचंद ने अपनी आत्मा की समस्त शक्ति लगा दी है और सामाजिक कल्याण के लिए इसका जितनी जल्दी खात्मा हो उतना ही अच्छा है। उनकी कला का उद्धेश्य शुद्ध रूप से सामाजिक है, क्योंकि वह जमीदारों के शोषण के विरूद्ध जनता की चेतना जागृत करती है।" (पृ० 73)।

उद्योगपति

यदि 'प्रेमाश्रम' को सामन्ती सभ्यता का महाकाव्यात्मक दस्तावेज है तो इसमें कोई शक नहीं कि प्रेमचंद का 'रंगभूमि' उपन्यास औद्योगिक सभ्यता का दस्तावेज है। जो निश्चित रूप से गाँव के सामाजिक–आर्थिक सम्बन्धों को नष्ट करता है।

'रंगभूमि' की मूल कथा में दो सभ्यताओं की टकराहट को व्यक्त किया गया है। प्रथम लाभ एवं प्रतियोगिता पर आधारित औद्योगीकरण की नई ताकतों का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरी कथा पारस्परिक सहयोग एवं पुराने मेल मिलाप के रूप में प्रकट हुई है। इस उपन्यास का प्रमुख पात्र सूरदास पाण्डेपुर गाँव का निवासी है। प्रेमचंद ने कोशिश की है कि इसकी संघर्षकथा इसके बाहर भी रहे। इसमें जीवन के मनोवैज्ञानिक पक्ष को भी परिभाषित करने की चेष्टा की गयी है। उन्होंने जीवन को रंगमंच एवम् खुद को एक खिलाडी कहा है जो अंधे के रूप में सूरदास है। जिसे उन्होंने खेल का आदर्श खिलाड़ी साबित किया है तथा शेष खिलाड़ियों में अन्य स्त्री पुरूष हैं। इसमें किसान और राजकुमार हैं, पूँजीपति और मजदूर भी हैं, इसके साथ–साथ देशभक्त एवम् गद्दारों की भी भीड़ है। जॉन सेवक जो एक पूँजीपति है सूरदास की बंजर भूमि पर सिगरेट की फैक्टरी लगाना चाहता है। पैतृक लगाव के कारण सूरदास इसे देना नहीं चाहता, उसे तरह–तरह के प्रलोभन दिये जाते हैं। परन्तु सूरदास चट्टान की तरह दृढ़ रहता है क्योंकि 'सूरदास' अपनी पुरखों की जमीन में उनकी स्थाई स्मृति के लिए एक स्मारक बनवाना चाहता है। जॉन सेवक की इच्छा के अनुसार सरकारी कर्मचारी गाँव के लोगों पर कई तरह के अत्याचार

एवम् कानूनी कार्यवाही करके उसमे फैक्टरी बनाने में सफल हो जाते हैं। एक बार फिर शोषण एवं दमन का नंगा नृत्य होता है। यहाॅ शहरी सस्कृति गाँव की संस्कृति से भारी पडती है। पर सूरदास की जमीन छिनने से गाँव के लोगों मे उसकी उसकी नैतिक विजय हो जाती है और लोग लामबन्द होकर उसके साथ संघर्ष मे साथ देते हैं। इस कथा के साथ ही साथ उपन्यास में कई कथायें समानान्तर चलती रहती हैं। सोफिया–विनय, इन्दु एवम् जान्हवी की कथायें बहुत प्रभाव नहीं छोड़ती। यहाॅ लेखक का दृष्टिकोण मूलरूप से औद्योगीकरण की बुराई को प्रस्तुत करना है और पूँजीपतियो द्वारा मजदूरों की जो दुर्दशा की गयी है उसे इंगित करते हुए प्रेमचंद कहते हैं– "वे गन्दी, दुर्गन्ध युक्त और टूटी फूटी झोपडियों में रहते हैं। उनको देखते ही उबकाई आती है। वे ऐसे कपड़े पहनते हैं जिनसे हम जूते को भी साफ करना पसन्द नहीं करेंगें। वे खाना ऐसा खाते हैं जिसे हमारा कुत्ता भी नहीं खाएगा। इतना होते हुए भी पूँजीपति और उद्योगपति हिस्सेदारों को मुनाफ़ा देने के लिए उन्हें रोटी के टुकड़ों से भी वंचित कर देते हैं।"(पृ० 85)।

मूलतः 'रंगभूमि' गाँधीवादी उपन्यास है और इसका नायक गाॅधी के अहिंसावादी सिद्धान्त का पक्षधर है। सत्याग्रहियों की भाँति सभी प्रकार के जुल्म सहता है तथा लाभ के लिए स्वप्न में भी नहीं सोचता है। जिस पूँजी के लिए समाज में इतनी मारा–मारी तथा भ्रष्टाचार व्याप्त है उसे प्रेमचंद क्रान्ति के माध्यम से न प्राप्त कराके नैतिकता एवम् अहिसात्मक रूप में प्राप्त करने पर जोर देते हैं और कुछ हद तक इसमें सफल भी होते हैं।

किसान और अछूत

प्रेमचंद द्वारा किसान और अछूत जीवन पर वैसे तो कई उपन्यास लिखे गये हैं परन्तु 'कर्मभूमि' अपनी सर्जनात्मक प्रस्तुति में बेजोड़ है। सन् 1932 ई० का दौर, विश्व आर्थिक मन्दी के दौर से गुजर रहा था। भारत की राजनीति में सविनय अवज्ञा का दौर चल रहा था। ऐसे समय में किसानों की स्थिति सहज नहीं थी। 'कर्मभूमि' उपन्यास में किसान नेताओं के दो रूप सामने आते हैं। आत्मानन्द एक उग्र नेता है जो किसान भी है। अमरकान्त समझौतावादी दृष्टिकोण का नेता है। जब अमरकान्त की माँगें सरकार नहीं मानती तो वह आन्दोलन करता है। परन्तु सरकार के दमन एवम् अत्याचार ने ऐसी विषम स्थिति उत्पन्न की, उसी के आस–पास इसकी कथा केन्द्रित है। प्रेमचंद इस उपन्यास के

आर्थिक कठिनाइयों एवम् दुःखों को झेलता रहा, परन्तु इतना होने पर भी वह मानवता और उदारता के उन तत्वों को सुरक्षित रखने में सफल हुआ है जो उनके जीवन में पथ प्रदर्शक का कार्य करते रहे हैं। 'गोदान' मे एक ऐसा किसान की करूण गाथा है जो समय के थपेडो से जूझता हुआ एक गाय को जीवन में प्राप्त नहीं कर पाता है और अन्त में मजदूर बनने पर विवश हो जाता है। शोषण की इस अटूट परम्परा म होरी के जीवन का सारा रस निचुड़ चुका है। परिवर्तन के प्रति अनासक्त, गरीबी, भूख और दासता का आदी हो जाना, उसे पिछले जन्म के कर्म का प्रतिफल मानना, इसके साथ ही समाज में अपने 'धरम' और 'मरजादा' की रक्षा के लिए अकेले लड़ाई लड़ना। इसी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व में उसका अन्त होता है। यदि एक वाक्य में कहा जाय तो यह है कि वह पैदा हुआ, कष्ट भोगता रहा और मर गया। इस कारूणिक शोकगीत के विरूद्ध प्रेमचंद का एक संदेश है। अपने अन्तिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' (अधूरा) में प्रेमचंद समाज के प्रति सचेत हो जाते हैं और कहते है–"दरिन्दों (शोषक) के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बॉधना पड़ेगा, उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जान पडता है।" शायद इसे वास्तविक होरी की संज्ञा दी जाय तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। प्रेमचंद से पहले जयशंकर 'प्रसाद' भी इसी तरह के विद्रोह और सघर्ष की बात ध्रुवस्वामिनी एवम् अपने अधूरे उपन्यास 'इरावती' के माध्यम से करते हैं।

कला और शिल्प विधान

यदि पाश्चात्य मानकों के आधार पर प्रेमचंद के उपन्यासों की समीक्षा की जाय तो इनमें अनेक कलात्मक त्रुटियां मिलेंगी– प्रथम दोषपूर्ण शिल्पविधान और अति नाटकीय प्रसंगों का आरोप भी लगता है। दूसरा आरोप घटनाओ के विचित्र संयोगों, असम्भव परिस्थितियों, स्थूल हास्य, लम्बे भाषणों और निरर्थक वर्णनो से भी नहीं बच सके हैं। तीसरा आरोप आदर्श एवम् यथार्थवाद के समन्वय को लेकर है क्योंकि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को एक साथ कृति में रखा ही नहीं जा सकता है। इन आरोपों–प्रत्यारोपों के बीच यदि प्रेमचंद के वास्तविक जीवन दृष्टि पर नजर डालें तो यह सच है कि उनको विरासत में ऐसा कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ जिससे उनको प्रेरणा मिलती। उन्हें अपना शिल्प विधान स्वयं में रचना पड़ा। यह सच है कि प्रेमचंद अपने जीवन के युवाकाल में भारतीय एवम् पाश्चात्य लेखकों को बड़े चाव से पढ़ा करते थे और इसका सीधा सा अर्थ है कि इसने उनके जीवन में कुछ

न कुछ प्रभाव अवश्य डाला होगा। यह महत्वपूर्ण है कि प्रेमचद की कला का मूल उद्देश्य न तो चरित्र–चित्रण है और न ही वस्तु संगठन वरन उनका मूल उद्देश्य सुधार करना है। और वे कथावस्तु को दो भागों में विभाजित कर प्रथम में जीवन की व्याख्या करते है, तथा दूसरे मे इसके परिवर्तन पर जोर देते हैं। यही परिवर्तन उनकी कृतियो का मुख्य आधार बनता है। वस्तु सगठन और चरित्र–चित्रण की प्राचीन प्रणाली से उबर नहीं पाते हैं। सामाजिक जीवन की आलोचना के चक्कर में वे अपनी कला की बलि भी चढा देते हैं। आदर्श एवम् यथार्थवाद के बारे में जो आरोप उन पर लगाये गये थे, उसे उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ (1936 ई०) के अपने भाषण में स्पष्ट करने की चेष्टा की आंर कहा कि "मनुष्य गुणों और अवगुणो का समूह है। यहाँ तक कि सूर्य में भी धब्बे हैं। यथार्थवाद में मानव की कमजोरियो का सच्चा चित्र है। यदि कोई लेखक इन कमजोरियों का चित्रण घृणित से घृणित रूप में करेगा तो निश्चय ही मनुष्य की अच्छाई के प्रति विश्वास को तोड़ने का काम करेगा। फिर बुराइयों में बुराइयों के अतिरिक्त और देखा ही क्या जा सकता है?।" इसी तरह से अपने एक मित्र को प्रेमचंद जी ने आकाश में उड़ती हुयी चिड़िया की ओर इशारा करते हुय कहा कि "चिड़ियॉ तो आकाश में उड़ती है परन्तु उसे दाने के लिए पृक्ष्वी पर तो आना ही पडेगा।" यही आदर्श एवम् यथार्थ उनके उपन्यासों एवम कृतियों का आधार है।

कहानियाँ

साहित्य जगत में प्रेमचंद पहले व्यक्ति हैं जो अपनी कहानियों के माध्यम से गॉव की ओर गये और सीधे–सादे ग्रामीणों के जीवन को जो घटनाहीन था कहानी का आधार बनाया। शायद इसी कारण से किसान का मन उनके लिए खुली हुयी किताब के समान है।

कहानी के इतिहासक्रम में यदि झाँक देखा जाय तो प्राचीनता और नूतनता के विकास क्रम में यह किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं रही। भारतीय एवं पाश्चात्य लोगों की दृष्टि में इसकी मौखिकता ही में दम था। मुद्रण के रूप में आने पर इसके विषयवस्तु में परिवर्तन होना लाजिमी था और विकास के क्रम में यह कला का रूप पा गई। डॉ० इन्द्रनाथ मदान प्रेमचंद की कहानियों के संक्षिप्त रूप से सहमत है और इसके लिए प्रेमचंद की कहानी सम्बन्धी धारणा कि उपन्यास एवं कहानी को दो रूप माना जाय में अपनी कोई स्पष्ट धारणा नहीं व्यक्त करते। यदि प्रेमचंद के वास्तविक जीवन को देखा जाय तो वे

पत्रकार और निम्न मध्यवर्ग से सम्बन्धित होने के नाते उपन्यास एवं कहानी में भेद से अनभिज्ञ नहीं थे। उपन्यास को वे उनके लिए उचित मानते थे जिनके पास पर्याप्त अवकाश है। उनकी नजरों में यह पूँजीपति वर्ग हो सकता है एवम् कहानी उनके लिए है जो जीवित रहने लिए संघर्ष कर रहे हैं। प्रेमचंद अपनी कहानियों को चेखव एवम् मोपाँसा से प्रभावित होने के नाते दो भागों में विभाजित करते हैं–

1. चरित्र प्रधान   2. घटना प्रधान कहानियॉ

कथावस्तु एवम् चरित्र–चत्रण में उनकी कहानियों का उद्देश्य सामाजिक रहा है। परन्तु आरम्भिक कहानियों में प्रेमचद चरित्र–चित्रण की अपेक्षा कथावस्तु पर विशेष ध्यान देते हैं। पंचपरमेश्वर से लेकर कफ़न तक के पड़ाव में प्रेमचद ने जीवन के कई उतार चढ़ाव झेले थे। समय के बदलते काल चक्रों ने उन्हें आदर्शवादी से घोर यथार्थवादी बनने पर मजबूर कर दिया। इसलिए 'कफन' कहानी में उन्होंने भूख को मानवीय सम्बन्धों से बढ़कर रखा। यह तीन ऐसे पात्रों की कहानी है जो अपने–अपने वातावरण से नितान्त भिन्न है। घीसू एक व्यक्ति ही नहीं वरन् समाज का बहिष्कृत प्रतिनिधि भी है। इस कड़ी में उसका लड़का माधव सच्चा प्रतिरूप भी है। लेखक के अनुसार वे दोनों घोर आलसी हैं। घीसू का पीडित जीवन उसे भाग्यवादी और जीवन के कठोर दुःखो के कारण उसे उदासीन बना देता है और इसके कारण वे दोनों आलसी हो जाते हैं वे बाहर न जाने के लिए आलू चुराते हैं। नैतिकता की दृष्टि में उनका घोर पतन हो गया है। उनके सामने घोर श्रम करने वालों के पर्याप्त उदाहरण हैं। फिर भी वे लोग उनकी नजरों में उतना नहीं पाते जितना कि मिलना चाहिए। इन उदाहरणों से उन दोनों ने तय किया कि यदि मेहनत करने से भी हम भूखे रहेंगे तो इससे अच्छा है कि वे भूखे ही क्यों न मरें। रात–दिन अपना हाड़–माँस क्यों गलाएं, यह सोचकर वे दोनों सन्तोष कर लेते हैं कि कम से कम उनका शोषण तो नहीं हो रहा। जीवन का यही दृष्टिकोण उन्हें काहिल, लापरवाह, पशु और ह्रदयहीन बना देता है। इसे भाग्य की विडम्बना ही कहा जायेगा कि बुधिया जो घर मे समृद्धि लायी वही प्रसव की वेदना में छटपटा कर मर जाती है और इन दोनों में से उसके पास कोई नहीं जाता है। कफन के पैसों से बाप–बेटा शराब पी लेते हैं और यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि जिसे जीवन भर तन ढ़कने के लिए चिथड़े भी नहीं मिल सके मरने पर नया कफन मिलना उसके साथ उपहास करना होगा। इस कहानी के माध्यम से प्रेमचंद अपने वैयक्तिक जीवन में गाँधीवादी परम्परा से विचलित नजर आते है। यह मोहभंग की स्थिति है।

सामाजिक उद्देश्य

अपने पूर्ववर्ती लेखकों की भाँति प्रेमचंद ने पाठकों के मनोरंजन के लिए कहानी एव उपन्यास की रचना नहीं की, वरन जीवन सम्बन्धी जो गम्भीर समस्यायें थी, उससे वे सर्जनात्मक स्तर पर टकराते हैं। वे ऐसी समाज व्यवस्था का ढ़ॉचा खडा करना चाहते थे, जो समानता और भाईचारे पर टिका हो। प्रेमचंद के उपन्यासों में किसानों एवं मजदूरो में सामतों और जमीन्दारों के खिलाफ एक नैतिक विद्रोह मिलता है। **26** दिसम्बर **1934** में बम्बई से डॉ० इन्द्रनाथ मदान के नाम लिखे पत्र में प्रेमचंद ने समाजवाद के प्रति अपनी अवधारणा स्पष्ट करने की कोशिश की है– "हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है। इसलिए मै सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। अच्छे तरीको के असफल होने पर ही क्रान्ति होती है। मेरा आदर्श है हरेक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुँचा जा सकता है। इसका निर्णय लोगो के आचरण पर निर्भर है। जब हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ सकती। क्रान्ति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा, यह सन्देहास्पद है। हो सकता है कि वह सब प्रकार की व्यक्तिगत स्वाधीनता को छीन कर तानाशाही के घृणित रूप में हमारे सामने आ खडा हो। मैं सुधार के पक्ष में तो हूँ, उसे नष्ट करने के पक्ष में नहीं। यदि मुझे यह विश्वास हो जाता और मैं जान लेता कि नाश से हमें स्वर्ग मिलेगा तो मैनें नाश की भी चिन्ता नहीं की होती।" (पृ० **137**)।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रेमचंद मानव विकास को महत्त्व देते हैं और गाँधीवादी माडल का अनुसरण करते हैं। क्योंकि उन्हें भय था कि पाश्चात्य देशों की भाँति यदि क्रान्ति हमारे यहॉ हुई तो उसका स्वरूप क्या होगा, सहज रूप में अनुमान लगाया जा सकता है। यही कारण है कि प्रेमचंद वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के प्रति लोगों को अपनी कृतियों के माध्यम से सजग करते हैं। प्रेमचंद की दृष्टि में साहित्य के माध्यम से जीवन की गम्भीरतम समस्याओं के विरूद्ध जनमत तैयार करने में सहायता तो मिलती ही है साथ ही मनुष्य एवम् समाज के सम्बन्धों का स्तर भी ऊँचा हो जाता है। इसलिए प्रेमचंद ऐसे सौन्दर्य के पक्षधर नहीं थे जो देखने में सुन्दर लगें, बल्कि ऐसे सौन्दर्य के पक्षधर थे जो जीवन के स्तर को ऊँचा उठा सके। यह पूर्णरूपेण सच है कि प्रेमचंद धरती पर स्वर्ग बनाने की कल्पना में असफल रहे परन्तु उन्होंने उन सभी बुराइयों के विरूद्ध जेहाद अवश्य किया, जो

मनुष्य की उस नवीन समाज व्यवस्था का निर्माण करने से रोकती है, जिसमें कि सबकों समान अवसर मिलता है। इन्हीं सामाजिक सरोकारों से प्रेमचद का मन एवं मस्तिष्क भरा हुआ था और इसी से उनकी कला अनुप्राणित थी।

इस प्रकार डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने प्रेमचंद की रचनाओ की बखूबी चीर–फाड करके प्रेमचंद के असली स्वरूप को उद्घाटित करने की कोशिश की है। उनके मंतव्यो और विचारों को स्पष्ट किया है। और इसमें कोई शक नहीं कि इसमें वे एक हद तक सफल भी हुए हैं। यह एक तरह से प्रेमचंद–साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन है। 'आमुख' में ही आलोचक ने अपनी धारणा को प्रकट कर दिया है : 'कोई भी लेखक, चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, अपने समय की उपज होता है।' उसके अनुसार 'प्रेमचद की कृतियॉ इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि उनमें किसानों और निम्न मध्यवर्ग के लोगों का वर्णन है बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने उनमें अपने युग की प्रतिगामी प्रवृत्तियों का भी विरोध किया है।' डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रेमचद के कथा–साहित्य का नये ढग से विवेचन करता है तथा उसे समझने में सहायक है।

राम स्वरूप चतुर्वेदी

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी नई समीक्षा के समर्थ आलोचक हैं। काव्यभाषा के केन्द्र में रखकर आलोचना करने वाले वे हिंदी के एकमात्र आलोचक हैं। कविता को साहित्य की केन्द्रीय विधा मानने के कारण उनकी आलोचना के केन्द्र बिन्दु कविता है। फिर भी 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' (1986 ई०), 'गद्य की सत्ता' (1977 ई०) तथा 'हिंदी गद्य : विन्यास और विकास' (1996 ई०) में उनका गद्य विषयक विवेचन मिलता है। गद्य की प्रधानता के इस युग में गद्य की प्रकृति को समझने का उपक्रम उपर्युक्त रचनाओं में किया गया है। गद्य – प्रक्रिया को समझने के प्रयास में प्रेमचंद पर एक छोटा सा अध्याय 'हिंदी गद्य : विन्यास और विकास' में है। इसमें उनके प्रेमचंद संबंधी विचारों की झलक मिलती है। प्रस्तुत अध्ययन उसी पर आधारित है।

डॉ० चतुर्वेदी के अनुसार प्रेमचंद का रचनात्मक मूल्यांकन कई कारणों से समस्या पैदा करता है। वे पाठक को जितना सहज है आलोचक को उतना ही मुश्किल। उनकी

कथा कृतियॉ घटना और अनुभव बहुल दोनों हैं। यहीं प्रेमचद आलोचक के लिए मुश्किल बनते हैं। (हिंदी गद्य : विन्यास और विकास', पृ० 250)। आलोचक की कठिनाई का विश्लेषण करते हुए डॉ० चतुर्वेदी कहते हैं कि 'प्रेमचंद अपनी रचना–प्रक्रिया में भाषा का सपूर्णतः दोहन कर लेते हैं, फलतः आलोचक के लिए ऐसी भाषा छवियॉ और संकेत शेष नहीं बचते जिनके सहारे वह उस रचना में आगे अर्थ का सवद्धर्न कर सके।'

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी प्रेमचंद और गाँधी के बीच समानता के सूत्रों को तलाशते है। उनका विचार है कि प्रेमचंद गाँधी के सबसे निकट आते हैं। विचारधारा के स्तर पर वे गॉधी जी से प्रभावित रहे या फिर क्रमशः दूर होते गये, यह एक स्थूल जानकारी की बात है। रचना के क्षण में वे गाँधी के सबसे नजदीकी होते हैं। इसके लिए उन्होंने 'किफायतसारी' को लिया है जो दोनों से विशेष रूप से जुड़ी है। गाँधी जी ने जीवन में किफ़ायतसारी का प्रयोग किया और प्रेमचंद ने अपनी रचना–प्रक्रिया के केन्द्र में किफ़ायतसारी का गुण रखा। इसीलिए उनके यहाँ सामाजिक यथार्थ का चित्रण फैल कर उबाऊ नहीं बनता। 'फलतः वे मजा लेकर यथार्थ का चित्रण नहीं करते, समूचे रचना विधान मे उसका उपयोग करते हैं' (पृ० 251)। प्रेमचंद की भाषा के संबंध में डॉ० चतुर्वेदी की टिप्पणी उल्लेखनीय है :–

'किफ़ायतसारी का आदर्श जैसा प्रेमचंद के यथार्थ चित्रण में है उससे और गहरे धरातल पर उनके भाषिक विधान में है। भाषा का सत अपनी रचना में वे पूरी तरह से निचोड़ लेते हैं।' (पृ० 252)।

डॉ० चतुर्वेदी का निष्कर्ष है कि प्रेमचंद का गद्य विलक्षण है। अँग्रेजी बाइबिल की तरह एकदम सीधा–सरल, पूरा पारदर्शी और सर्जनात्मक।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी गद्य : विन्यास और विकास' लोकभारती प्रकाशन संस्करण 1996) में प्रेमचंद का विवेचन किया है। डॉ० चतुर्वेदी जी की प्रेमचंद के कथा साहित्य पर की गई टिप्पणियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :–

1. प्रेमचंद का गद्य अँग्रेजी बाइबिल की तरह सीधा – सरल पूरा पारदर्शी और सर्जनात्मक है।
2. गाँधी के व्यवहारिक जीवन–दर्शन विशेषकर किफायतसारी के आदर्श का भाषिक–प्रक्रिया में प्रतिफलन।

किसी रचना की महानता उसकी सरलता में छिपी होती है। यही उसकी लोकप्रियता कारण भी होता है जैसे गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमान'। यह एक तरफ सरल है और दूसरी तरफ लोकप्रिय। यही बात प्रेमचंद के संबंध में लागू होती है। वे एक तरफ अत्यत सरल हैं दूसरी तरफ उतने ही लोकप्रिय। लेकिन यही सरलता और लोकप्रियता आलोचक के लिए कठिनाई पैदा करती है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं– ''प्रेमचंद का रचनात्मक मूल्यांकन कई कारणों से समस्या उपस्थित करता है वे पाठक को जितना सहज हैं आलोचक को उतना ही मुश्किल। उनकी कथाकृतियां घटना और अनुभव बहुल दोनों हैं। यहाँ प्रेमचद आलोचक के लिए मुश्किल बनते हैं। यह स्थिति अपने में विडम्बनापूर्ण है कि अनुभव बहुलता के जिस विशिष्ट गुण के लिए पाठक के रूप में वह आभारी था, वही अनुभव बहुलता आलोचक के रूप मे उसके सामने एक सीमा बनाती है'' ('हिंदी गद्य : विन्यास और विकास' पृ० **250**)। प्रेमचद अपने सम्पूर्ण गद्य साहित्य में जन सामान्य के जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों को उठाते हैं और एक – एक शब्द की रचना करते समय उसकी प्रतीकों एवम् बिम्बों के माध्यम से व्याख्या भी करते चलते हैं – 'गोदान' मे होरी–धनिया के दाम्पत्य जीवन के अंश को देखा जा सकता है – ''वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और ह्रदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण–क्षण पर बगूले उठते हैं और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है, और विस्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शांत, जब हम थके हुए पथिकों की भांति दिनभर की यात्रा का वृतांन्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से, मानों हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहॉ नीचे का जनरण हम तक नहीं पहुँचता'' (गोदान, पृ० **1028**)।

द्वितीय प्रकरण में चतुर्वेदी जी ने प्रेमचंद के गॉधीवादी दर्शन विशेषकर उनके व्यवहारिक जीवन में किफायतसारी की बात की है। यह प्रेमचंद की रचनाओं में बहुत गहरे स्तर पर व्याप्त है और उसे वे अंत तक ईमानदारी से निभाते भी हैं। गाँधी जी के प्रेरक प्रसंगों में से है कि किफ़ायतसारी। डॉ० चतुर्वेदी के अनुसार –''कुछ भी अनावश्यक रूप में व्यय नहीं होना है, और छोटे से छोटे उपकरण का भी प्रयोग कर लिया जाना है – यह गाँधी जी का मूल मंत्र था,अपने समय के लिए, देश की अर्थनीति के लिए और राजनैतिक शक्ति के लिए'' (हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास' पृ० **251**)।

प्रेमचंद अपनी रचनाओं में भाषा की किफ़ायतसारी का आदर्श रखते हैं और यहाँ वे गाँधी जी के सबसे निकट हो जाते हैं। भाषा की मित्तव्ययिता को ध्यान में रखकर वे रचना–कर्म में प्रवृत्त होते हैं और इसी के बल पर वे यथार्थ के फैलाव को नियंत्रित करते हैं। प्रेमचंद अपनी भाषा के बल पर पाठकों को सम्मोहित करते चलते हैं परन्तु यही घटना आलोचक के लिए निरापद नहीं प्रतीत होती। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी इस ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि – ''प्रेमचंद अपनी रचना प्रक्रिया में भाषा का सम्पूर्णतः दोहन कर लेते हैं, फलतः ऐसी भाषा छवियाँ, संकेत शेष नहीं बचते जिनके सहारे वह उस रचना में आगे अर्थ का संवर्द्धन कर सकें'' (हिंदी गद्य : विन्यास और विकास – पृ० 250)। लेखक अपनी रचना का सृजन करते समय अपने मन में यह भाव नहीं रखता कि आलोचकों की दृष्टि में यह कैसी होगी। वह समाज का यथार्थ रचता है। चतुर्वेदी जी इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''महात्मा गाँधी बहुत बड़े हैं, मनीषी है, पर रचनाकार का उनसे विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रेमचंद बहुत बड़े रचनाकार हैं, पर आलोचक का उनसे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। यद्यपि कि रचनाकार का पहला दायित्व तो पाठक के प्रति है, और वहाँ वे महान हैं। आलोचक अपनी चिंता स्वयं करेगा।'' (हिंदी गद्य : विन्यास और विकास – पृ० 252)।

यदि भाषा और संवेदना के आधार पर मूल्याकन किया जाये तो प्रेमचंद का 'गोदान' उपन्यास, 'कफ़न' कहानी और 'महाजनी सभ्यता' नामक निबंध (तीनों गद्य रूप मे लिखे गये हैं) का शब्द चयन, वाक्य विन्यास और अर्थ प्रक्रिया में एक दूसरे को छूते काटते चलते हैं। 'गोदान' की कथा में असली गद्य होरी का है जो 'महाजनी सभ्यता' के निबध – गद्य से मेल खाता है। इस बिन्दु पर प्रेमचद का समूचा गद्य एकाकार हो उठता है।

षष्ठ अध्याय :

मार्क्सवादी आलोचना और प्रेमचन्द का रचना–संसार

रामविलास शर्मा

चन्द्रबली सिंह

नामवर सिंह

शिव कुमार मिश्र

रमेश कुन्तल मेघ

मार्क्सवादी आलोचना और प्रेमचन्द का रचना–संसार

प्रमुख आलोचक

रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा प्रेमचन्द के पहले और विशिष्ट आलोचक हैं। इन्होंने प्रेमचन्द पर अपनी पहली पुस्तक 'प्रेमचन्द' (**1941** ई०) नाम से दूसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द और उनका युग' (**1952** ई०) नाम से लिखा है। इन दोनों पुस्तको के सम्यक् अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि प्रेमचन्द का रचना काल **1901** से लेकर **1936** तक फैला हुआ है। उन्होंने स्वय अपनी आरभिक रचनाओं के बारे में लिखा है कि **1901** में उनका पहला उपन्यास और **1904** में दूसरा उपन्यास प्रकाशित हुआ था। **1907** से उन्होंने कहानियॉ लिखनी शुरू की थी। डॉ० शर्मा के शब्दों में 'प्रेमचन्द ने अपना साहित्यिक जीवन एक उपन्यासकार और आलोचक की हैसियत से शुरू किया था।' वे बताते है कि युद्ध–काल ही मे उन्होंने अपना पहला महान उपन्यास 'सेवासदन' लिखा और युद्ध खत्म होने पर 'प्रेमाश्रम' पूरा किया। इस प्रथम महायुद्ध काल से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने से कुछ वर्ष पूर्व तक वे मृत्यु पर्यन्त सृजनरत रहे। यह युग भारत में अंग्रेजी राज के लगभग दो शताब्दियों के शोषण, दमन और विनाश की अंधकारपूर्ण त्रासदी का आखिरी दौर था, जब हमारे देश की जनता राष्ट्रीय नवजागरण के फलस्वरून औपनिवेशिक दासता से आजादी के लिए जद्दोजहद कर रही थी। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण रचनाकाल के समानांतर कभी रूक–रूककर और कभी तेजी से यह स्वाधीनता संग्राम चलता रहा, जिसकी शुरूआत छोटे–मोटे सुधार आंदोलनों के ठीक पहले रूप में **19**वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में हुई थी। लेकिन इन आन्दोलनों के ठीक पहले सन् **1857** का 'गदर' हुआ था, जो हमारी जनता का विदेशी दासता से आजादी का पहला सगठित सशस्त्र प्रयास था। इस गदर की मुख्य शक्ति ब्रिटिश राज में तबाह होते हुए किसान और सैनिक थे। ये सैनिक भी मूलतः वर्दीधारी किसान ही थे।

प्रेमचन्द के रचनाकाल के समानांतर जो स्वाधीनता आदोलन चला उसकी मुख्य शक्ति भी ये ग्रामीण किसान ही थे। जैसे–जैसे इन ग्रामीण किसानों में चेतना का प्रसार होता गया और वे स्वाधीनता आंदोलन में शामिल होते गये, वैसे–वैसे ही हमारा स्वाधीनता आदोलन अधिकाधिक व्यापक, शक्तिशाली और तीव्र होता गया। इस स्वाधीनता आंदोलन की दो बड़ी लहरें, **1920** का असहयोग आंदोलन और **1930** का सविनय अवज्ञा आंदोलनो, प्रेमचन्द के रचनाकाल के दौरान सबसे महत्वपूर्ण दौर है। डॉ० शर्मा के शब्दों में "यहाँ के सामाजिक जीवन में **1920** और **1930** के आंदोलनों से बडे–बड़े परिवर्तन हुए। जो काम **100** उपदेशो से न होते, वे राजनीतिक आंदोलन ने कुछ ही दिनों में कर दिखाये। सदियों के सामाजिक बंधन क्षणों में टूट गये।स्वाधीनता आंदोलन मे शामिल होने वाली जनता के हिस्से थे किसान, अछूत और स्त्रियां। कालांतर में नवोदित मजदूर वर्ग भी स्वाधीनता आदोलन का अंग बनता गया। वस्तुतः किसान मजदूर और अछूत तथा स्त्रियां ही सर्वाधिक शोषण और दमन का शिकार बनी थी। इसलिए इनकी समस्याएं ही उस युग की मुख्य समस्याए और फलतः स्वाधीनता आंदोलन की मुख्य समस्याए थी। इनकी समस्याओं पर स्वाधीनता आंदोलन के नेतृत्व ने जितना ध्यान दिया, आंदोलन उतना ही शक्तिशाली बना। किसानों, अछूतों और स्त्रियों में जागरण पैदा करना गांधीजी की सबसे बड़ी सफलता थी। गाधीजी ने यह बात भी बिलकुल ठीक समझी थी कि भारतीय समाज का मुख्य अंतर्विरोध साम्राज्यवाद और समस्त भारतीय जनता के बीच है।

प्रेमचन्द ने भी साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के बीच उस मुख्य अंतर्विरोध को पहचाना और अग्रेजीराज के खिलाफ जनता के संघर्ष को अपने उपन्यासों और कहानियों की विषयवस्तु बनाया। उनकी महत्ता ये है कि उन्होंने गांधीजी और किसी भी अन्य नेता से पहले किसानों, अछूतों और स्त्रियों की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझा और अपनी रचनाओं में प्रतिबिंबित किया। परवर्तीकाल में उन्होंने नवोदित मजदूर–वर्ग की ओर भी दृष्टिपात किया। इस तथ्य से उनका महत्व और भी बढ़ जाता है कि उन्होंने विदेशी शोषकों. के अलावा भारतीय जनता के देशी शोषकों का भी पर्दाफाश किया तथा इनके खिलाफ मेहनतकश जनता के संघर्ष को चित्रित किया। प्रगतिशील लेखक संघ के स्थापना सम्मेलन में सभापति पद से दिये गये भाषण में स्वयं प्रेमचद ने कहा था कि साहित्यकार 'देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।' डॉ० शर्मा ने प्रेमचन्द–साहित्य के अपने विवेचन में

अत्यंत विस्तार से और बड़े प्रामाणिक ढंग से यह दिखाया है कि प्रेमचंद किस तरह से अपने युग की समझौतापरस्त 'देशभक्ति' और सुधारवादी 'राजनीति' से आगे चलने वाली सच्चाई थे।

डॉ० शर्मा बताते हैं कि 'वह एक युग–निर्माता साहित्यकार थे, केवल साहित्य में युग का नाम लेने वाले नहीं बल्कि अपने समय के सामाजिक को एक नयी गति और एक नयी दिशा प्रदान करने वाले।' जिस समय विधवा–विवाह को भी एक क्रांतिकारी सुधार समझा जाता था, उस समय नारी मात्र की पराधीनता पर उन्होंने 'सेवासदन' लिखा और वेश्यावृति के सामंती आधार को उघाड़कर पाठकों के सामने रख दिया। जिस समय जलियॉवाला बाग और रोलट एक्ट से भारत का पददलित आत्म–सम्मान जाग उठा था, उस समय प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' लिखकर किसानों पर अंग्रेजी राज्य और उसके दलालों के अत्याचार दिखाकर बतलाया कि स्वाधीनता आंदोलन को पूरी ताकत इनकी समस्याओं को लेकर आगे बढ़ने से मिलेगी। जिस समय देश में बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आंदोलन चल रहा था, प्रेमचंद ने 'रगभूमि' में दिखाया कि जनता अब भी लड़ रही है, वह हारी नहीं है, वह जीतेगी। 'गोदान' में उन्होंने पढ़े–लिखे नौजवानों और किसानों की एकता की तरफ संकेत किया और किसानों के महाजनी शोषण का चित्र खींचा, जिसे किसान–आंदोलन में तब जगह न दी गयी थी। उन दिनों जब मंदिर–प्रवेश को अछूत–समस्या हल करने का सबसे बड़ा साधन माना जाता था, उन्होंने 'कर्मभूमि' में अछूत किसानों और खेत–मजदूरो की भूमि–समस्या पर दृष्टि केंद्रित की और उसमें लगानबंदी की लड़ाई को उनकी मुख्य लड़ाई बताया। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में जो संघर्ष, स्वाधीनता आंदोलन के जो रूप दिखाए, वे सब हमारे सामने आये। यह इस बात का सबूत है कि वह देशभक्ति और राजनीति के आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई थे।[1] डॉ० शर्मा ने अपनी गहन अंतर्दृष्टि, सूक्ष्म विश्लेषण और समृद्ध कलात्मक विवेक के साथ प्रेमचंद के इन सभी प्रमुख उपन्यासों का प्रामाणिक और विस्तृत विवेचन किया है। लेकिन इस विवेचन पर विचार करने से पूर्व प्रेमचंद की विचारधारा और उनकी कृतियों से उभरने वाले यथार्थवाद के स्वरूप पर विचार करना बेहतर होगा।

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 157–158

(क) प्रेमचंद की विचारधारा और उनका यथार्थवाद–

किसी भी लेखक या कलाकार की विचारधारा पर विचार करते हुए दो दृष्टियो से विवेचन करना जरूरी होता है। एक तो उस लेखक या कलाकार द्वारा व्यक्त सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विचार यहाँ तक कि भाषा, साहित्य, संस्कृति और सौन्दर्यशास्त्रीय विचार भी। दूसरे उस लेखक या कलाकार की कृतियों में से उभरने वाली विचारधारा। दोनों मे सगति एक सुखद संयोग होता है। लेकिन अक्सर दोनो के बीच एक तरह के द्वंद्व का सृजनात्मक तनाव भी रहता है। बड़े से बड़ा लेखक इसका अपवाद नहीं होता। इसकी सर्वोत्कृष्ट मिसाल बॉलजाक, टाल्सटॉय और गोर्की कहे जा सकते है। महान् लेखक अपनी रचनाओं में अपनी विचारधारा के अनेक अंतर्विरोधों का समाधान पा जाते हैं। इसलिए लेखक की घोषित विचारधारा की तुलना में उसकी रचनाओं में से उभरने वाले विश्व–दृष्टिकोण को अधिक विश्वसनीय माना जाता है। डॉ० शर्मा भी मानते है कि लेखक या कलाकार अपने विचारों को व्यक्त तो करता है, "किन्तु कलाकार केवल विचार नहीं देता, वह जीवन–चित्र देता है। जो बात उसके विचारों से प्रकट नहीं होती वह उसके कथाचित्रों से प्रकट होती है।[1] इसलिए राजशाही के समर्थक बॉलजाक अभिजात का पतन और उभरते हुए नए वर्गो की विजय चित्रित कर सके। इसीलिए तोल्सतोय अपनी 'निष्क्रिय प्रतिरोध' की धारणाओं के बावजूद रूसी जनता के सक्रिय प्रतिरोध के अनुपम चित्र दे सके तथा अपने निराशावाद और धर्मवाद के बावजूद लेनिन के शब्दों में 'रूसी क्रांति के दर्पण' बन सके। गोर्की अपने नये धर्मवाद और अस्पष्ट मानवतावाद के बावजूद समाजवादी यथार्थवाद के अग्रदूत बन सके। जार्ज लुकाच ने बॉलजाक के उपन्यास 'दि पीजेंट्स' का विवेचन करते हुए लेखक की विचारधारा पर उसके विश्व–दृष्टिकोण की विजय इन शब्दो में व्यक्त की है: "इस उपन्यास (दि पीजेंट्स) में बॉलजाक चाहते तो थे कि फ्रांस के मरणोन्मुख भूस्वामी अभिजात वर्ग की त्रासदी को प्रस्तुत करे। लेकिन अपनी पूरी तैयारी और योजना के बावजूद इस उपन्यास में बॉलजाक की सृजनात्मक प्रतिभा ने ऐसी दिशा ली जो उनके इरादे के विपरीत थी। बॉलजाक ने त्रासदी का चित्रण अवश्य किया लेकिन यह दुखान्त था अभिजात वर्ग की भू–सम्पत्ति का नहीं बल्कि छोटे किसान वर्ग की जोत का। इरादे और परिणाम के या दूसरे

[1] उपर्युक्त, पृ० 164

शब्दों में राजनीतिक विचारक बॉलजाक और "ला कामेडी ह्यूमेन के लेखक बॉलजाक के बीच का यह अंतर ही कलाकार के रूप में बॉलजाक की ऐतिहासिक महानता की कुंजी है।[1] लेकिन इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि महान् लेखक इस फॉक के बावजूद महान् होता है, महानता के लिए यह फॉक, यह अंतर्विरोध अनिवार्य नही होता।

प्रेमचंद के समाज–दर्शन पर उनकी साहित्यिक सवेदना की निरंतर विजय का इतिहास उनके विश्व–दृष्टिकोण के विकास का इतिहास है। वे आर्य समाज से शुरू करके प्रगतिशील लेखक संघ के स्थापना सम्मेलन की अध्यक्षता और 'महान सभ्यता' जैसे लेख तक पहुँचते हैं। डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद ने अपने साहित्य का उद्देश्य घोषित किया था–स्वतंत्रता–प्राप्ति। वह स्वाधीनता–संग्राम के सैनिक साहित्यकार थे। इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रेमचंद में वैसे अंतर्विरोध नहीं थे, जैसे बॉलजाक या टाल्सटॉय में। डॉ० नामवर सिह इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि 'प्रेमचद में अंतर्विरोध थे, पर उनके युग के अन्य लेखकों, उदाहरणार्थ आचार्य रामचंद शुक्ल और निराला से कम। उनमें अतर्विरोध अपेक्षाकृत कम ही नहीं है, बल्कि ऐसे अंतर्विरोध भी नहीं है, जो भारतीय समाज मे बद्धमूल है। वे बताते हैं कि "प्रेमचंद ने टालस्टॉय और गोर्की दोनों को पढ़ा था। उन पर दोनों का प्रभाव देखा जाता है, लेकिन यह भुला दिया जाता है कि वे दोनों महान् लेखकों के अंतर्विरोधों से मुक्त थे।"[2] टाल्सटॉय का विकास उन्मुक्त जीवन–दृष्टि से धार्मिक आस्था की ओर हुआ था, जबकि प्रेमचंद आर्य समाज से शुरू करके मार्क्सवादी लेखकों द्वारा आयोजित प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन की अध्यक्षता तक पहुँचे थे। इसी तरह गोर्की समाजवादी यथार्थवाद के संस्थापकों में से थे, लेकिन वे लंबे अर्से तक एक नये ईश्वर की तलाश में रहे, जिसके चलते लेनिन को उनका विरोध करना पड़ा था। प्रेमचंद में इस तरह का कोई अंतर्विरोध नहीं मिलता। ऐसे नहीं, लेकिन फिर भी कुछ अंतर्विरोध तो प्रेमचंद में भी थे ही। डॉ० शर्मा ने अपने विवेचन में उनका उल्लेख भी किया है।

प्रेमचंद का न तो व्यक्तित्व बहुत सरल और समतल था और न ही उनका साहित्य। प्रेमचंद के अंतर्विरोधों का अस्तित्व स्वीकार करते हुए डॉ० शर्मा इस तथ्य की ओर भी संकेत करते हैं कि 'हर आदमी में अंतर्विरोध होते है।' अंतर्विरोध न हों तो उनका व्यक्तित्व गतिशील न होकर स्थिर और जड़ हो जाये। जब अंतर्विरोध एक हद तक संतुलित रहते हैं

[1] जार्ज लकाच, 'यूरोपियन रियलिज्म' (मर्लिन) पृ० 21
[2] जनयुग (प्रेमचद विशेषाक), 23 मार्च, 1980

तब वे गतिशीलता प्रदान करते हैं, जब उनका असंतुलन सीमा पार कर जाता है, तब व्यक्तित्व भीतर से टूट जाता है।[1] प्रेमचंद की विचारधारा निरतर विकासशील दिखायी देती हैं। वे जिस बुलदी पर पहुँचते है वहाँ अनेक अंतर्विरोधों और असगतियों को पार करते हुए पहुँचते है। अपने जीवन के अतिम दौर में वे मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट आदोलन के एकदम करीब थे। सोवियत संघ और विश्व–शांति से प्रेम तथा मजदूर–किसान एकता के बल पर एक नये स्वाधीन समाजवादी भारत का स्वप्न उनमें साफ तौर से झलकते है। लेकिन ये सब बातें बहुत धीरे–धीरे स्पष्ट होकर सामने आयी हैं।' डॉ० शर्मा के अनुसार वह एक तरफ धार्मिक अंधविश्वासों के कट्टर आलोचक थे, दूसरी तरफ पुनर्जन्म, भूत–प्रेत और भाग्य पर विश्वास की ओर भी झुकते थे। प्रेमचंद के व्यक्तित्व के ये अतर्विरोध भारतीय समाज की तत्कालीन परिस्थियों से उत्पन्न होते हैं। इसी तरह वे प्रेमचद के साहित्य संबंधी विचारों मे भी कतिपय असंगतियों की ओर संकेत करते है। मिसाल के लिए प्रेमचंद द्वारा मनोभावों को अपरिवर्तनशील मानना और अपने एक निबध में 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त को निरापद बतलाना। ऐसी धारणा के संबंध में डॉ० शर्मा ने लिखा है कि स्वय प्रेमचंद का समूचा साहित्य इस धारणा का खंडन करता है। प्रेमचंद के विचार–जगत और उनके कथा–साहित्य में ऐसा द्वंद्व तो मिलता है, लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि "इस द्वंद्व को वह विचार–जगत में उतना हल नहीं कर पाये जितना अपने कथा–साहित्य के रचनात्मक संसार में।"[2] स्वयं डॉ० शर्मा के विवेचन से पता चलता है कि कैसे प्रेमचद धीरे–धीरे अपने विचार–जगत में भी इस द्वंद्व को सफलतापूर्वक हल कर रहे थे।

साहित्य की व्याख्या करते हुए प्रेमचंद ने लिखा था कि 'साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ मिनार और गुंबद बनते हैं, लेकिन बुनियादी मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। अपने 'जीवन में साहित्य का स्थान' शीषर्क इस निबंध में उन्होंने 'साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है' घोषित करके यह भी लिखा है कि साहित्कार बहुधा अपने देश–काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश–बंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और अपनी इस मार्मिक

---

[1] 'प्रेमचद और उनका युग', पृ० 185
[2] उपर्युक्त, पृ० 140

अनुभूति की व्यापकता के कारण "वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"[1] इसी निबध में प्रेमचंद ने भावों के परिमार्जन को वांछनीय बताकर न केवल मनोभावों की परिवर्तनशीलता स्वीकार की है, बल्कि उसे 'वांछनीय' भी माना है।

अपने लखनऊ वाले अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' बताकर एक ओर जहाँ रीतिवादी सस्कारों का खंडन किया था, वहीं दूसरी ओर रहस्यवाद और भाववाद पर भी चोट की थी। स्वय प्रेमचंद के शब्दों में 'कला नाम था और अब भी है संकुचित रूप–पूजा का, शब्द–योजना का, भाव–निबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्दंश्य नहीं है– भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ है।' इसके विपरीत वे घोषित करते हैं कि 'मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं ओर चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।' इसलिए वे सुंदरता की कसौटी बदलने का आवाहन करते है। उन्हीं के शब्दों में 'हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चितन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन मे सच्चाइयों का प्रकाश हो–जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।' डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचद का यह भाषण उनके निबंधों और भावनों में ही श्रेष्ठ नहीं था। हिन्दी और उर्दू में प्रगतिशील साहित्य पर जितने भाषण और निबध लिखे–पढ़े गये हैं, सभी में उसका अन्यतम स्थान है। इस भाषण में अनेक सामती और पूँजीवादी साहित्य–सिद्धान्तों के साथ ही 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त का भी जोरदार खंडन मिलता है।

डॉ० शर्मा बताते है कि भारतेन्दु से लेकर प्रेमचंद तक हिंदी–साहित्य की परम्परा में यह बात ध्याान देने की है कि हमारे साहित्यकार पत्रकार भी थे। प्रेमचंद की पत्रकारिता का मूल्यांकन करते हुए वे कहते हैं कि यह पत्रकारिता एक सजग और लड़ाकू पत्रकारिता थी, जो देश–विदेश के घटना–क्रम में दखल देती थी, जनता के जीवन और साहित्यकार के परस्पर संबंध को मजबूत करती थी। जब गांधीजी ने बिहार में आये भूकंप का कारण पाप को बतलाया तो प्रेमचंद ने 'हंस' में संपादकीय टिप्पणी लिखकर इस अंधविश्वास का विरोध किया और कहा कि "भूकंप किसी पाप–पुण्य के कारण नहीं हुआ, वह प्रकृति की एक लीला

---

[1] प्रेमचद, 'मगल–सूत्र व अन्य रचनाएँ पृ० 185, 188 एव 190

है और भूगर्भ की वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक परिणाम है।"[1] 'प्रेमाश्रम' में उन्होंने अन्याय का दमन करने में सत्याग्रह के सिद्धांत को भ्रांतिपूर्ण ही सिद्ध नहीं किया था, दुखरन भगत से शालिग्राम की बटिया भी फिकवा दी थी। इसी उपन्यास मे उन्होंने रूसी, बलगारी क्रांतियों की सूचना ही नहीं दी थी, बल्कि फरवरी 1919 के 'जमाना' में अपने एक लेख में यह भी लिखा था कि आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है। दुनिया की रफ्तार उसका साफ़ सबूत दे रही है। पाठकों को रूसी क्रांति का परिचय देने के बाद उन्होंने लिखा था कि "इंकलाब से पहले कौन जानता था कि रूस की पीड़ित जनता में इतनी ताकत छिपी हुई है? अपने इसी लेख में वे भारत की परिस्थिति का उल्लेख करते हुए कहते है कि "क्या यह शर्म की बात नहीं कि जिस देश में नब्बे फीसदी आबादी किसानों की हों उस देश में कोई किसान–सभा, कोई किसानों की भलाई का आंदोलन, कोई खेती का विद्यालय, किसानों की भलाई का कोई व्यवस्थित प्रभाव न हा।"[2] किसानों के प्रति यह भाव हम प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचद शुक्ल और निराला में भी पाते है।

प्रेमचंद ने जनता को प्रथम समाजवादी क्रांति से परिचित ही नहीं कराया था, बल्कि 'जमाना' के संपादक दयानारायण निगम को 1919 में यह भी सूचित किया था कि ' मैं अब करीब–करीब बोल्शेविक उसूलों का कायल हो गया हूँ।' निगम जी को ही एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि "मैं तो उस आने वाली पार्टी मेंबर का हूँ जो कोतहुन्नास (छोटे लोगों) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर उल–अमल बनाये।"[3] प्रेमचंद ने 'सोवियत रूस में प्रकाशक और रूसी साहित्य और हिंदी' जैसी टिप्पणियाँ लिखकर समाजवादी क्रांति के बाद सोवियत संघ में आये परिवर्तनों से जनता को परिचित कराया था। अपनी दूसरी टिप्पणी के अत में उन्होंने लिखा था कि 'जिन लेखकों ने रूस को उस मार्ग पर लगाया, जिस पर चलकर आज वह दुखी संसार के लिए आदर्श बना हुआ है, उनकी रचनाएँ क्यों न आदर पाएँ? प्रेमचंद ने अमेरिका में कृषक विद्रोह के बारे में, युद्ध के खिलाफ, जापानी सैनिकवाद के खिलाफ और फासीवाद–हिटलरवाद के खिलाफ टिप्पणियाँ और लेख लिखकर अपनी अतराष्ट्रीय समझ का परिचय दिया है। इसके अलावा उन्होंने भारतीय जनता की गरीबी, उसके साम्राज्यवादी शोषण, अंग्रेजीराज के दमन और प्रेस–सेसरशिप के खिलाफ भी निरंतर लिखा था।

---

[1] हस', (जनवरी, 1934)
[2] 'विविध प्रसग' (खण्ड–1), पृ० 268
[3] चिटठी–पत्री (खण्ड 1), पृ० 93 एव 130

अपने अंतिम लेख 'महाजनी सभ्यता' में उन्होंने पूँजीवादी महाजनी सभ्यता का बडी निर्ममता के साथ पर्दाफाश करते हुए सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था के बारे में लिखा था, 'परन्तु अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम में उदय हो रहा है, जिसने इस नारकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोद कर फेंक दी है' और इसी नयी सभ्यता ने व्यक्ति–स्वातंत्र्य के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिये हैं। उसके राज्य में अब एक पूँजीपति लाखों मजदूरों का खून पीकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आजादी नहीं कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, दूसरे अपने माल की खपत कराने के लिए युद्ध करा दे, गोला–बारूद और युद्ध–सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दमन कराये।' सोवियत संघ की समाजवादी व्यवस्था का संबंध भारत से जोड़ते हुए इस लेख का समापन प्रेमचंद इस प्रकार से करते है, "जो शासन–विधान और समाज–व्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है, वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, जन–साधारण को बहकावेंगे, उनकी आँखों में धूल झोंकेगे, पर जो सत्य है एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी।"[1] यह लेख प्रेमचंद न अपनी मृत्यु से कुछ ही दिन पूर्व लिखा था, जो हंस के सितम्बर **1936** के अंक में छपा था।

प्रेमचंद ने इन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्य–सम्बन्धी विचारों के साथ ही डॉ० शर्मा ने इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाया है कि प्रेमचंद ने अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्व को साम्राज्यवादी प्रभुत्व का ही अटूट अंग बताते हुए लिखा था कि 'अंग्रेजी राजनीति, का व्यापार का, साम्राज्यवाद का हमारे ऊपर जैसा आतंक है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते है, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए है। 'प्रेमचंद हिन्दी–उर्दू को एक भाषा मानते थे और उन्होंने धर्म को भाषा का आधार मानने के अवैज्ञानिक सिद्धांत का खंडन किया था। डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद ने अपने अमल से दिखलाया कि साहित्य का जातीय रूप समृद्ध करने से, उसमें जनवादी विचारों का समावेश करने से, भाषा की समस्या हल करने में मदद मिलती है। प्रेमचंद की इस विविधतापूर्ण और विराट विचार–जगत के साथ उनके कथा–साहित्य को मिलाकर देखने से उनकी जो मुकम्मिल तस्वीर उभरती है, उससे डॉ० शर्मा का यह कथन एकदम सही प्रतीत होता है कि

---

[1] मगल–सूत्र व अन्य रचनाएँ, पृ० 195–97

"प्रेमचद का व्यक्तित्व असाधारण था। उन्होंने न केवल हिदी–उर्दू मे, वरन् समग्र भारतीय साहित्य में एक जबर्दस्त क्रांति की। भारत के बाहर यदि रूस, ब्रिटेन या फ्रांस के कथाकारों को लें तो किसानों के जीवन का चित्रण करने में उनका सानी नहीं है।"[1] इस कथन से प्रेमचंद की महानता और उनके वैशिष्ट्य की झलक भली–भाँति मिल जाती है।

डॉ० शर्मा ने 'प्रेमचद और उनका युग' के तीसरे सस्करण (1965) में 'समस्याएँ' शीर्षक जो नया अध्याय जोड़ा उसमें प्रेमचंद, टाल्सटॉय पथ और गांधीवाद की चर्चा की गयी है। इसमें मुख्य समस्या यह है कि 'प्रेमचंद, महात्मा गाधी, टाल्सटाँय इनकी विचारधारा का आपस में क्या संबंध है?' डॉ० शर्मा के अनुसार ऊपर से देखने पर इन तीनों की विचारधारा में बड़ा गहरा संबंध लगता है, क्योंकि गांधीजी टाल्सटॉय से प्रभावित थे और प्रेमचद पर गांधीजी के जीवन और विचारधारा का प्रभाव होना ही चाहिए। टाल्सटॉय और गाधीजी के विचारों का विस्तार से परिचय देने के बाद डॉ० शर्मा बताते हैं कि कथाकार टाल्सटॉय धर्माचार्यों के कटु आलोचक हैं, वह नारी की गरिमा के चितेरे हैं, वह रूसी जनता के सक्रिय प्रतिरोध का अनुपम चित्र खींचने वाले कलाकार है। इससे वह गांधीजी और प्रेमचद दोनों के बहुत निकट है। राजनीति से पराङ्मुख, स्त्री पराधीनता के हामी, धर्म के समर्थक, अहिंसावाद के पुजारी विचारक टाल्सटॉय से गांधीजी काफी दूर हैं, प्रेमचंद और भी दूर। डॉ० शर्मा के अनुसार गांधीजी का सकारात्मक पहलू यह था कि वे अपने अहिंसावाद के कारण करोड़ो आदमियों को राजनीतिक जीवन में खींच लाये और उनकी विचारधारा और कार्यनीति का प्रतिक्रियावादी पक्ष वह है जहाँ वह किसानों को सामंतविरोधी संघर्ष से रोकते हैं तथा इसके अलावा गांधीजी मजदूर–संघर्ष को भी शक की निगाह से देखते थे। इसके विपरीत प्रेमचंद इस सघर्ष को रोकना तो दूर, उनका स्वागत करने वाले लेखक थे। यह गांधीवाद और प्रेमचंद–साहित्य का मुख्य भेद है। डॉ०शर्मा के शब्दों में 'प्रेमचंद–साहित्य में किसानों की सीधी टक्कर अंग्रेजीराज से कम होती है। उनकी सीधी टक्कर होती है महाजनों, सूदखोरों, जमीदारों और पंडे–पुरोहितों से। अंग्रेजीराज इनके सहायक के रूप में आता है। प्रेमचंद की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे भारतीय समाज के अंदरूनी संघर्ष को समझते थे, उस पर पाठकों का ध्यान केन्द्रित करते थे, इस संघर्ष से साम्राज्य विरोधी संग्राम का संबंध जोड़ते थे।' वे आगे लिखते हैं कि 'सामंत–वर्ग की सबसे निर्मम आलोचना भी प्रेमचंद ने की है। वह न केवल मजदूर–वर्ग की हिमायत करते थे वरन् अपने को भी

---

[1]प्रमचद आर उनका युग, पृ० 181

मजदूर कहते थे।' इसके साथ ही वे इस महत्वपूर्ण तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि प्रेमचद की विचारधारा पर भौतिकवाद का गहरा असर था।"[1] इस तरह, अपनी विकास यात्रा के अतिम चरण में वे कम्युनिस्टों के बहुत करीब चले आये थे।

अमृतराय–लिखित प्रेमचंद की जीवनी 'कलम का सिपाही' की आलोचना करते हुए डॉ० शर्मा ने लिखा है कि प्रेमचंद का 'साहित्य–सृजन अधिकतर सोवियत क्राति के बाद के युग में हुआ जब हमारे राष्ट्रीय आंदोलन पर समाजवादी विचारधारा का गहरा असर पडा। कितु सन् 1917 से पहले और बाद को उन्होंने जो साहित्य रचा, उसके सूत्र अलग न होकर आपस में जुड़े हुए हैं। उन्होंने रूढ़िवाद के विरोध में अपना संघर्ष पहले से ही आरंभ कर दिया था, उस संघर्ष में विकास हुआ, किन्तु उसका सुत्रपात सन् 1917 से पहले ही हो चुका था।' प्रेमचंद के अपने संपूर्ण मूल्यांकन का जैसे निचोड प्रस्तुत करते हुए डॉ० शर्मा ने उनके विश्व–दृष्टिकोण के बारे में लिखा है कि "प्रेमचंद जिस विचार–भूमि से समाज के भीतरी द्वंद्व को देखते थे, वह साधारण खाते–पीते किसान की हैं। जिंदगी ने उन्हें देहात के सर्वहारा वर्ग के नजदीक ला पटका। उनकी विचारधारा पर सर्वहारा वर्ग न केवल देहाती, वरन् शहरी सर्वहारा वर्ग की नयी चेतना का रंग भी चढ़ा हुआ है।"[2] डॉ०शर्मा ने यांत्रिक ढंग से प्रेमचद के 'वर्ग का निर्धारण' करके कोई फैसला सुना देने की बजाय यह सही खाका खींचा है।

मानव–सभ्यता के उषाकाल से ही मनुष्य ने यथार्थ के प्रति अपनी सहज स्वाभाविक रूझान का परिचय दिया है। लेकिन 'यथार्थवाद' का आंदोलन 19वीं शताब्दीं के उत्तरार्द्ध से अस्तित्व मे आया। इस दृष्टि से होमर, शेक्सपियर, सर्वेंतीस या बाल्मीकी, तुलसी और कबीर आदि का कृतित्व यथार्थ के प्रति परिष्कृत और स्वाभाविक कलात्मक अभिरूचि तो प्रदर्शित करता है लेकिन ये महान रचनाकार 'यथार्थवाद' के किसी आंदोलन के अंग नहीं थे। मार्क्सवादी साहित्य–चिंतन में इस क्लासिकल साहित्य के संश्लिष्ट और स्वतः स्फूर्त यथार्थवाद के अलावा यथार्थवाद की दो कोटियाँ बतलायी गयी हैं आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद। मिसाल के लिए बॉलजाक, टाल्सटॉय, चेखव और गोगोल आलोचनात्मक यथार्थवादी रचनाकार माने जाते हैं और गोर्की को समाजवादी यथार्थवाद का अग्रदूत कहा जाता है। डॉ० शर्मा ने प्रेमचंद को न तो आलोचनात्मक यथार्थवादी कहा है

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 165, 166 एव 187
[2] उपर्युक्त, पृ० 187

और न ही उन्हें समाजवादी यथार्थवाद का रचनाकार माना है। स्वयं उन्हीं के शब्दों मे "प्रेमचद बहुत–सी अंसंगतियों के बीच से गुजरते हुए क्रांतिकारी यथार्थवाद की तरफ आ रहे थे–एक ऐसे यथार्थवाद की तरफ, जो जीवन का सही चित्र देते हुए पाठक में अपने जीवन की परिस्थितियों को बदलने की, एक नया जानवादी और स्वाधीन जीवन–निर्माण करने की प्रेरणा भी दे।"[1] अपने 'प्रेमचंद और यथार्थवाद' शीर्षक निबध में डॉ० शर्मा ने प्रेमचंद के सघर्षशील नायकों को 'पाजीटिव हीरो' कहा है।"[2] 'पाजीटिव हीरो' की यह अवधारणा समाजवादी यथार्थवाद का अभिन्न अग मानी जाती है।

डॉ० शर्मा के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा आभास मिलता है कि प्रेमचंद का 'क्रांतिकारी यथार्थवाद' समाजवादी यथार्थवाद की ओर तेजी से अग्रसर एक ऐसा नया यथार्थवाद है जो आलोचनात्मक यथार्थवाद की सीमाओं को बहुत पीछे छोड चुका है। डॉ० शर्मा द्वारा किये गये प्रेमचद के समग्र मूल्यांकन से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचद–साहित्य की व्यावहारिक आलोचना के क्रम में ही डॉ० शर्मा अत्यंत महत्वपूर्ण सैद्धातिक निष्कर्ष भी देते है। यह बात उचित भी है, क्योंकि मूल्यांकन के प्रतिमान न तो बने बनाये ढाँचे की तरह होते है और न ही ऐसे हो सकते हैं। वे स्वयं उस सृजनात्मक साहित्य के भीतर से उभरते हैं जिसका मूल्यांकन किया जाता है। प्रेमचंद के यथार्थवाद पर विचार करते हुए डॉ०शर्मा ने यथार्थवाद की जिस नयी कांटि क्रांतिकारी यथार्थवाद को सूत्रबद्ध किया है, वह मार्क्सवादी आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र के शस्त्रागार में एक नया अस्त्र है, एक नया सर्जनात्मक और क्रांतिकारी योगदान है।

प्रेमचंद को प्रायः स्वाधीनता आंदोलन का कथाकार कहा जाता है। इसका श्रेय डॉ० रामविलास शर्मा के प्रेमचंद–मूल्यांकन को ही है। डॉ०शर्मा ने प्रेमचंद के उपन्यासों का मूल्याकन करते हुए एक ओर जहाँ उनकी मूल अंतर्वस्तु को उभारकर सामने रखा है, वहीं दूसरी ओर वे उनका संबंध उस समय चल रहे भारतीय जनता के बेमिसाल राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम से भी जोड़ते हैं। उपन्यासों में केंद्रीय समस्या को सामने लाते हुए वे उस समस्या और उससे संबंधित लोगो, वर्गो, समुदायों की सामाजिक स्थिति पर इस तरह रोशनी डालते हैं कि स्वाधीनता आंदोलन में शामिल विभिन्न वर्गो और समुदायों को अपनी वर्गीय और सामाजिक स्थिति का भी उससे संबंध जुड़ जाता है। उपन्यास की विषय–वस्तु

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 137–138

[2] रामविलास शर्मा, कथा विवेचना और गद्यशिल्प, पृ० 13

चाहे जो हो, उसकी केंद्रीय समस्या चाहे जो हो, लेकिन प्रेमचद जैसे अपने प्रत्येक उपन्यास की गाथा स्वाधीनता आंदोलन की पृष्ठभूमि पर ही चित्रित करते हैं। उनके हरेक उपन्यास की कथा के भीतर से आजादी की लड़ाई का सुनहरा तार उवश्य झिलमिलाता हुआ गुजरता है, जैसे उसके चित्रण के बगैर प्रेमचद उपन्यास लिख ही नही सकते थे।

डॉ० शर्मा द्वारा किया गया प्रेमचंद के अलग–अलग उपन्यासों का विश्लेषण इसी तथ्य को रेखांकित करता है। 'सेवासदन' की नारी मुक्ति की समस्या, 'प्रेमाश्रम' की लगान की समस्या, 'रंगभूमि' की जमीन समस्या, 'कर्मभूमि' की अछूत किसानों और खेतमजदूरों की भूमि–समस्या तथा 'गोदान' की महाजनी–जमींदारी कर्ज की समस्या इन सभी का संबंध स्वाधीनता आंदोलन से जाकर जुड़ जाता है। इसके लिए प्रेमचद के अलग–अलग उपन्यासों के डॉ०शर्मा द्वारा किये गये मूल्यांकन का विवेचन कुछ विस्तार से करने को जरूरत है।

'सेवासदन'

प्रेमचंद का हिन्दी में प्रकाशित पहला उपन्यास 'सेवासदन' है। डॉ० शर्मा ने इस उपन्यास से हिन्दी उपन्यासों में एक नये यथार्थवाद का आरभ माना है।'[1] इस उपन्यास के संदर्भ में दो तरह के भ्रम प्रचलित रहे हैं। पहला यह कि प्रेमचंद के इस उपन्यास से पहले देवकीनदन खत्री के तिलिस्मी और ऐय्यारी उपन्यासों के अलावा हिन्दी में और कुछ नहीं था। दूसरा यह कि 'सेवासदन' की कहानी मुख्यतः वेश्या–जीवन की कहानी है। डॉ० शर्मा के अनुसारन ये दोनों ही बातें गलत हैं।

पहली बात के संदर्भ में डॉ० शर्मा बताते हैं कि 'सेवासदन' से पहले हिन्दी कथा–साहित्य की एक परंपरा कायम हो रही थी जिस पर ध्यान देने से 'सेवासदन' उसी का एक अगला बढ़ा हुआ कदम मालूम होता है। डॉ० शर्मा के अनुसार 'भारतेन्दु युग के बहुत से निबंध चरित्र–चित्रण और कथोपकथन की दृष्टि से उपन्यास की सीमा को छूते हुए दिखायी देते है। खासकर उनके व्यंग और हास्य में, सजीव शैली में और सामाजिक समस्याओं की छानबीन में प्रेमचंद के उपन्यासों से बहुत बड़ी समानता दिखाई देती है।' इस प्रसंग में भारतेन्दु युग के लेखकों के उपन्यास की सीमा को छूने वाले कुछ निबंधों का

[1] रामविलास शर्मा, 'प्रेमचद और उनका युग' पृ० 35

उल्लेख करने के बाद बताते हैं कि "वर्तमान समाज में शिक्षा की बिडबना, धार्मिक पाखंड द्वारा समाज–सुधार का विरोध, अग्रेज शासकों द्वारा जनता का उत्पीड़न इन निबंधों के विषय हैं।"[1] प्रेमचंद के कथा–साहित्य में भी घूम–फिरकर मुख्यतः यही विषय आते हैं।

उपन्यास की सीमा छूने वाले निबंधों के अलावा भारतेन्दु युग में ऐसे सामाजिक उपन्यासों का भी सूत्रपात हो चुका था जो भाषा और चरित्र–चित्रण की स्वाभाविकता में अपनी उपदेशात्मकता के बावजूद आकर्षित करते हैं। इन सामाजिक उपन्यासों की परंपरा के सपन्न धरातल से ही प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों का उठाया था। डॉ०शर्मा ने इन तथ्यों को रेखांकित करने के बाद ही विस्तार से इस उपन्यास का विवेचन करते हुए यह दिखलाया है कि प्रेमचंद किस नये यथार्थवाद का सूत्रपात कर रहे थे। डॉ० शर्मा के अनुसार "बीसवीं सदी के भारतीय समाज में धीरे–धीरे एक परिवर्तन हो रहा था। साम्राज्यवादी सामंती जुए के नीचे जनता कसमसाने लगी थी और समाज का सबसे दलित अंग नारी राष्ट्रीय पराधीनता और घरेलू दासता, दोनो में पिसती हुई नारी स्वाधीनता के लिए हाथ फैलाने लगी थी। प्रेमचंद ने सबसे पहले इस परिवर्तन को देखा, उसका स्वागत किया था उसे बढावा दिया था।"[2] यही वह नया यथार्थवाद था जिसका चित्रण प्रेमचंद जैसी तीक्ष्ण अर्तदृष्टि और अपूर्व कलात्मक क्षमता के साथ उनसे पहले ही नहीं उनके बाद भी किसी अन्य लेखक ने नहीं किया।

प्रेमचंद का यह नया यथार्थवादी दृष्टिकोण और उसे चित्रित करने की उनकी कलात्मक क्षमता ही उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा आधार है। भारतेन्दु युग के निबंधों और उपन्यासों के पढ़ने वाले बहुत थोड़ी संख्या में थे। चंद्रकाता और 'तिलिस्म होशरूबा' के पढने वाले लाखों थे। प्रेमचंद ने इन लाखों पाठकों को सेवासदन का पाठक बनाया, यह उनका युगान्तरकारी काम था। डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद ने 'चंद्रकांता' के पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, चंद्रकांता में अरूचि भी पैदा की, जन–रूचि के लिए उन्होंने नये माप–दंड कायम किये और साहित्य के नये पाठक–पाठिकाएँ पैदा कीं। यह उनकी जबरदस्त सफलता थी। प्रेमचंद की इस सफलता के पीछे उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ ही लगभग डेढ़ दशक का उपन्यास–लेखन का उनका सृजनात्मक अभ्यास भी था। 'सेवासदन' उनका पहला हिन्दी उपन्यास है पर वह एक मँजी हुई कलम की रचना है।

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 30
[2] उपर्युक्त, पृ० 37

दूसरी समस्या का संबंध उपन्यास की अंतर्वस्तु से है। डॉ० शर्मा के अनुसार 'सेवासदन' की अंतर्वस्तु वेश्या–जीवन का चित्रण नहीं बल्कि भारतीय नारी की पराधीनता और उसके खिलाफ संघर्ष का चित्रण करना है। डॉ० शर्मा लिखते हैं कि "प्रेमचंद ने किस तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परंपराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निष्ठुर और वीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।"[1] नारी की पराधीनता के खिलाफ संघर्ष मे प्रमचंद के साथ ही डॉ० शर्मा तमिलनाडु के महाकवि सुब्रह्मण्यम भारती और तेलुगु साहित्य के भारतेन्दु वीरेशलिंगम् को भी याद करते हैं। वे इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि प्रेमचंद नारी के आदर और सम्मान की समस्या को तीखेपन से और बार–बार पाठकों के सामने लाते हैं। उपन्यास की नायिका सुमन के बारे में वे लिखते हैं कि "हिन्दी कथा–साहित्य की वह पहली नारी हैं जो आत्म–सम्मान की रक्षा के लिए संघर्ष की डगर पर पॉव उठाती हैं।"[2] वस्तुतः यही एक नया यथार्थवाद है जिसका सूत्रपात हिंदी उपन्यास–साहित्य में प्रेमचंद ने किया था।

डॉ० शर्मा ने भारतीय नारी की पराधीनता की समस्या की अंतर्वस्तु का सूत्र पकड़ कर ही 'सेवासदन' के कथानक का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इस अंतर्वस्तु के निर्वाह के लिए ही प्रेमचद ने अन्य समस्याओ के साथ वेश्या जीवन की समस्या को भी उठाया है। डॉ० शर्मा बताते हैं कि प्रेमचंद ने विस्तार से दिखलाया है कि इस समाज–व्यवस्था में सपत्ति के रक्षक सदाचार की आड़ में वेश्यावृत्ति को प्रश्रय ही नहीं देते, वेश्याओं को जन्म भी देते हैं। प्रेमचंद ने सामाजिक संबधों की छानबीन कितनी गहराई से की है, यह इसी से जाहिर होता है कि उन्होंने वेश्यावृत्ति की मूल प्रेरक शक्तियो को कठघरे में खड़ाकर दिया है जहॉ से उपन्यासकार और पाठकों की नजर बचाकर भाग जाना उनके लिए संभव नहीं है। दहेज, अनमेल विवाह, पति का संदेह, घर से निकालना और वेश्या की देहरी। मानो इस विवाह प्रथा और वेश्यावृत्ति में कोई अन्योन्याश्रय संबंध हो कि एक होगी तो दूसरी होगी ही। और जिस समाज में विवाह का मतलब कन्या–विक्रय हो, उससे वेश्यावृत्ति कौन उठा सकता है?[3] सुमन और भोली के माध्यम से प्रेमचंद ने इसी कटु वास्वविकता का तीखा अहसास कराया है।

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 32
[2] उपर्युक्त, पृ० 41
[3] उपर्युक्त, पृ० 38

इसके साथ ही प्रेमचंद ने गॉवों का चित्रण करते हुए वहां प्रचलित मध्यकालीन सस्कारों और सामंती कुप्रथाओं का चित्रण भी पूरी निर्ममता के साथ किया है। डॉ० शर्मा ने उपन्यास के उन अंशो को उद्धृत किया है, जहाँ प्रेमचंद ने वर ढूँढ़ने वाले के आने पर गॉवों में आयी तब्दीलियों का वर्णन किया है। डॉ० शर्मा लिखते हैं कि "सामंती संस्कारों का कैसा अनुपम चित्रण है। रोज खेतों में काम करने वाले किसान क्यों हल नहीं छूते? पानी भरने वाली स्त्रियॉ क्यों कुएँ पर नहीं जाती? इसलिए कि समाज में इज्जत उनकी होती है जो अपने हाथ से काम नही करते, जिनकी स्त्रियॉ दूसरों से काम कराने में अपना गौरव समझती हैं। उन्हीं जागीरदारों, जमींदारों और महंतों की नकल करते हुए मेहनती किसान मेहनत के काम को छिपाना चाहते हैं। इस समाज में मेहनत की इज्जत नहीं होती, क्योंकि मेहनत करने वाला आजाद नहीं है। अपनी मेहनत का फल वह खुद नहीं पाता बल्कि समाज के 'प्रतिष्ठित' लोग पाते हैं।"[1] प्रेमचंद गाँवों और ग्रामीण जनता से प्रेम करते थे, उनकी गरीबी, अशिक्षा और कुरीतियों से नहीं। वे गाँवों को बदलना चाहते थे।

प्रेमचंद ने जैसे ग्रामीण जनता की कुरीतियों और सामंती संस्कारों पर चोट की है, वैसे ही, बल्कि उससे भी बढ़कर, उन्होंने शहरी शिक्षित मध्यमवर्ग, राजनेताओं, सेठों–महाजनो, मुल्ला–मौलवियों और पंडों के पाखंड और कुसस्कारों और कुसंस्कारों पर चोट की है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ० शर्मा ने दोनों जगह प्रेमचंद द्वारा अलग–अलग शैली अपनाने का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि "शहर के पढ़े–लिखे कायरों और गाँव के इन अनपढ़ किसानों का चित्रण करते हुए प्रेमचंद की शैली बदलती जाती है। उनकी सहज सहानुभूति किसानों के साथ है, जो अपनी अशिक्षा और कुसंस्कारों के लिए खुद जिम्मेदार नहीं है। इसलिए उनकी शैली परिहास का पुट लिए है। शहर के पढ़े–लिखे दहेज–प्रेमी आँखें हाते हुए भी अंधें हैं, इसलिए वहाँ प्रेमचंद की शैली व्यंगपूर्ण और मर्म पर चोट करने वाली होती है।"[2] इसी तरह डॉ० शर्मा प्रेमचंद की कला का एक अन्य पहलू उनके चरित्र–चित्रण की क्षमता में दिखलाते हैं। वे लिखते हैं कि "प्रेमचंद ने सुमन को एक साँचे में ढ़ली हुई सुन्दर मूर्ति की तरह पाठक के सामने नहीं रख दिया। उनके चरित्र–चित्रण में एक मौलिकता है जो उनकी कला की सबसे बड़ी विशेषता है। वह यह है कि वे परिस्थितियों के उतार–चढ़ाव के साथ अपने पात्रों के चरित्र में भी

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 34–35
[2] उपर्युक्त, पृ० 35

उतार–चढ़ाव दिखाते हैं। सुमन जैसे–जैसे कठिनाइयों का सामना करती है, वैसे–वैसे उसका व्यक्तित्व निखरता है।"[1] डॉ० शर्मा के अनुसार सुमन से ही प्रेमचंद के उन नारी–पात्रों का लंबा सिलसिला शुरू होता है जो अपने रोष से पुरूषों को चुनौती देती है और समाज में मनुष्य का दर्जा हासिल करने के लिए संघर्ष करती है। इससे पहले किसी स्त्री ने अपने पति से नहीं कहा था कि "क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो? जहाँ मजूरी करूगी, वही पेट पाल लूँगी।"[2] इसलिए, इस उपन्यास से ही प्रेमचद के इस नये यर्थाथवाद का आरम्भ होता है।

डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद का कथानक सीधा–सादा नहीं बल्कि सामाजिक जटिलताओं की तरह वह भी जटिल होता है। इस समूची जटिलता को पूरी सादगी के साथ प्रस्तुत करना ही प्रेमचंद की कला है। प्रेमचंद के कथोपकथन की स्वाभाविकता की प्रशंसा करने के साथ ही डॉ०शर्मा इस तथ्य की ओर भी ध्याान दिखाते हैं कि प्रेमचंद ने सुमन को मुख्य पात्र बनाकर भी सारी दृष्टि उसी पर केन्द्रित नहीं रखी। वे बताते हैं कि प्रेमचद पाठक को मूलकथा, उसकी समूची पृष्ठभूमि के साथ सुनाना चाहते थे, इसलिए 'सेवासदन' में महंत रामदास भी हैं, जिनका सारा कारोबार बाँके बिहारी के नाम पर चलता है। उसमें म्युनिसिपैलिटी के सदस्य भी हैं जो अपनी सजी हुई शब्दावली से जाहिर कर देते हैं कि वे सत्य से कितनी दूर हैं। उसमें वकील समाज–सुधारक, वक्ता, पत्रकार, मल्लाह, गृह–स्त्रियाँ, वेश्याएँ सभी कुछ हैं, इतना कुछ कि एक उपन्यास में तब तक किसी ने न दिया था और अब तक भी कम ही ने दिया है। डॉ० शर्मा अपने विवेचन क अंत में यह महत्वपूर्ण संकेत भी देते है कि 'सेवासदन' में ही प्रेमचंद के आगामी उपन्यास 'प्रेमाश्रम' की सूचना मिल जाती है, क्योंकि शोषण और अत्याचार के खिलाफ उठते हुए किसान प्रेमचंद की निगाह मे चढ चुके थे। यह बात उन्होंने इस उपन्यास के किसान पात्र चेतू को ध्यान में रखकर कही है। यह संकेत–सूत्र पकड़ना डॉ० शर्मा जैसी सूक्ष्म अंतदृष्टि वाले आलोचक से ही संभव था।

उपन्यास के अंत में सेवासदन नामक आश्रम बनवाकर प्रेमचंद जो सुधारवादी समाधान देने का प्रयास करते हैं, उसे डॅा० शर्मा ने उपन्यास का निर्बल अंश माना है। वे इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हैं कि नारी स्वाधीनता की समस्या देश की आम

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 41
[2] 'प्रमचद' 'सेवासदन', पृ० 36

राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का ही एक अंग है तथा देश में पूर्णतः स्वाधीन जनतंत्र कायम हुए बगैर इस समस्या के समाधान में ऐतिहासिक सीमाएँ बाधक थी। डॉ० शर्मा के अनुसार "पहले महायुद्ध के दिनों में स्वाधीनता आदोलन असंगठित और कमजोर था। इसलिए प्रेमचंद उसे चित्रित नहीं कर सके। वे समाज की प्रगति रोकने वाली शक्तियों को देख रहे थे लेकिन पुरानी व्यवस्था को बदलने वाली शक्तियाँ उनके सामने तब मैदान में आयी न थी।"[1] इस ऐतिहासिक सीमा के बावजूद यथार्थ–जीवन का कलात्मक चित्रांकन करने मे यह उपन्यास अत्यंत सफल सिद्ध होता है। इस उपन्यास और इसके माध्यम से प्रेमचंद के युगांतरकारी महत्व की ओर डॉ० शर्मा ने ही सर्वप्रथम ध्यान दिलाया था। उनके इस विवेचन की खूबी यह है कि वे प्रेमचंद का मूल्यांकन उन्हें उनकी पूर्ववर्ती परंपरा के साथ जोडकर करते हैं और फिर यह रेखांकित करते हैं कि प्रेमचंद ने जिस नये यथार्थवाद का सूत्रपात किया वह नया किस अर्थ में है और उसकी मौलिक तथा क्रांतिकारी विशेषताएँ क्या हैं।

'प्रेमाश्रम'

यह उपन्यास प्रथम महायुद्ध के बाद के दौर की रचना है, हालाँकि इसका प्रकाशन असहयोग आंदोलन के बाद **1922** में हुआ था। प्रेमचंद इसमें किसानों की बेदखली और इजाफा लगान की समस्या पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। वस्तुतः जबर्दस्त किसान संघर्षों की शुरूआत उनके इसी उपन्यास में दिखायी देती है। डॉ० शर्मा के अनुसार यह उपन्यास 'किसान जीवन का महाकाव्य है', जिसमें "उस जीवन का एक पहलू नहीं दिखाया गया, वह एक विशाल नदी की तरह है जिसमें मूल धारा के साथ आस–पास के नालों का पानी, जड़ से उखड़े हुए पुराने खोखले पेड़ और खेतों का घासपात भी बहता हुआ दिखाई देता है।"[2] वे आगे लिखते हैं कि "प्रेमचंद हमें ठेठ किसानों के बीच ले जाते हैं। उनके अलाव, उनके खेत और ताल, उनके अखाड़े और लावनी–खयाल, उनके अंधविश्वास और नये जीवन के कसमसाते हुए भावांकुर 'प्रेमाश्रम' में सब–कुछ सजीव है, उसके पृष्ठों में इतिहास जी रहा है। प्रेमचंद किसानों की प्राचीन परंपराएँ दिखाते हैं तो यह भी कि कहाँ उनकी कड़ियाँ टूट

---

[1] 'प्रेमचंद और उनका युग', पृ० 40

[2] उपर्युक्त, पृ० 48

रही हैं।"[1] इसलिए डॉ० शर्मा ने 'प्रेमाश्रम' को हिंदी का पहला 'हीरोइक' उपन्यास भी कहा है, जिसमें मेहनतकश किसान जनता के शौर्य की गाथा महाकाव्यात्मक उदात्तता और विराट फलक पर चित्रित की गयी है।

'प्रेमाश्रम' के प्रकाशन के पच्चीस साल पहले उडिया में फकीर मोहन सेनापति ने किसान–समस्या पर **1897** में 'छमाण आठ गुंठ' (छै बीघा जमीन) नामक उपन्यास लिखा था। लेकिन प्रेमचंद और उनके 'प्रेमाश्रम' का महत्व यह कि इस उपन्यास के माध्यम से उन्होंने इस सच्चाई को प्रकट किया कि "राष्ट्रीय स्वाधीनता का आंदोलन तभी सफल हो सकता था जब वह करोड़ों किसान की अपनी माँगों का आंदोलन बन जाये। वह जानते थे कि किसानों के आंदोलनों से स्वाधीनता का आंदोलन कमजोर न पड़ेगा। बल्कि उसे विजय की मजिल तक ले जाएगा। हिन्दुस्तान की सांमती ताकते विदेशी प्रभुत्व का आधार थी, इसलिए प्रेमचंद के लिए आजादी का मतलब था, इस आधार को खत्म करना।"[2] डॉ० शर्मा ने इसलिए यह लिखा है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद और जमींदारों–जागीरदारों के आपसी संबध समझे बिना 'प्रेमाश्रम' की रचना न हो सकती थी। 'प्रेमाश्रम' की कला का विवेचन करते हुए डॉ० शर्मा ने बताया है कि इसे 'उपन्यास–रचना के साधारण नियम तोड़कर रचा गया है।' इस अर्थ में कि कोई एक व्यक्ति इस उपन्यास का नायक या नायिका नहीं है। डॉ० शर्मा के अनुसार "प्रेमचंद ने बेगार करने वाले, हल जोतने वाले, प्लेग और सरकार का मुकाबला करने वाले किसानों को नायक बना दिया। मनोहर, बलराज, कादिर, दुखरन, आदि इस उपन्यास के हीरों हैं। ये नयी तरह के नायक हैं–गुण और अवगुण दोनों से विभूषित। .. .. लखनपुर का गॉव –संक्षेप में इस उपन्यास का नायक है, ज्ञानशंकर, गौसरवॉ, कचहरी–कानून और पुलिस की जमात खलनायक है।"[3] इस तरह से यह उपन्यास अपनी विषयवस्तु में ही नहीं, रूपविधान में एक नया प्रयोग था।

इसके बाद डॉ० शर्मा यह सवाल उठाते हैं कि 'प्रेमाश्रम' की कला किस बात में है? कथा गढ़ने में, कथोपकथन में, चरित्र–चित्रण में? उनके मतानुसार, इन सबमें भी लेकिन इन सबसे अलग भी। उस कला का विश्लेषण उपन्यास के इन अंगों का अलग–अलग विवेचन करने से भी नहीं हो सकता। वह कला जीवन का सम्पूर्ण चित्र देने में है, उस चित्र से जीवन को एक नयी गति देने में है। डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद की कला उपन्यास की

---

[1] उपर्युक्त पृ०, 56–57
[2] उपर्युक्त पृ०, 46
[3] उपर्युक्त पृ०, 47

चित्रमयता में है, क्योंकि वह जो कुछ करना चाहते हैं, चित्रों के माध्यम से ही कहते हैं। वे लिखते हैं कि 'प्रेमचंद की कला इस बात में है कि वे हिन्दुस्तान के बढ़ते हुए किसान का चित्र खींच सके हैं। घटनाएँ साधारण हैं लेकिन उनसे वह अपने पात्रों का पुरानापन और नयापन, उनको पीछे ठेलने वाली और आगे बढ़ाने वाली विशेषताएँ प्रकट करते हैं। पहाड़ की तस्वीर खींचना आसान है, नदी के बहाव को चित्रित करना मुश्किल है। प्रेमचद ने यथार्थ के बहाव को पकड़ लिया है। उसे उन्होंने भावी पीढियो के लिए 'प्रेमाश्रम' में सुरक्षित कर दिया है।"[1] डॉ० शर्मा बताते हैं कि प्रेमचंद की कला उनकी सजीव शब्दावली और वर्णन की काव्यमयता में प्रकट होती है।

इस उपन्यास के माध्यम से प्रेमचंद ने **1920** में ही यह निष्कर्ष दे दिया था कि "सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धात भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया।"[2] प्रेमचंद इस नतीजे पर इसलिए पहुँच सके क्योंकि उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का यही तर्कसगत परिणति है। उपन्यास में प्रेमशंकर की नीति भी किसानों को दमन और तकलीफ से नहीं बचा सकी। इसलिए डॉ० शर्मा ने इस उपन्यास को दुखांत कहा है। सत्याग्रह को अन्याय और दमन के खिलाफ व्यर्थ बतलाने के साथ ही इस उपन्यास में प्रेमचंद यह भी सकेत देते हैं कि अन्याय और दमन को कैसे जड़ से समाप्त किया जा सकता है। उपन्यास मे बलराज किसानों से कहता है कि "तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो मानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं, वह जमींदार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है, लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि रूस देश में काश्तकारो ही का राज है, वह जो चाहते हे करते है। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहॉ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया और अब किसानों और मजूरों की पंचायत राज करती है।[3] डॉ० शर्मा के अनुसार बलराज को प्रेमचद ने हिन्दुस्तान के जागरूक किसान नौजवानों का प्रतिनिधि बनाया है। इसी तरह बलराज की माँ बिलासी भी जुझारूपन मे 'सेवासदन' की सुमन से कई गुना आगे है।

डॉ० शर्मा ने प्रेमचंद के जीवन–दर्शन को गहरा यथार्थवादी और उनके दृष्टिकोण को सुलझा हुआ बताया है। वे लिखते हैं कि प्रेमचंद का गंभीर चिंतन, उनके ऊँचे विचार, एक नयी मनुष्यता, एक नयी नैतिकता का चित्रण करने में प्रकट होते हैं, जो हिन्दुस्तान के

---

[1] उपर्युक्त पृ०, 56–67

[2] प्रेमचद 'प्रमाश्रम' पृ० 248

[3] उपर्युक्त पृ०, 53

किसानों में किरण की तरह फूट रही थी। इस घटना का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व था।' अंग्रेजीराज और उसके दलाल सामंतों–जमींदारों के खिलाफ भारत के किसानों का संघर्ष अपने बेहतर भविष्य के लिए ही तो था ही, वह संघर्ष शांति और स्वाधीनता के लिए लड़े जा रहे साम्राज्यवाद विरोधी विश्व संघर्ष का भी अंग था। डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद हिन्दी के पहले लेखक थे जिन्होंने अंतराष्ट्रीय महत्व का ऐसा उपन्यास लिखा था। वे इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि इस उपन्यास ने स्वाधीनता आदोलन को दृढ़ करने के लिए उसे एक नयी गति देने में, किसान समस्या की आजादी की मूल–समस्या के रूप में स्वीकार करने में बहुत बड़ा काम किया है। ऐसा सामाजिक महत्व बिरले ही उपन्यासों का होता है।"[1] डॉ० शर्मा ने 'प्रेमाश्रम' की आलोचना दो बातों के लिए की है। पहली यह है कि ज्ञानशंकर–संबंधी कथा को जितना विस्तार दिया गया है, वह अनावश्यक साबित होता है और उससे उपन्यास की मूल कथा का प्रभाव काफी कम हो जाता है। लेकिन ज्ञानशंकर के चरित्र–चित्रण में वे 'अद्‌भुत कौशल' देखते हैं और उसे वे प्रेमचंद के 'तमाम खलपात्रों का सिरमौर' बताते है। दूसरे, वे इस बात के लिए प्रेमचंद की आलोचना करते हैं कि सत्याग्रह को भ्रांतिपूर्ण कहकर भी प्रेमचंद काल्पनिक समाधान देने लगते हैं। डॉ० शर्मा के अनुसार 'प्रेमाश्रम' का समाधान 'सेवासदन' के काल्पनिक समाधान से भी कमजोर है। इसलिए वे प्रेमशंकर को उपन्यास का सबसे निर्जीव पात्र मानते हैं। लेकिन ये कमियां उपन्यास की मुख्य कथा और उसके क्रांतिकारी निष्कर्षो को बहुत प्रभावित नहीं करती। डॉ० शर्मा ने अपने विवेचन के माध्यम से इन्हीं सकारात्मक पहलुओं के महत्व को अत्यंत खूबसूरती के साथ उभारा है।

'प्रेमचंद और उनका युग' पुस्तक के 'जागीरदारी सभ्यता के ध्वंसावशेष' नामक लेख में बताया है कि "समाज के जाल में मोटी–मोटी गांठों से बँधें छोटे और बड़े जमींदार हैं जिनका निर्धन वर्गो से निकट का संबंध है और जो नयी महाजनी सभ्यता के सम्पर्क में आकर एक नया रूप धारण कर चुके हैं। जागीरदारी सभ्यता की देन के साथ नयी अंग्रेजी सभ्यता से भी उन्होंने अपने मतलब की बहुत सी बातें ग्रहण की है, जिससे वह एक नई और विचित्र सभ्यता के निदर्शन हो गये है। प्रेमचंद ने रायसाहब का जो चित्र बनाया है उनसे मिलते–जुलते माडल आज की सामाजिक व्यवस्था में पचासों देखने को मिलते है। पहली बात देखें तो रायसाहब धार्मिक व्यक्ति हैं, दूसरे वे राजनीतिक आंदोलनों में भाग लेने

[1] 'प्रेमचद और उनका युग' पृ० **58**

से उनका अपने आसामियों में कद ऊँचा हो गया है परन्तु बेगारी एवं वसूली का कार्य यथावत चलता रहता है थोड़ी बहुत जो कमी ठोस बची थी उसे साहित्य एवं संगीत ने पूरी कर दी थी। 'प्रेमाश्रम' में जमीदारी के विविध रूप मिलते है दो पात्र ज्ञानशंकर और प्रभाशंकर नई पीढी का प्रतीक हैं। कितना बुरा हाल है इस पुरानी सभ्यता का जो परिवर्तन की मार को सह पायी। हाकिम–जमींदार और किसान सम्बधी स्तम्भ में शोषण का केन्द्र किसान जीवन ही रहता है और हाकिम–जमींदार इसके शोषक हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा ने बताया है कि किसानों के चित्रण में प्रेमचंद हमें भारतीय जन आदोलनों के बीचों बीच ला खड़ा करते है। यही वह स्थल है जहाँ दमन अपने क्रूरतम रूप मे निसहाय निर्बल किसानों को चूर करता हुआ चलता है। यहीं वह प्रेरणा का केन्द्र भी है जो समग्र जन आंदोलनों को बल देता है। किसानों का ही वह वर्ग है जिसके लिए आंदोलन की समस्त शक्तियाँ एकत्र ही गतिशील होनी चाहिए। इस वर्ग के चित्रण में प्रेमचद ने 'प्रेमाश्रम' उपन्यास लिखा जिसमें ज्ञानशंकर, गौसखॉ तथा मनोहर के विविध रूपों का अंकन हुआ है। ज्ञानशंकर लगान बंदी अपने आसामियो पर लगाता है। करिंदा गौरखॉ उसे बसूलने के लिए जाता है न मिलने पर तरह–तरह के कष्ट किसानों को दिये जाते हैं। हाकिम –ज्वालासिंह किसानों का पक्ष लेते हैं परन्तु दैवी कष्ट से किसानों को उबारने वाले तो बाद में जमींदार ही होते हैं इसी से हारकर प्रभाशंकर कहता है कि "परिश्रमी तो इससे अधिक कोई संसार में न होगा मितव्ययिता में, आत्मसंयम मे, गृहप्रबंध में वे निपुण हैं, उनकी दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं, बल्कि उन परिस्थितियों पर है जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है।" इन शब्दों को पढ़कर क्या यह अनुमान नहं लगाया जा सकता कि यह उपन्यास बीसवीं शताब्दी की अमानुषिक कहानी के साथ–साथ इक्कीसवीं शताब्दी की भी कहानी कहता है।

'निर्मला', 'गबन' और 'कायाकल्प'

प्रेमचंद के दो बड़े उपन्यासों 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' की रचना के बीच की कालावधि में हमें उनके तीन उपन्यास 'निर्मला', 'गबन' और 'कायाकल्प' मिलते हैं। इनमें भी 'गबन' ही उनका चर्चित उपन्यास है। शेष दोनों उपन्यास प्रेमचंद के प्रमुख उपन्यासों की

तुलना में साधारण कोटि के हैं। शायद इसीलिए कई आलोचक इस बीच के रचनाकाल को एक बड़ी कृति की रचना का पूर्वाभ्यास भी मानते है। लेकिन डॉ० शर्मा का महत्व यह है कि वे 'निर्मला' और 'कायाकल्प' जैसे प्रेमचंद के प्रायः साधारण समझे जाने वाले उपन्यासों मे से भी ऐसे असाधारण पहलुओं को उजागर करते हैं जिनका यथार्थवाद की दिशा में प्रेमचंद के भावी विकास मे असंदिग्ध महत्व है।

'निर्मला' में भी प्रेमचंद ने 'सेवा–सदन' की तरह नारी समस्या पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया है। डॉ० शर्मा के अनुसार 'सेवा–सदन' की तुलना में 'निर्मला' की कहानी का क्षेत्र संकुचित है। लेकिन इसके साथ ही वे इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि कई जगह इसके स्थल सेवा–सदन से ज्यादा करूण और मर्मस्पर्शी हैं। इस उपन्यास में भी 'सेवा'–सदन' की तरह दहेज के अभिशाप, अनमेल विवाह और इनसे उत्पन्न नारी दासता की भयावह परिस्थितियों का यथार्थवादी ढंग से चित्रण किया गया है। पर निर्मला में वह तेवर नहीं है जो सुमन में थे। इसलिए उसके घुटते रहने से इस उपन्यास की त्रासदी और भी गहरी हो जाती है। इसके साथ ही डॉ० शर्मा एक अन्य तथ्य को भी रेखांकित करते हैं। वे लिखते है कि "एक ट्रैजिक पात्र और है, मंसाराम। यह एक नयी तरह का पात्र है, जिसे प्रेमचंद ने अपने उपन्यास में जगह दी है। हिंदी कथा–साहित्य में वयस्क स्त्री–पुरूषों की समस्याओं पर काफी लिखा गया है, लेकिन स्कूली उम्र के लड़कों की तरफ कलाकारों का ध्यान कम गया है।"[1] इस दृष्टि से यह उपन्यास विशिष्ट है।

डॉ० शर्मा ने एक और दृष्टि से भी इस उपन्यास को अत्यंत महत्वपूर्ण और विशिष्ट माना है। वह यह कि यह उपन्यास 'प्रेमचंद के कथा–साहित्य के विकास में एक मार्ग–चिन्ह है। यह पहला उपन्यास है जिसमें उन्होंने किसी सेवा–सदन या प्रेमाश्रम का निर्माण करके पाठक को झूठी सांत्वना नहीं दी।' इसी क्रम में आगे वे लिखते हैं कि "निर्मला और मंसाराम में काफी निष्क्रियता है, सुमन की तरह वे अन्याय का प्रतिकार करने नहीं बढ़ते। फिर भी यथार्थवाद को लाने और पुष्ट करने में 'निर्मला' का महत्वपूर्ण स्थान है। यह उपन्यास असहयोग आंदोलन की असफलता के बाद लिखा गया था और जाहिर करता है कि किस तरह हिंदी लेखक कल्पित समाधानों से संतुष्ट न होकर यथार्थ जीवन का सामना करने के लिए आगे बढ़ रहे थे।"[2] डॉ०शर्मा का यह स्पष्ट मत है कि प्रेमचंद द्वारा इस उपन्यास में

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 64
[2] उपर्युक्त, पृ० 65

यथार्थवाद का पूर्ण निर्वाह किये जाने के बावजूद यह यथार्थवाद उनका 'क्रांतिकारी यथार्थवाद' नहीं है।

'कायाकल्प' की डॉ० शर्मा ने भी कठोर आलोचना की है। लेकिन वे इस ओर भी सकेत करते है कि इस उपन्यास में दो वर्गो की कहानी है– किसानों की दूसरी तरफ रानियों जागीरदारों और हिंसक अंग्रेजी राज की। उनके मतानुसार कथा का जो भाग जगदीशपुर की रानी देवाप्रिया के 'कायाकल्प' से संबंधित हैं, वह चमत्कारों से भरा हुआ है और प्रेमचंद की कलम भी इसमें जान नहीं डाल सकी। लेकिन इसके साथ ही वे इस तथ्य की ओर भी ध्यान दिलाते है कि इस उपन्यास के जोरदार हिस्से वे हैं जहॉ प्रेमचंद ने हाड़–मास के आदमियों के इसी जीवन पर दृष्टि केंद्रित करके उनके चरित्र की अच्छाइयों–बुराइयों को चित्रित किया है। यह विवेचन डॉ०शर्मा की द्वंद्वात्मक विश्लेषण दृष्टि का प्रमाण है। 'कायाकल्प' का वैशिष्ट्य रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं कि "प्रेमचंद ने जनता पर दमन होते पहले भी दिखाया था। इस उपन्यास में वह एक नयी चीज दिखाते हैं– जनता दमन से आतंकित न होकर उसका मुकाबला करने बढ़ती है। और वह सफल हो सकती है अगर चक्रधर जैसे लोग आकर अंग्रेजो और राजाओं की रक्षा न करने लगे।"[1] प्रेमचंद ने एक साधारण और आलोचकों द्वारा प्रायः उपेक्षित उपन्यास में से इस महत्वपूर्ण असाधारण निष्कर्ष को सामने लाना डॉ०शर्मा की सूक्ष्म अर्तदृष्टि और पैनी सूझबूझ का परिचायक है।

'कायाकल्प' के विवेचन के क्रम में और विशेष रूप से उसकी आलोचना करते हुए डॉ०शर्मा ने प्रेमचंद की शक्ति–सामर्थ्य और उनकी सीमा, दोनों के बारे में सामान्य निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। वे लिखते हैं कि इस उपन्यास से पता चलता है कि 'प्रेमचंद की कलम की ताकत यथार्थ जीवन को आँकने से पैदा हुई थी। उनकी कला इसलिए प्रभावशाली थी कि वे अपनी आँखों से देखी हुई सच्चाई को चित्रित करते थे। जहाँ गलत आदर्शो या विचारों के प्रभाव से उन्होंने यह रास्ता छोड़ दिया, वही उनकी कला प्रभावहीन हो गयी और उनकी कलम का जादू उड़ गया।"[2] डॉ० शर्मा का यह निष्कर्ष प्रेमचंद के विकास को समझने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। सामान्य से विशिष्ट का सूत्रीकरण और विशिष्ट के माध्यम से सामान्य निष्कर्ष देना यह दोहरी यात्रा किसी साधारण आलोचक के बस की बात नहीं है।

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 78
[2] उपर्युक्त, पृ० 74

डॉ० शर्मा में हमें यह विशेषता दिखायी देती है जो एक आलोचक के रूप में उनकी महानता की सूचक है।

उपर्युक्त दोनों उपन्यासों के बीच की रचना प्रेमचंद का बहुचर्चित उपन्यास 'गबन' हैं जो कई मामलों में उनके अन्य उपन्यासों से अलग है। वैसे तो 'सेवासदन' और 'निर्मला' की तरह इस उपन्यास में भी प्रेमचंद ने अपना ध्यान शहरी मध्यवर्ग पर ही केन्द्रित किया है, लेकिन इस उपन्यास की मुख्य समस्या नारी पराधीनता नहीं है। इस उपन्यास का वैशिष्ट्य यह है कि प्रेमचंद ने इसमें नारी समस्या का व्यापक चित्र बनाने के साथ-साथ इस समस्या को हिन्दी साहित्य में पहली बार देश की स्वाधीनता की समस्या से भी जोड़ दिया हैं। इसलिए डॉ० शर्मा उपर्युक्त तथ्य को रेखांकित करने के साथ ही यह महत्वपूर्ण निष्कर्ष भी देते है कि 'निर्मला' के बाद 'गबन' हिन्दी साहित्य के यथार्थवाद में एक और आगे बढ़ा कदम है। वह जीवन की असलियत की छान-बीन और गहराई से करता है, भ्रम के पर्दे को उठाता है, नये रास्ते ढूँढ़ने के लिए वह जनता को नयी प्रेरणा देता है।"[1] इस उपन्यास का महत्व यह है कि इसमे प्रेमचंद अंग्रेजीराज, और दलालों और स्वाधीनता आंदोलन के पाखंडी नेताओं का तो पर्दाफाश करते ही है, अपनी दूरदृष्टि से वे आजादी के बाद भारत के पूँजीवादी शासकों के कुकृत्यों की ओर भी संकेत कर देते है।

उपन्यास का एक अत्यंत तेजस्वी पात्र है देवीदीन। वह 'बड़े-बड़े देशभक्तों के देश का उद्धार करने के खोखले दावों की खिल्ली उड़ाते हुए उन्हे फटकारता है, 'अरे तुम क्या देश का उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार तो कर लो। गरीबों को लूटकर बिलायत का घर भरना तुम्हारा काम है।' यही देवीदीन कांग्रेसी जलसों में खूब उछल-कूदकर भाषण देने वाले एक साहब बहादुर से कहता है कि 'साहब' सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो तो उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगें, तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्यान होगा। तुम्हारी और तुम्हारें भाई-बंदों की जिंदगी भले आराम और ठाट से गुजरें, पर देश का तो कोई भला न होगा। 'देवीदीन के माध्यम से मानो प्रेमचंद ही यह भविष्यवाणी करते हैं कि "अभी तुम्हारा राज्य नहीं है, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायगा, तब तो तुम गरीबों को

[1] उपर्युक्त, पृ० 73

पीसकर पी जाओगे।"[1] प्रेमचंद का यह भविष्य–कथन आज पूरी बेरहमी के साथ ही साबित हो रहा है। उनके यथार्थवाद की यही महत्ता है।

इस देशभक्ति और तेजस्वी पात्र के बारे में डॉ०शर्मा ने लिखा है कि 'देवीदीन भारत के उन साधारण जनों का प्रतिनिधि है जो जनता से दगा करने वाले नेताओं की असलियत पहचान गये हैं जो एक आजाद, सुखी जिंदगी हासिल करने के लिए नया रास्ता ढूँढ़ रहे हैं।' इसलिए वे देवीदीन को भविष्य–दृष्टा और जमाने को गहराई से देखने वाला व्यक्ति कहते है। वे इस तथ्य की ओर भी सकेत करते है कि प्रेमचद ने इस उपन्यास में देवीदीन के मुँह से पहले–पहल मजदूरों की सच्ची हालत का वर्णन कराया है। देवीदीन के शब्दों मे– "उसकी जूट की मिल है। मजूरों के साथ जितनी निर्दयता इसकी मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है, हंटरो से। चरबी मिला घी बेचकर लाखों काम लिये। कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे तो तुरंत तलब काट लेते है।"[2] हिन्दी कथा साहित्य में उस समय यह एक बिल्कुल नयी बात थी और डॉ०शर्मा ने इसे एकदम ठीक रेखांकित किया है।

देवीदीन और उसकी पत्नी की तरह ही जालपा भी ऐसी देशभक्त नारी है जो अपने पति द्वारा मुखबिर बनकर झूठी गवाही देने और क्रांतिकारियो को सजा दिलाने पर न केवल उसे फटकारती है बल्कि उससे नाता तक तोड़ लेती है। जालपा रमानाथ से कहती है कि "मै औरत हूँ। अगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे, तो चाहे उसे न मार सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या तुममें औरतों के बराबर हिम्मत नहीं है?"[3] डॉ० शर्मा लिखते हैं कि "जालपा भारत का उगता हुआ नारीत्व हैं। वह भविष्य के तूफानों की अग्रसूचना है। उसने वर्तमान की राह पर मजबूती से पाव रखा है और भविष्य की तरफ वह निश्शंक दृष्टि से देखती है। वह एक नयी आग है, जो झूठी संस्कृति के कागजी फूलों को भस्म कर देती है।"[4] प्रेमचंद की खूबी यह है कि उन्होंने जेवरों से प्रेम करने वाली साधारण गृहणी से लेकर कलकत्ता जाकर क्रांतिकारियों की पक्षधर और उनके परिवार वालों को सेवक के रूप में जालपा के चरित्र का विकास यांत्रिक ढंग से नहीं बल्कि सहज और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में दिखाया है। डॉ० शर्मा के अनुसार जालपा का चरित्र जितना

---

[1] प्रमचद 'गबन', पृ० 152
[2] उपर्युक्त, पृ० 143
[3] उपर्युक्त, पृ० 241
[4] 'प्रेमचद और उनका युग' पृ० 70

महान है उतना ही रमा का हल्का और घृणित। वे बताते हं कि रमानाथ शहरी मध्यम वर्ग की कमजोरियों का प्रतीक है। सच्चाई और आत्मसम्मान से ज्यादा महत्व उसकी नजरो में झूठी मान–मर्यादा का है। उसके पतन का इतिहास इस झूठी मर्यादा वाले समाज के पतन का इतिहास है। लेकिन रमानाथ में कायरता और दगाबाजी जैसे अनेक दोषों के अलावा कहीं इसानियत के अंकुर भी दबे पड़े थे। देवीदीन, उसकी बुढ़िया पत्नी और सर्वोपरि जालपा के प्रभाव से उसके सद्गुण उभर आते हैं। इसमे जोहरा भी सहायक बनती है। डॉ०शर्मा के अनुसार उसके चरित्र में काफी परिवर्तन होता है। प्रेमचंद की कला और मनोविज्ञान की बारीकी इस बात में दिखायी देती है कि वह उसे न तो पहले राक्षस बनाकर खडा करते हैं और न बाद में उसे देवता बनाते हैं। डॉ० शर्मा से पहले अन्य कोई भी आलोचक न तो प्रेमचंद की कला में ऐसी बारीकियाँ दिखला सके और न ही प्रेमचंद के उपन्यासों की अंतर्वस्तु पकड़ कर उसका ऐसा सटीक विश्लेषण कर सके।

'रंगभूमि' रूस में जब **1905** की क्रांति विफल हो गयी थी और जारशाही दमनचक्र बेहद तेज हो उठा था, उसी समय **1907** में गोर्की का उपन्यास 'माँ' प्रकाशित हुआ था, जिसकी नायिका पेलागेया निलावना ब्लासोवा 'माँ' कहती है, "सच्चाई को तो खून की नदियों में भी नहीं डुबोया जा सकता बेवकूफों, तुम जितना अत्याचार करोगे, हमारी उतनी नफरत बढेगी। और एक दिन यह सब तुम्हारे सिर पर पहाड बनकर टूट पड़ेगा।"[1] और यह पहाड़ शोषण और दमन पर टिकी हुई दुनिया के सिर पर **1917** की अक्टूबर क्रांति के रूप में टूट पड़ा। गोर्की ने संघर्ष के लिए उद्वेलित करने वाली और हृदयस्पर्शी जनसंघर्ष के चित्रों से भरपूर ग्रह अद्वितीय कृति **1905–1907** के पस्ती और निष्क्रियता भरे दौर में लिखी थी। लेनिन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस पुस्तक का महत्व पहचान कर गोर्की से इसके बारे में कहा था कि इस रूस की जनता को इस समय ठीक इसी की जरूरत है। लेनिन के शब्दों में यह एक "जरूरी किताब है। बहुत से मजदूरों ने क्रांतिकारी आंदोलन में सजग रूप से नहीं, स्वतः स्फूर्त ढंग से भाग लिया था। अब 'माँ' पढ़कर उन्हें बड़ा लाभ होगा।...........बहुत समयानुकूल पुस्तक है।"[2] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि लेनिन ने आगे चलकर **1905** की विफल क्रांति को अक्टूबर क्रांति का 'ड्रस–रिहर्सल' कहा था। प्रेमचंद ने भी 'रंगभूमि' की रचना असहयोग आंदोलन की विफलता के बाद **1925–26** में की थी, जब

---

[1] मेक्सिम गोर्की माँ पृ० **472**
[2] प्रो० बोरीस वूर्सोव लिखित 'माँ' की प्रस्तावना, पृ० **5–6**

स्वाधीनता आंदोलन पस्ती और निष्क्रियता के दौर से गुजर रहा था। यह अकारण नहीं है कि इस उपन्यास का नायक अंधा सूरदास प्रेमचंद के सभी नायकों में सबसे ज्यादा जुझारू, तेजस्वी और जीवट वाला पात्र है। 'माँ' के अंतिम पृष्ठ पर निलोवना व्लासोवा के मर्मभेदी उद्‌बोधन की तरह ही 'रंगभूमि' के आखिरी हिस्सों में सूरदास मरने से पहले कहता है: "हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार–हारकर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।"[1] इसे 'भारत की अजेय जनता का स्वर' बताते हुए डॉ०शर्मा लिखते हैं कि यह सन् 1920 और 1930 के बीच का उपन्यास है जब हिंदुस्तान मे बडे–बड़े नेताओं की तरफ से राष्ट्रीय आंदोलन का सचालन न हो रहा था। डॉ०शर्मा से पहले और किसी का भी ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया था और इसलिए उनसे पहले कोई अन्य आलोचक इस उपन्यास की इस विशेषता को नहीं पहचान सका था। डॉ०शर्मा के शब्दों में "रंगभूमि सन् 1920 और 1930 के आंदोलनों के बीच हिन्दी–प्रदेश की रंगभूमि है। इसमें राजा, ताल्लुकेदार, पूँजीपति, अंग्रेज–हाकिम, किसान, मजदूर–हिन्दुस्तानी जीवन की एक विशद झाँकी देखने को मिलती है। नायकराम का हास्य, सोफिया की सरलता, विनय का साहस, राजा महेन्द्र प्रताप की धूर्तता, जॉन सेवक की स्वार्थपरता, धीरपाल का साहस, सूरदास की दृढ़ता पाठक के हृदय पर गहरी छाप छोड़ जाते हैं। अभी तक प्रेमचंद के किसी भी उपन्यास में इतने अविस्मरणीय पात्र एक साथ न आये थे। यह उनके बढ़ते हुए कौशल का परिचय था।"[2] प्रेमचंद की भविष्य को भेदने वाली अंर्तदष्टि का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा था कि 'रंगभूमि' उपन्यास सन् 1930 का आंदोलन छिड़ने के पहले लिखा गया था। प्रेमचंद ने मानो भविष्य की ओर देखते हुए तमाम हिन्दुस्तान की जनता की तरफ से अंग्रेजीराज को चुनौती देते हुए सूरदास से कहलाया था– 'फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो।' प्रेमचंद ने भारतीय जनता की इसी जिजीविषा ओर संघर्षशीलता को बड़े सधे हुए कलात्मक अंदाज में चित्रित किया है। 'रंगभूमि' की कहानी सूरदास द्वारा अपनी और पांडेपुर गॉव की जमीन के लिए किये जाने वाले संघर्ष की कहानी है। जॉन सेवक, म्युनिसिपैलिटी के प्रधान राजा महेंद्र प्रताप सिंह और अंग्रेजीराज के प्रतिनिधि क्लार्क की मदद से यह जमीन कौड़ियों के मोल खरीद कर वहाँ सिगरेट बनाने का कारखाना खोलना चाहते है।

---

[1] प्रेमचद 'रगभूमि' पृ० 558
[2] प्रेमचद और उनका युग, पृ० 84

प्रासंगिकता देशी रियासतों में जनता के दमन और आतंक का चित्रण करने के लिए है। डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद ने दिखलाया है कि राजा और जागीरदार अंग्रेजो की कठपुलियाँ हैं। वहॉ की प्रजा को दोहरा जुल्म सहना पड़ता है—एक तो अग्रेज का, दूसरा उसकी कठपुतली की। रियासतों में प्रजा के दुखः—सुख की चिंता कोई नहीं करता। दरअसल इस उपन्यास में प्रेमचंद ने अत्यंत विराट फलट चुना है, और वे कोई भी पहलू इसमें अछूता नहीं छोड़ना चाहते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचंद अपने इस उद्देश्य में बड़ी हद तक सफल रहे है। देश के पस्ती, निष्क्रियता और दमन के दौर मे प्रेमचंद ने जनता के विभिन्न हिस्सों को देश के शत्रुओं के साथ संघर्षशील दिखाकर आने वाले तूफानी दौर के लिए जनसाधारण को तैयार किया है।

राजनीतिक दृष्टि से प्रेमचंद का 'रंगभूमि' उपन्यास महत्वपूर्ण है इसके कुछ अंश 'गोदान' और 'सेवासदन' में भी मिलते है। इस संबंध मे अपना विवरण देते हुए डॉ०शर्मा लिखते है कि "प्रेमचंद का लक्ष्य था कि धीरे—धीरे उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाय। स्वराज का संकुचित राष्ट्रीयता वाला अर्थ उन्होंने ग्रहण न किया था। आवश्यकता इसी बात की न थी कि अंग्रेजों को निकाल बाहर किया जाए वरन इस बात की थी कि उनके साथ समाज की व्यवस्था मे परिवर्तन हो जाय।"

'कर्मभूमि'

प्रेमचंद ने यह उपन्यास सन् 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन के दिनों में लिखा था। डॉ० शर्मा के अनुसार यह आंदोलन एक जबरदस्त सैलाब की तरह तमाम जनता को अपने अंदर समेट लेता है। विद्यार्थी, किसान, अछूत, स्त्रियॉ, शिक्षक, व्यापारी, मजदूर सभी इसके प्रवाह में आगे बढ़ चलते है। 'प्रेमाश्रम' के किसान अब अकेले नहीं है। उनकी लड़ाई के साथ तमाम जनता अपनी आजादी की लड़ाई में आगे बढ रही है। आंदोलन में जनता के नये नेता पैदा होते हैं। लाठी—चार्ज होते है, गोलियाँ चलती हैं, लेकिन लोग अपनी सकें मजबूत करते हुए आगे बढ़ते हैं। यहीं कारण है कि वे 'कर्मभूमि' को हिन्दुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन की गहराई और प्रसार का उपन्यास मानते है। इस जमाने का उल्लेख करते हुए वे आगे लिखते हैं कि प्रेमचंद का यह उपन्यास स्वाधीनता आंदोलन के उस दौर

का है जब लोग अंग्रेजों का मनमाना अत्याचार सहने के लिए तैयार न थे। वे अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करने लगे थे। इसके लिए वे जो भी साधन मिलें, उनका उपयोग करने के लिए तैयार थे। प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' में पहली बार मजदूरों और विद्यार्थियों को एक साथ अंग्रेजों का मुकाबला करते दिखाया है। डॉ० शर्मा के अनुसार "प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आदोलन की एक महत्वपूर्ण कड़ी को पकड़ा था और उसका यहाँ चित्रमय वर्णन किया है।"[1] आजादी की लड़ाई की यह महत्वपूर्ण कड़ी भी मजदूरों और विद्यार्थियों की एकता।

इस उपन्यास की अन्य विशेषता का उल्लेख करते हुए डॉ० शर्मा बताते हैं कि 'कर्मभूमि' हिन्दुस्तानी जनता के उन स्तरों को रंगमंच पर ला खड़ा करता है जिनके दर्शन पहले हिन्दी कथा–साहित्य में कम हुए थे। ये शहर और गॉवों के गरीब अछूत हैं। डॉ० शर्मा के अनुसार इन अछूतों की दशा का मार्मिक चित्र, उनके जीवन की बुनियादी समस्याओं की झॉकी हिन्दी कथा–साहित्य में हमे सबसे पहले 'कर्मभूमि' मे मिलती है। इसके साथ ही वे इस तथ्य की ओर भी ध्याान केंद्रित करते हैं कि इस उपन्यास में प्रेमचंद ने हिन्दुस्तान की गरीबी पर ध्यान केंद्रित किया है। उन्होंने यह दिखलाया है कि हिन्दुस्तान की आजादी इन गरीबों के लिए सबसे पहले है और वे आजादी की लड़ाई में सबसे बड़ी ताकत भी है। प्रेमचंद ने हिन्दुस्तान की गरीबी को साम्राज्यवादी शोषण के साथ ही पूँजीवादी दुनिया के विश्वव्यापी संकट से जोड़कर देखा था, क्योंकि यह जमाना सन् **1929–1930** की मंदी का जमाना था। प्रेमचंद यह दिखाते है कि इस आर्थिक संकट का सबसे ज्यादा बोझ गॉव के गरीब किसानों पर डाला जा रहा था।

डॉ० शर्मा ने इस उपन्यास का विवेचन करते हुए एक विशेष बात की ओर ध्यान दिलाया है। वे लिखते हैं कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौर की रचना होते हुए भी 'यह एक दिलचस्प बात है कि नमक–कानून तोड़ने का आंदोलन इसका विषय नहीं है।' इस उपन्यास की अंतर्वस्तु का परिचय देते हुए वे बताते हैं कि स्वाधीनता आंदोलन की गहराई और प्रसार का चित्रण करते हुए प्रेमचंद 'सबसे ज्यादा जोर जमीन की समस्या, लगान कम करने की समस्या, खेत–मजदूरों और गरीब किसानों के लिए जमीन की समस्या पर देते हैं।' प्रेमचंद की इन विशेषताओं के आधार पर ही डॉ०शर्मा ने लिखा है कि "प्रेमचंद केवल यथार्थ के महत्वपूर्ण पहलुओं को परखकर उन्हें उपन्यास में विशेष स्थान देते हैं।"[2] यही कारण है

---

[1] उपर्युक्त, पृ० **88–89**
[2] उपर्युक्त, पृ० **85**

कि प्रेमचंद ने नमक–कानून तोड़ने वाले गांधीजी के चुन्दिा व्यक्तिगत सत्याग्रहियों की बजाय जनता के उन स्तरों पर अपना ध्यान केंद्रित किया था, जो अपनी जीवन–मरण की समस्या हल करने के लिए इस आंदोलन में शामिल होकर आजादी की लडाई को गहराई और विस्तार प्रदान करते हैं। प्रेमचंद ने 'खूनी आतंक का हृदय–विदारक चित्र' खींचते हुए उपन्यास के पॉचवें भाग में लिखा है कि 'पुलिस ने उस पहाडी इलाके का घेरा डाल रखा था। सिपाही और सवार चौबीसों घटे घूमते रहते थे। पॉच आदमियों से ज्यादा एक जगह जमा न हो सके थे। शाम को आठ बजे के बाद कोई घर से निकल न सकता था। पुलिस को इत्तला दिये बगैर घर में मेहमान को ठहरने की भी मनाही थी। फौजी कानून जारी कर दिया गया था। कितने ही घर जला दिये गये थे और उनके रहने वाले हबूड़ों की भाँति वृक्षों के नीचे बाल–बच्चों को लिए पड़े थे। पाठशाला में आग लगा दी गयी थी और उसकी आधी–आधी काली दिवारे मानो केश खोले मातम कर रही थीं। दमन इतना बर्बर था कि बुढिया सलोनी भी हंटरों की मार से नहीं बच सकीः 'सलोनी की सारी देह सूज उठी है और साड़ी पर लहू के दाग सूखकर कत्थई हो गये हैं।' गॉव में यह हालत थी तो उधर शहरो में मजदूर हड़ताल कर रहे थे? वहॉ बाजार बंद हो रहे थे और जनता जुलूसो में सडको पर उतर आयी थीः "नैना ने झंडा उठा लिया और मयुनिसिपैलिटी के दफ्तर की ओर चली। और यह दल मेलों की भीड़ की तरह अश्रृंखल नही, फौज की कतारों की तरह श्रृखलाबद्ध था। आठ–आठ आदमियों की असंख्य पंक्तियॉ गभीर भाव से एक विचार, एक उद्‌देश्य, एक धारणा की आंतरिक शक्ति का अनुभव करती हुई चली जा रही थी, और उनका ताँता न टूटता था, मानों भूगर्भ से निकलती चली आती हों।"[1] जनता के व्यापक स्तरों की ऐसी जुझारू एकता के दर्शन इससे पहले कहीं नही होते।

डॉ०शर्मा के अनुसार यह वह जमाना था जब राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस से अलग यहाँ के किसान–मजदूर अपने वर्ग–संगठन बनाने लगे थे। रोज बड़ी–बड़ी किसान–सभाओं की खबरें आती थी। जगह–जगह किसान सभाएँ बन रहीं थी। 'प्रेमाश्रम' के दिनों से कितना अतर हो गया था। लखनपुर के किसान अब अकेले नहीं थे। उनके साथ तमाम इलाके के किसान अपने संगठनों के अंदर अपना एका मजबूत बना रहे थे। वे इस तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि यहाँ पर दो तरह के नेतृत्व सुधारवादी और क्रांतिकारी नेतृत्व के बीच टक्कर होती है। एक तरह पारिवारिक जीवन से लेकर राजनीति तक ढुलमुलयकीन

---

[1] प्रमचद 'कर्मभूमि' पृ० 281–82

अमरकांत है तो दूसरी तरफ महंत का घेराव करने और लगानबदी का नारा देने वाले किसान नेता आत्मानद है। अमरकात के ही संगी–साथी सलीम और हाकिम जिला गजनवी भी हैं, जो कहते है कि "मैं इनके नेक इरादों की कद्र करता हूँ, लेकिन हम और वह दो कैंपों में हैं। स्वराज हम भी चाहते हैं, मगर इंकबाल की सूरत में नहीं।"[1] प्रेमचंद की सहानुभूति स्पष्ट रूप से मेहनतकश जनता के बीच से उभरने वाले सघर्षशील नेतृत्व के साथ है। इसलिए डॉ०शर्मा ने लिखा है कि 'कर्मभूमि' में 'प्रेमचद का यथार्थवाद और बुलदी पर पहुँचा है, क्योंकि उपन्यास पढ़ने के बाद पाठक सोचता रह जाता है– इनकी तकलीफों का कैसे अंत हो? कौन सा रास्ता है जिससे आतंक से इनकी रक्षा होगी? प्रेमचंद उसे यह सोचने पर विवश करते हैं, यह उनकी जबरर्दस्त सफलता है।"[2] पाठकों के सामने प्रेमचंद के यथार्थवाद की बुलंदियों और उनकी कला की बारीकियों का इतने बेहतरीन ढंग से पेश करना डॉ०शर्मा की भी जबर्दस्त सफलता है।

प्रेमचंद का यथार्थवाद दृष्टिकोण और उनकी कला कोई इकहरी नहीं, बल्कि बहुआयामी है। डॉ० शर्मा के अनुसार वह उपन्यास में जिन पात्रों को लेकर कथा रचते हैं, उनके जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। वह जनता की आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयों का चित्रण ही नहीं करते, वह उसकी सजीव सास्कृतिक परपराओं से सच्ची सहानुभूति भी रखते हैं और उसके नृत्य और संगीत में भी रस ले सकते है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में भी मुन्नी, सकीना, पठानिन, सलोनी, सुखदा और नैना जैसे अद्भुत नारी पात्रों की एक पूरी जमात दी है। इन सक्रिय नारी चरित्रों का सकारात्मक प्रभाव डॉ०शांति कुमार, अमरकात, सलीम और लाला समरकांत जैसे मध्यमवर्गीय पात्रों पर भी पड़ता है। इस उपन्यास की एक अन्य विशेषता इस तथ्य पर बल देना है कि हिन्दुओं और मुसलमानों की बुनियादी समस्याएँ एक हैं। एक आजाद इंसानियत की संस्कृति गढ़ने में उनकी सांस्कृतिक समस्याएँ भी एक जैसी है। इस प्रकार यह उपन्यास आजादी के आंदोलन की सभी वस्तुगत आवश्यकताओं पर रोशनी डालते हुए लिखा गया है। डॉ०शर्मा का महत्व यह है कि उपन्यास की अंतर्वस्तु, और प्रेमचंद की कला का सूक्ष्म विवेचन करते हुए उन्होंने इन सभी पहलुओं को बड़े तर्कसंगत ढंग से उजागर किया है।

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 98

[2] प्रेमचद और उनका युग' पृ० 100

कार्ल मार्क्स ने 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में प्रकाशित अपने 10 जून, 1853 के लेख में भारत को 'सामाजिक दृष्टि से पूर्व का आयरलैंड' कहा था।"[1] इसी अखबार में 8 अगस्त, 1853 को प्रकाशित अपने एक अन्य लेख में उन्होंने अत्यत विस्तार के साथ यह दिखलाया है कि भारत के काश्तकार को आयरलैंड और फ्रांस के काश्तकारों जितने अधिकार भी नही है।"[2] अपने पहले लेख में वे अंग्रेजी–राज की विध्वंसकारी भूमिका के बारे में लिखते हैं कि 'हिन्दुस्तान में हुए सभी गह–युद्ध, उस पर हुए सारे आक्रमण वहाँ घटित सारे राज–परिवर्तन, उसकी अनेक अभिजातियाँ, समस्त दुर्भिक्ष एक के बार एक चाहे कितने ही जटिल, वेगवान और विनाशकारी क्यों न जान पड़ते हों, उनके प्रभाव गहरे न होकर मात्र सतही रहे। परन्तु इगलैड ने तो भारतीय समाज के सारे का सारा ढ़ाँचा तोड़ डाला, और उसके नवनिर्माण के कोई लक्षण अभी तक नजर नहीं आते। इस भाँति एक तरफ तो भारतीय जनता की पुरानी दुनिया खो गयी है और दूसरी तरफ नयी दुनिया मिली नहीं हैं, जिससे उसकी वर्तमान दुखःपूर्ण स्थिति और भी करूण हो जाती है। भारतीय समाज के सपूर्ण ढॉचे के इस विध्वंस का सर्वाधिकार शिकार हुआ था यहॉ का काश्तकार। इसलिए उसकी दु:खपूर्ण और करूण स्थिति और भी त्रासद हो जाती थी। 'भारत में ब्रिटिश राज' शीर्षक अपने उपर्युक्त लेख में मार्क्स बताते हैं कि अति प्राचीन काल में यहाँ शासन के तीन विभाग रहे हैं। मार्क्स के शब्दों में वित्त विभाग, अर्थात अदरूनी लूट–पाट विभाग, युद्ध विभाग, अर्थात बाहरी लूट–पाट विभाग, और अंत में सार्वजनिक निर्माण विभाग।' इस सार्वजनिक निर्माण–विभाग का काम था धरती को उपजाऊ बनाना और सिचाई के साधनों का विकास। मार्क्स आगे लिखते हैं कि "अंग्रेजों ने ईस्ट इंडिया में अपने पूर्वाधिकारियों से वित्त–विभाग तथा युद्ध–विभाग तो ले लिये, परन्तु सार्वजनिक निर्माण–विभाग की ओर बिल्कुल कोई ध्यान नहीं दिया। यही कारण है कि वह कृषि, जो अंग्रेजों के स्वतंत्र होड़ के सिद्धान्त के मुताबिक नहीं चल सकती थी, बर्बाद हो गयी।"[3] देशी उद्योग–धंधों और कला–कौशल को बलपूर्वक नष्ट कर देने से यह त्रासदी और भी गहरी हो जाती है।

---

[1] मार्क्स–एंगेल्स, उपनिवेशवाद के बारे में' पृ० 40

[2] उपर्युक्त, पृ० 94

[3] उपर्युक्त, पृ० 41, 42 एव 43

अपने 5 उगस्त 1853 वाले पूर्वोल्लिखित लेख में मार्क्स ने बड़े विस्तार के साथ यह दिखलाया है कि कैसे भारत के अदरूनी ढाँचें को तोड़कर अग्रेज सारी जमीन के मालिक, भारत के सबसे बड़े जमींदार बन बैठे थे। मार्क्स ने ब्रिटिश आज्ञाप्तियों द्वारा क्रियान्वित अंग्रेजीराज की दोनों पद्धतियों जमींदार और रैयतदारी को क्रमशः अंग्रेजी जमींदारशाही का स्वांग और 'फ्रांसीसी कृषक स्वामित्व का स्वांग' बताकर लिखा है कि 'दोनो मे बड़े–से–बड़े अंतर्विरोध हैं, दोनों ही भूमि की काश्त करने वाली जनता के लाभ के लिए नहीं है और न जमीन को अपने हाथ में रखने वाले मालिकों के लाभ के लिए ही हैं।' वे आगे लिखते हैं कि 'बंगाल में, जमींदारी पद्धति के अधीन और मद्रास तथा बंबई में, रैयतवारी पद्धति के अधीन, रैयत किसान, जिनकी संख्या भारत की कुल आबादी का 11/12 है, तबाह–बर्बाद हो रहे हैं।' मार्क्स जमींदारों और रैयतवारी पद्धति के अलावा पटनीदारों और सहायक–पटनीदारों की एक अन्य पद्धति का भी उल्लेख करते हैं, जिसे इन व्यापारिक सट्टेबाजों ने लागू किया था। वे लिखते है कि 'इस तरह मध्यस्थों का एक पूरे का पूरा सिलसिला उठ खड़ा हुआ है, जिसका सारा बोझ अभागे काश्तकार को सहन करना पडता है।' मार्क्स के अनुसार भारत में इंगलैंड की जमीदारशही, आयरलैंड की मध्यस्थ पद्धति, आस्ट्रिया की कर उगाहने वाली पद्धति, फ्रांस की भूदासत्व पद्धति और साथ ही जमीन पर राज्य के असल मालिकाना हल की एशियाई पद्धति इन सभी का मिश्रण मिलता है। वे लिखते हैं कि "इन विभिन्न पद्धतियों के दोषों का सारा बोझ तो भारतीय किसान को ढोना पडता है, किन्तु उनसे मिलने वाली सभी सुविधाओं स वंचित रहता है।"[1] अंग्रेजीराज की इस विध्वंसकारी भूमिका को समझे बिना औपनिवेशिक किसान की त्रासदी को भी नहीं समझा जा सकता। प्रेमचंद अकेले ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय किसान की इस त्रासदी को अपने उपन्यासों में मर्मभेदी कलात्मक संवेदना के साथ मूर्त कर दिया है। डॉ०रामविलास शर्मा अकेले ऐसे आलोचक हैं जिन्होंने प्रेमचंद की इस मर्मभेदी कलात्मक संवेदना का अत्यंत हृदयग्राही सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

प्रेमचंद के तीन उपन्यासों 'प्रेमाश्रम' 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में हिन्दुस्तानी किसानों के जीवन की वृहत्त्रयी बताते हुए डॉ०शर्मा ने लिखा है कि 'गोदान' की मूल्य समस्या ऋण की समस्या है। वे बताते है कि प्रेमचंद किसानों के अलग–अलग पहलुओं पर उपन्यास लिख चुके थे– 'प्रेमचंद' में बेदखली और इजाफा लगान पर 'कर्मभूमि' में बढ़ते हुए आर्थिक संकट

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 93 94 एव 95

और किसानों की लगानबदी की लडाई पर– लेकिन कर्ज की समस्या पर उन्होंने विस्तार से कोई उपन्यास न लिखा था। 'गोदान' लिखकर उन्होंने किसानों की कर्ज की भयावह समस्या पर प्रकाश डाला, जो आये दिन उनके जीवन को सबसे ज्यादा स्पर्श करती है। प्रसगवश मार्क्स ने भी अपने पूर्वाल्लिखित लेख में इस तथ्य का खसतौर से उल्लेख किया है कि फ्रासीसी किसान की तरह भारतीय किसान भी प्राइवेट सूदखोरों का शिकार होता है और उसे फ्रासीसी किसान की तरह भूमि पर पुश्तैनी स्थायी अधिकार भी प्राप्त नहीं है।"[1] अर्थात उसे कभी भी बेदखल किया जा सकता है। डॉ०शर्मा लिखते हैं कि प्रेमचंद समाज के प्रवाह को बहुत गहराई से देखते थे। उस जमाने मे, जब स्वराज का महत्व अंग्रेजी साम्राज्यवाद के अंदर ही रहना था, प्रेमचंद ने लगानबंदी को स्वाधीनता आदोलन की रीढ बतलाया था। उस समय, जब लोग कर्ज की समस्या को किसान–आंदोलन की एक बुनियादी समस्या न समझते थे, प्रेमचंद ने उस पर तेज रोशनी डाली थी। वह बराबर कोशिश कर रहे थे कि आजादी का आंदोलन किसानों की बुनियादी समस्याओं को अपने अदर समेट ले, वह अंग्रेजीराज के शोषण चक्र पर वार्निश करने के बदले उसे जड़ से खोदकर फेंक दे।' डॉ० शर्मा के अनुसार उस समय तक किसान को कर्ज के बोझ से हल्का करने की समस्या किसान–आंदोलन का मुख्य अंग न बन पायी थी।' प्रेमचंद का महत्व यह है कि उन्होंने इस समस्या पर पूरे विस्तार और गहराई के साथ रोशनी डाली है। 'गोदान' की रचना शैली को 'रंगभूमि' से 'किसी हद तक मिलती–जुलती' बताकर डॉ० शर्मा ने लिखा है कि इस उपन्यास की गति धीमी है, होरी के जीवन की गति की तरह। यहाॅ सैलाब का वेग नहीं है, लहरों की थपेड़े नहीं हैं। यहाॅ ऊपर से शात दिखने वाली नदी की भॅवरें हैं जो भीतर–ही–भीतर मनुष्य को दबाकर तलहटी से लगा देती हैं और दूसरो को वह तभी दिखायी देता है जब उसकी लाश उतराती हुई बहने लगे। प्रेमचंद 'रंगभूमि' के सूरदास की तरह होरी पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। यहाँ बहुत सार किसान पात्रों को उभारने के बजाय होरी के रूप में भारत के औपनिवेशिक किसान का ऐसा प्रतिनिधिक चरित्र ढ़ाला गया है, जो 'उन तमाम गरीब किसानों की विशेषताएँलिए हुए है जो जमींदारों और महाजनों की धीमे–धीमे लेकिन बिना रूके हुए चलने वाली चक्की में पिसा करते हैं।"[2] डॉ० शर्मा के अनुसार होरी का अंत उन्हें निर्मला की याद दिला देता है, क्योंकि अकेले और निस्सहाय

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 94

[2] प्रमचद और उनका युग' पृ० 102 एव 103

होरी की मदद करने कोई नहीं आता। यहाँ वे यह सवाल उठाते हैं कि तब क्या प्रेमचद पीछे की तरफ लौट रहे थे। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। प्रेमचद पीछे की ओर नहीं लौट रहे थे, क्योंकि होरी अकेला है तो इसकी जिम्मेदारी ऐतिहासिक परिस्थितियों पर है। डॉ० शर्मा ने 'गोदान' का विवेचन करते हुए इन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर भी विस्तार से रोशनी डाली है।

डॉ० शर्मा बताते हैं कि 'गोदान' में किसानों का शोषण का रूप ही दूसरा है। यहाँ सीधे–सीधे राय साहब के कारिंदें होरी का घर लूटने नही पहुँचते। लेकिन उसका घर लुट जरूर जाता है। यहाँ अंग्रेजीराज के कचहरी–कानून सीधे–सीधे उसकी जमीन छीनने नहीं पहुँचते। लेकिन जमीन छिन जरूर जाती है। वे गोदान' मे मुनाफे और मेहनत के दोनों विरोधी ससारों के बीच निरतर गहरी होती खाई का जिक्र करने के बाद बताते हैं कि इस उपन्यास में एक जमींदार राय साहब, मिल–मालिक खन्ना, मालती और मेहता की दुनिया है, दूसरी तरफ होरी, धनिया, गोबर, शोभा, हीरा वगैरह की दुनिया है। एक के बिना दूसरी का अस्तित्व संभव नहीं है, यानी अपने वर्तमान रूप में। इसलिए प्रेमचंद इन दोनो संसारों के चित्र खींचते है। डॉ०शर्मा के अनुसार अंग्रेजीराज के शोषण की विलायती मशीन को तेल पिलाने वालों में समेरी के रायसाहब मुख्य है। वे लिखते हैं कि "ज्ञानशंकर एक भयंकर खल पात्र हैं, लेकिन गोदान' के रायसाहब को खल कौन कहेगा? सत्याग्रह–संग्राम में बहुत यश कमा चुके है। कौंसिल की मेम्बरी तक छोड़ दी थी और जेल चले गये थे।"[1] लेकिन किसानों के शोषण में कोई कमी नहीं आयी थी। प्रेमचंद क शब्दों में यह नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई खास रिआयत की जाती हो, या डॉड़ और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो' और साथ ही रायसाहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेल–जोल बनाये रखते थे। उनकी नजरें और डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी की तैसी चली आती थी।"[2] डॉ० के अनुसार सत्याग्रह–संग्राम में यश कमाने के बाद भी रायसाहब अमरपाल सिंह और अंगेजीराज के संबंधों में कोई अंतर न पडा था और न ही किसानो के शोषण, दमन और बेदखली में कमी आयी थी।

रायसाहब के मित्र हैं शक्कर मिल के मैनेजिंग डायरेक्टर और एक बैक के मैनेजर मिस्टर खन्ना, जो उन्हीं देश–भक्तों के प्रतिनिधि हैं जिनकी देश–सेवा और बिलायती शराबें

[1] उपर्युक्त, पृ० 102 एव 103
[2] प्रमचद 'गोदान' पृ० 13

पीने पर 'गबन' के देबीदीन ने अपने दिल के फफोले फोड थ। डॉ० शर्मा के अनुसार एक बड़े जमींदार से उनकी दोस्ती आकस्मिक नहीं है। इस तरह के पूँजीपति सामंती हितों से बहुत नजदीकी संबंध कायम रखते हैं। ये किस तरह के पूँजीपति थे, इसके बारे में वे लिखते है कि 'खन्ना हिन्दुस्तान के उन पूँजीपतियों में हैं जिनके कब्जे में बैंक है और जो इस बैंक–पूँजी के बल पर उद्योग–धधों पर कब्जा कर लेते है।' मिस्टर खन्ना भी कौमी–आंदोलन में जेल जा चुके थे और अंहिंसावादी थे। लकिन मजदूरों की हडताल उन्हे बहुत बेजा मालूम होती थी। वे मजदूरों के वेतन में कटौती करते है तो प्रो० मेहता उन्हें फटकारते हैं "आपके मजूर बिलों में रहते हैं..........गंदे बदबूदार बिलों में, जहाँ आप एक मिनट भी रह जायें, तो आपको कै हो जाये। कपड़े जो वे पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोंछेगे। खाना जो वे खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा। मैने उनके जीवन मे भाग लिया है। आप उनकी रोटियाँ छीनकर अपने हिस्सेदारो का पेट भरना चाहते है।"[1] इन अमानवीश परिस्थितियों में रहने वाले मजदूर वेतन कटौती के विरोध में हड़ताल करते है। लेकिन उनकी हड़ताल नाकामयाब रहती है, क्योंकि भीषण बेरोजगारी से फायदा उठाकर नयी भरती कर ली जाती है। प्रेमचद मजदूरों और उनके बरोजगार भाइयों मे एकता की कमी दिखाकर एक बड़ी ज्वलंत समस्या की ओर संकेत करत है।

डॉ० शर्मा लिखते हैं कि "एक तरफ मजदूर लड़ते है खन्ना से, दूसरी तरफ किसान सामना करते हैं रायसाहब के कारिंदों का। लेकिन जहाँ खन्ना और रायसाहब एक–दूसरे के नजदीकी दोस्त हैं और सट्टे और शक्कर के शेयरों की स्कीमों बनाते है, वहाँ किसानों और मजदूरो को एक–दूसरे का पता नहीं है। अपनी लड़ाइयाँ अलग–अलग चलाने की वजह से दोनों में किसी की भी दशा नहीं सुधर पाती। उनके बीच की बड़ी मेहता है, डॉ० शर्मा के अनुसार मेहता के चरित्र के रूप में प्रेमचंद यह दिखाना चाहते थे कि किस तरह से लोग जनता की सेवा कर सकते हैं। वे लिखते हैं कि 'अगर मेहता से होरी को जोड़ा जा सके तो व्यक्ति बनेगा, वह बहुत–कुछ प्रेमचंद से मिलता–जुलता होगा।' मेहता के प्रभाव से ही मालती के चरित्र में परिवर्तन होता है। होरी के संबंध में डॉ० शर्मा की मान्यता हैं कि वह मनोहर और बलराज की तरह सचेत किसान नहीं है। लेकिन फिर भी होरी का चरित्र भारत के अजेय किसान का चरित्र है। 'गोदान' उसके भगीरथ परिश्रम की गाथा है। डॉ० शर्मा के अनुसार 'होरी उन किसानों का प्रतिनिधि है जिनकी जमीन उनके हाथों से निकलती जाती

---

[1] उपर्युक्त, पृ० २४०

हैं। वे मजदूरी करने के लिए मजबूर किये जाते हैं। लेकिन मजदूरी ऐसी कि चार ही दिन मे आदमी की हड्डियां को चूर कर दे।' होरी के लड़के गोबर के सबंध में वे लिखते हैं कि उसमें 'प्रेमाश्रम' के बलराज जैसी दृढ़ता चाहे न हो, तो भी वह नये जमाने की रोशनी देख चुका है। चाहे गॉव में खेती करे, चाहे शहर में मजदूरी, वह दूसरों का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है।"[1] गोबर प्रेमचद का सबसे संभावनापूर्ण पात्र है। मिल में हडताल होती है तो गोबर हड़तालियों में सबसे आगे रहता है। प्रेमचद के शब्दों में गोबर ने "राजनीतिक जलसों के पीछे खड़े होकर भाषण सुने है और उनसे अग–अंग में बिधा है। उसने सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा।"[2] यह गोबर ही भविष्य पर दस्तक दे रहे भारतीय मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि है। प्रेमचंद उसका चित्रण एक सभावनामय पात्र के रूप में कर सके, यह उनकी बड़ी भारी सफलता है।

होरी रायसाहब के दुखों और चिंताओं का जिक्र करता है तो गोबर 'प्रेमाश्रम' के बलराज के लहजे में कहता है, "तो फिर अपना इलाका हमे क्यों नहीं दे देते। हम अपने खेत, हल बैल, कुदाल, सब उन्हें देने को तैयार हैं .....करेंगे बदला? यह सब धूर्तता है, निरी मोटमर्दी। जिसे दुःख होता है, वह दर्जनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा–पूरी नहीं खाता, और नाच–रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज के सुख भोग रहे हैं, उस पर दुखी हैं।"[3] इसी तरह दातादीन में झड़प होती है तो वह कहता है, "कैसी चाकरी और किसकी चाकरी? यहाँ तो कोई किसी का चाकर नहीं। सभी बराबर हैं। अच्छी दिल्लगी है। किसी को सौ रूपये उधार दे दिये और उससे सूद मे जिदगी–भर काम लेते रहे। मूल ज्यों–का–त्यों। यह महाजनी नहीं है, खून चूसना है।"[4] दातादीन को इसी लहजे मे डपटकर जबाब देती है गोबर की माँ धनिया, "भीख माँगो तुम, जो भिखमंगे की जात हो। हम तो मजदूर ठहरे, जहॉ काम करेंगे, वहीं चार पैसे पायेगे।" गॉव के पाखंडी नेताओं को फटकारते हुए धनिया कहती है, "ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले। सूद–ब्याज, डेढ़ी–सवाई, नजर–नजराना, घूस–घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो। उस पर

---

[1] प्रेमचद और उनका युग' पृ० 110, 111, 112, एव 113
[2] प्रेमचद 'गोदान' पृ० 294
[3] उपर्युक्त, पृ० 18
[4] उपर्युक्त, पृ० 183

सुराज चाहिए। जेल जाने से सुराज न मिलेगा। सुराज मिलेगा धरम से, न्याय से।"[1] प्रेमचद के अविस्मरणीय पात्रों में होरी, गोबर, धनिया अन्यतम है, 'गोदान मे प्रेमचद की कला का चरमोत्कर्ष दिखायी देता है। उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण, उनकी कलात्मक संवेदना और रचना–कौशल यहाँ सर्वाधिक बुलंदी पर दिखायी देते है। डॉ० शर्मा के अनुसार 'गोदान' के वर्णन और चित्रण में एक अपूर्व आत्मीयता और तल्लीनता है जो प्रेमचंद के उपन्यासों मे भी कम मिलती है। वे लिखते है कि "प्रेमचंद ने 'गोदान' मे गाँवो की प्रकृति, वहाँ के किसानो और उनके जीवन के बारे मे प्रेम से लिखा है। मानो ये अब बिछुड़ने वाले हो और वह अब इन्हें बार–बार न देख पायेगें।"[2] यह बात सही भी साबित हुई। 'गोदान' की रचना के बाद अधूरे उपन्यास 'मंगलसूत्र' के आरंभिक पृष्ठ लिखने के बाद ही प्रेमचंद का निधन हो जाता है। डॉ०शर्मा बताते है कि 'गोदान' के बाद अगला कदम यही हो सकता है कि मेहता और होरी जैसे लोग अपना एका मजबूत करके रायसाहब और उनके विलायती प्रभुओ के जाल को छिन्न–भिन्न कर दें। 'गोदान' के अगले कदम अधूरे 'मगलसूत्र' के नायक साहित्यकार देव कुमार मेहता और होरी के मिले–जुले रूप हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प० देव कुमार के जीवन दर्शन के ही प्रतीक नहीं है, बल्कि इस आत्म कथात्मक अधूरे उपन्यास में वे स्वय प्रेमचद के ग्रंथावतार हैं। प० देव कुमार इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "दरिंदों के बीच में उनके लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजो का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है।"[3] इन पंक्तियों से 'गोदान' के बाद अगला कदम और प्रेमचंद की भावी दिशा एकदम स्पष्ट है।

डॉ० शर्मा के– 'प्रेमचद और उनका युग' पुस्तक के 'महाजनी सभ्यता' संबंधी लेख में दिखायी देता है कि प्रेमचंद के हृदय में जागीरदारी सभ्यता के प्रति थोड़ा बहुत स्नेह बाकी है। डाँ रामविलास शर्मा के अनुसार वह स्नेह उस पुरानी सभ्यता के वंश के वर्णन में उसके रहे–सहे स्मारक, कुछ उदार जमींदारों, ताल्लुकदारों और बिगड़े रइसों के चित्रण में हमें देखने को मिलता है। यहाँ पर उनका दृष्टिकोण एक ठेठ किस्म का है जो स्वभावतः नये युग के शोषण से व्याकुल होकर पिछले युग के दुख–स्वप्न देखता है और यह केवल कल्पना नहीं। प्रेमचंद ने गाँवों में रहकर देखा था कि पुरानी सभ्यता में पला जमींदार उतना भयंकर नहीं होता जितना कि वर्तमान सभ्यता के सम्पर्क में आया हुआ उसी का जाति भाई

---

[1] उपर्युक्त, पृ० 171
[2] उपर्युक्त, पृ० 97
[3] प्रेमचद और उनका युग' पृ० 102

उस सम्बन्ध में डॉ०रामविलास शर्मा ने लिखा है कि विदेशी सभ्यता ने महाजनी सभ्यता की जड़े हमारे समाज में मजबूती से जमा दी हैं और इसलिए प्रेमचद उसका विरोध करते हैं। इसलिए नहीं कि वह विदेशी है। वह पुरानी सभ्यताा अपनी पुरानी सामाजिक सभ्यता के साथ मिट गयी है। उसमें कुछ दम नहीं बहुत से बहुत उसके लिए सहानुभूति के चार आँसू गिराये जा सकते हैं। परन्तु नयी दिशा एक नयी सभ्यता का पोषित कर रही है और इस सभ्यता की भिति स्वार्थ पर है। यही नहीं डॉ०शर्मा ने यह भी बताया है कि समाज की व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें या तो महाजन बनो, या कर्जदार, ईमानदार के लिये उसमे जगह नहीं, या तो यंत्र से सहयोग करो, या उसकी अनिवार्य गति के नीचे पिसने के लिए तैयार हो जाओ। (प्रेमचद पृ० 55) नई व्यवस्था ने यह करन के लिए मजबूर किया है और कडे संघर्ष के दौर में धन की भूमिका अहम हो गई है कयोंकि धन को देवता बनाकर पूजने की परम्परा इन दोनों वर्ग के मानस पटल पर छा गई है।

कहानीकार प्रेमचंद

डॉ०शर्मा उपन्यासकार प्रेमचद को कहानीकार प्रेमचद से श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रेमचंद के अच्छे से अच्छे और घटिया से घटिया उपन्यासों के बीच भी इतना बडा फासला नहीं मिलता है। इसकी वजह वह यह बताते हैं कि एक बड़े पैमाने पर उनकी कहानी सोचना उनके संस्कारों में शामिल हो गया था। उपन्यासों में उन्हें रस मिलता था। यहाँ उनकी कल्पना आकाश में मुक्त विहग जैसी अपने पंख फैलाकर उड़ जाती सकती थी। कहानी की परिधि उन्हें उपनी प्रतिभा का पूरा करतब दिखाने से रोकती थी। उपन्यासकार प्रेमचंद को संसार के बड़े–से–बड़े उपन्यासकारों के बराबर जगह देकर भी उन्हे कहानीकार की हैसियत से यह दर्जा देनें में संकोच करते है। प्रेमचंद ने ढाई सौ से अधिक कहानियाँ लिखी है, जिनमें से लगभग पचास को डॉ०शर्मा हिन्दी की अमर कहानियाँ मानते हैं। इनमें से भी वे उन कहानियों को अधिक महत्व देते हैं जो किसानों के जीवन से सम्बंधित है। डॉ० शर्मा के अनुसार उनकी सबसे सफल कहानियाँवे हैं जिनमें उन्होंने किसानों के जीवन का चित्रण किया है।

डॉ० शर्मा 'भारतीय कथा साहित्य की जातीय परम्परा से प्रेमचंद की कहानियो का बहुत घनिष्ट संबंध बताते हुए लिखते हैं कि 'प्रेमचंद ने ग्राम कथाओं से कहानी कहना सीखा था, उनकी नकल न की थी। उनकी शैली आमतौर से व्यंग–प्रधान होती थी, उनमें एक तरह का कसाव होता है, एक काव्य तत्व, जो ग्राम कथाओं में भी कभी–कभी मिलता है' ग्रामीण कथाओं का रस ग्रहण करने और उनकी शैली अपनाने के कारण ही 'आमतौर से उनकी कानियों में जो एक ठेठपन है, पाठक हृदय में अपनी बात को सीधे उतार देने की जो ताकत है, वह उन्होंने हिन्दुस्तान के अक्षय ग्रामीण कथा–भडार सीखी है।' इसीलिए उनकी ज्यादातर कहानियाँ बड़े सीधे–सादे ढ़ंग से शुरू होती है। इसके अलावा उनकी कहानियों का लोक रस और कहानी कहने का ठेठ हिन्दुस्तानी ढंग उनकी लोकप्रियता का प्रमुख आधार है। प्रेमचंद के कहानी कहने में एक 'फुर्सत क भाव' का जिक्र करते हुए डॉ० शर्मा लिखते हैं कि "वह कहानी सुनाते हैं, अक्सर लच्छेदार जबान में, वाक्यों को स्वाभाविक गति से फैलने की आजादी देकर, अंग्रेजी बाग के माली की तरह उनकी डालियाँ और पत्ते कतर कर नहीं, फूलों और पत्तियों को हवा में बढ़ने और लहराने की आजादी देकर जिन्दगी के अनुभवों पर भी टीका टिप्पणी भी साथ में चला करती थी। व्यंग्य, अनूठी उपमायें और हास्य बीच–बीच मे पाठक को गुदगुदातें रहते हैं।"[1] इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता डॉ०शर्मा की नजर में यह है कि प्रेमचंद का कहानी साहित्य हमारे जातीय जीवन का दर्पण हैं। हिन्दी–भाषी जनता के उत्कृष्ट–गुण उनके पात्रों में झलकते है। उनके अधिकांश पात्र हास्य–प्रेमी, जिंदादिल, कठिन परिस्थितियों का धीरज से मुकाबला करने वाले, अन्याय के सामने सिर न झुकाने वाले होते हैं। प्रेमचद ने ये सब बातं जनता में देखी थी, इसलिए कहानियों में उन्हें चित्रित कर सके थे।

डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचंद की कहानियों का विभिन्नता विविध पात्रों का भारी जमाव आश्चर्यजनक है। उनकी कहानियों की विषय–वस्तु मे जितनी विविधता है उतनी कम कलाकारों के यहाँ मिलती है। इसी प्रसंग में वे लिखते हैं कि 'पारिवारिक समस्याओं से लेकर राजनीतिक आंदोलन तक वह सभी क्षेत्रों से कहानी के लिए विषय–वस्तु लेते है। उनकी कहानियों का संबंध उन समस्याओं से है, जिनका सामना आये दिन लोगो को अपने जीवन में करना पड़ता है।' डॉ० शर्मा की मान्यता है कि अच्छी कहानी लिखने के लिए विषय–वस्तु का महत्वपूर्ण होना बहुत जरूरी है और साथ ही लेखक को जीवन की भी

---

[1] प्रमचद 'मगलसूत्र' पृ० 231

गहरी जानकारी होनी चाहिए। प्रेमचद में वे ये सभी विशेषतायें पाते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में 'एक महान रचनाकार की प्रचुरता और विविधता' दिखलाते हुए डॉ० शर्मा लिखते हैं कि 'समाज की पीड़ित विधवाए, सौतेली माताओं से परेशान बालक, महंतो और पुरोहितों से ठगे जाने वाले किसान, दूसरो की गुलामी करके भी पेट न भर पाने वाले अछूत, महाजन का सूद भरते–भरते जिंदगी गारत करने वाले किसान, ये और इस तरह के सभी लोग कहानीकार प्रेमचंद में एक अच्छा दोस्त और सलाहकार पाते हैं। समाज के अन्यायी और अत्याचारी, निठल्ले और मुफ्तखोर, अंग्रेजीराज के वफादार मददगार प्रेमचंद में अपनी वह असली सूरत देख सकते हैं जो जनता का पक्ष लेने वाले एक सजग साहित्यकार को दिखयी देती थी।' इसी क्रम में उन्होंने इस विशेष तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि "प्रेमचंद हिन्दुस्तान के उन थोड़े से कलाकारों में हैं। और हिन्दू और मुसलमान दोनों पर वे समान अधिकार से वे लिख सकते हैं। वह बच्चों, बूढ़ों, विधवाओं, पढ़ी–लिखी स्त्रियों और अपढ किसान स्त्रियों का समान सफलता से चित्रण कर सके हैं।"[1] डॉ० शर्मा के अनुसार प्रेमचद की कहानियों में ' घटनाओं का वैसा महत्व नहीं है जैसा चरित्र का है।' वे लिखते हैं कि उनके चरित्र चित्रण की यह बहुत बड़ी सफलता है कि थोड़ी देर के सम्पर्क से ही उनके पात्र बहुत दिनों के परिचित जैसे लगने लगते है और कहानी खत्म कर देने पर भी पाठक को बहुत दिनों तक याद करते है' प्रेमचंद जो भी बात कहते हैं वह अत्यंत सजीव चित्र खींचकर कहते है। डॉ०शर्मा के अनुसार 'कथा की यह चित्रमयता, पात्र को उसकी पृष्ठ भूमि के साथ थोड़े से शब्दों में आँक देने की यह खूबी प्रेमचंद की कला की सफलता का रहस्य है।' प्रेमचंद की कहानियों में उनके पात्रों को सवादों की प्रशसा करते हुए डॉ०शर्मा ने उनकी भाषा के संबंध में लिखा है कि "यहाँ भाषा पर प्रेमचंद का असाधारण अधिकार दिखायी देता है। हिन्दी भाषा कितनी संबद्ध है। इसका परिचय भी मिलता है।"[2] वे तीन बातों के लिए प्रेमचंद की आलोचना करते हैं। पहली यह कि उनकी कहानियों में कही कहीं घटना वैचित्रथ भी मिलता है। दूसरे कुछ कहानियाँ जीवन–चरित्र जैसी हो गयी है। तीसरे कई कहानियों में हृदय–परिवर्तन दिखलाने की कोशिश नजर आती है। ऐसी असफल और कमजोर कहानियों में प्रेमचद का यथार्थवादी चित्रण अपनी चमक खो देता है। कहानीकार प्रेमचंद की कला के बारे में डॉ०शर्मा ने निष्कर्ष रूप में लिखा है कि "उनकी

---

[1] 'प्रेमचद और उनका युग' पृ० 115, 116 एव 117

[2] उपर्युक्त, पृ० 122–123

शैली की चित्रमयता, भाषा पर असाधारण अधिकार, चरित्र चित्रण का कौशल और हर जगह व्यग्य और हास्य ढूँढ़ लेने की क्षमता उन्हें एक प्रभावशाली कलाकार बनाती है। उसकी सहृदयता और मानव प्रेम उन्हें जनता का प्रिय कलाकार बनाते हैं।"[1] प्रेमचंद की उपर्युक्त सभी विशेषताए डॉ०शर्मा ने अपने विवेचन में उनकी अनेक कहानियों के अंश उद्धत करके बडे विस्तार से दिखलायी है। लेकिन उन्होंने अपने विवेचन मे प्रेमचंद की किसी एक या किन्ही चुनिन्दा कहानियों का वैसा सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया है, जैसा उनके उपन्यासों का।

प्रेमचंद की कम–से–कम दो विवादास्पद कहानियों 'पूस की रात' और 'कफन' का सूक्ष्म विश्लेषण डॉ०शर्मा से अपेक्षित था, क्योंकि ये दोनो कहानियाँ प्रेमचंद के किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास से घटकर नहीं है। इसीलिए अनेक विद्वान डॉ०शर्मा के इस निष्कर्ष से सहमत नहीं प्रतीत होते कि कहानीकार प्रेमचद को संसार की चोटी के कहानीकारों के साथ नहीं रखा जा सकता, जबकि उपन्यासकार प्रेमचंद को संसार के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों के बीच यह दर्जा हासिल है।

चन्द्रबली सिंह

चद्रबली सिंह वरिष्ठ मार्क्सवादी आलोचक हैं। 'कलम' पत्रिका के संपादकों में से एक तथा जनवादी लेखक सघ के महासचिव रहे हैं। उनकी पुस्तक 'लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य' (1956ई०) काफी चर्चित रहीं हैं। इसमें 'प्रेमचन्द की परंपरा' शीर्षक निबन्ध सकलित हैं। प्रस्तुत अध्ययन इसी पर आधारित है।

प्रेमचंद ने अपनी परपरा के रूप में जो विरासत छोडी है, उसके लिए उन्हें जीवन में सतत् संघर्ष करना पड़ा है। उनका यह संघर्ष अन्याय और असुदरता के खिलाफ़ रहा है। इससे भी कठिनतर संघर्ष उनका वह है जो एक क्रांतिकारी रचनाकार अपने अतीत के दृष्टिकोणों और मान्यताओं से करता है। प्रेमचंद की निष्ठा और दृढ़ता को स्रोत हिंदुस्तान की करोड़ों जनता थी। उनके विचारों और भावनाओं में इस धरती की धड़कनें मिलती हैं। उनका साहित्य उथल–पुथल के युग में ढला और उसे उस उथल–पुथल से अलग कर आकना उसकी आत्मा से अलग करना है। 'सोजे वतन' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचंद ने

[1] उपर्युक्त, पृ० 117–118

एक लंबा रास्ता तय किया। इन दो छोरो के बीच राष्ट्रीय आदोलन और उसके अनुभवो से प्रेमचंद की राजनीतिक चेतना का विकास होता है, जिससे वे साहित्य में जीवन के सच्चे यर्थाथ का अंकन करते हैं। चंद्रबली सिंह के अनुसार 'सेवासदन' पर मध्यवर्गीय सुधारवाद की छाप है। इसमें वेश्याओं की समस्याओ को मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से देखा गया है। शहर में मध्यवर्गीय युवक वेश्याओं के कारण किस तरह बिगड जाते हैं और किस तरह उन्हें बचाया जा सकता है, 'सेवासदन' की समस्या का एक पहलू यह है। वेश्यावृत्ति के क्या सामाजिक – आर्थिक पहलू हैं; इसका कोई संकेत प्रेमचंद मे नहीं है।

चंद्रबली सिंह के अनुसार गॉधी जी के असहयोग आदोलन का प्रेमचंद पर गहरा असर पड़ा है। वह अपने जीवन में अधिकांश वर्षों तक गॉधीवादी आदर्शवाद और उसके सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों से चिपके रहे। उनके उपन्यासों और कहानियों में जिस यर्थाथ जीवन का वर्णन होता है, 'उस पर सत्य और अहिंसा को हमेशा समस्याओं के समाधान के रूप में यांत्रिक ढंग से आरोपित किया जाता ह। जबकि वह यर्थाथ समस्याओ के समाधान की कोई दूसरी दिशा बतलाता है। (उपर्युक्त, पृ० 132)

यर्थाथ और आदर्श की यह असंगति 'गोदान' तक में मिलती है। गॉधी जी और काग्रेस के नेतृत्व में चलाये गये आंदोलन की असंगतियॉ 'प्रमाश्रम' में देखी जा सकती हैं। यह जरूर है कि 'सेवासदन' की मध्यवर्गीय समस्या को छाडकर राष्ट्रीय समस्या उपन्यास के केन्द्र मे आ जाती है। इस उपन्यास मे प्रेमचंद ने सामती व्यवस्था द्वारा किसानों पर किये गये अत्याचारों का सजीव चित्रण किया, उनके विद्रोह को प्रस्तुत किया पर उपन्यास का अत आदर्शवाद में होता है। सत्य और अहिंसा का इतना गहरा प्रभाव है कि सारी समस्याओं का समाधान प्रेमशंकर के सुधारवादी दृष्टिकोण में मिलता ह। श्री सिंह के अनुसार उनके चरित्रों के अतिरिक्त स्वयं उन पर अहिंसावाद का गहरा प्रभाव उनके अनेक लेखों में दिखता है। 'जागरण' के एक सम्पादकीय में (5 सितम्बर 1932 ई०) कहते हैं कि 'हमारे देश की सस्कृति कर्तत्य प्रधान, धर्म प्रधान, परमार्थ प्रधान, अहिंसा प्रधान, व्रत और नियम प्रधान सस्कृति है'। इसके ठीक अगले अंक में वे यह दिखलाते हैं कि प्राचीन भारत की समाज व्यवस्था संघर्ष पर नहीं वरन् सहयोग पर आधारित थी। इस पर चंद्रबली सिंह टिप्पणी करते हैं कि इन्हीं प्रभावों के कारण प्रेमचद गॉधी जी के संरक्षण सिद्धांत के आगे नहीं बढ़ सके। अत में इन भावों का इन्द्रजाल हटा, जिसके लिए प्रेमचंद को नए अनुभवों से गुजरना पड़ा और इस प्रकार 'प्रेमचंद की कल्पना द्वारा निर्मित वर्ग सहयोग और अहिंसा का स्वप्न अंत में

टूटा ही (उपर्युक्त, पृ० 134)। गॉधी जी का हर तरह से समर्थन करने वाले प्रेमचद ने 'अगस्त 1933 ई०' के 'जागरण' के सम्पादकीय में लिखा – 'जिस दिन देश में ऐसे आदमी बडी संख्या में निकल आयेंगे, जो अपना सर्वस्व स्वराज्य के लिए त्यागने को तैयार हो जाए, उस दिन तो आप ही स्वराज्य हो जायेगा। लेकिन ऐसा समय कभी आएगा, इसमें संदेह है। ऐसी दशा में सत्याग्रही नीति से हमें अपने उद्देश्य प्राप्ति की आशा नहीं।' यही नही 16 अप्रैल 1934 के 'जागरण' के संपादकीय में यहाँ तक लिखा

'अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्मा जी भीतर की आवाज कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की सभावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज नहीं हैं, क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है।'

चद्रबली सिंह कहते हैं कि प्रेमचद का यह स्वप्न इसलिए टूटा कि उन्होंने हमारे साम्राज्य विरोधी आदोलन को हिंदुस्तान के किसानों, मजदूरा आंर आम जनता के दृष्टिकोण से देखा, विशेषतः किसानों के दृष्टिकोण से। प्रेमचंद बहुत पहले से हमारे देश में सामंतवादी व्यवस्था और साम्राज्यवाद के गठबंधन को समझते थे। प्रेमचद की साम्राज्यवाद विरोधी और सामंतवाद विरोधी परंपरा ही उनकी सच्ची विरासत है। श्री सिंह का यह कथन उल्लेखनीय हैः–

'प्रेमचद ने स्वय अपनी ऑखों से किसानों की कविताविहीन दिनचर्या को देखा था। शुरु शुरु में उनका मानवतावादी ह्रदय कुछ ऐसा समाधान ढूँढ निकालना चाहता था जिससे शोषकों और शोषितों दोनों का काम बन जाए और दोनों मे किसी की हानि न हो। कितु जीवन और समाज के प्रति उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण उनमे एक ऊँचे स्तर की मानवता को जन्म दे सका; वह मानवता जो शोषितों के लिए वेदना स भरी थी और शोषकों के लिए घृणा से।' (उपर्युक्त, पृ० 136)।

'हँस' (दिसम्बर 33) में उन्होंने जीवन में घृणा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा : 'जीवन में जब घृणा का इतना महत्त्व है, तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है, जो जीवन का ही प्रतिबिंब है।' संस्कृति के लिए कहा कि जब जनता मूर्च्छित थी, उस पर धर्म और संस्कृति का मोह छाया हुआ था। ज्यों ज्यों उसकी चेतना जाग्रत होती जाती है, वह देखने लगी है कि यह संस्कृति केवल लूटेरों की सस्कृति थी, जो राजा बनकर, विद्वान बनकर, जगतसेठ बनकर जनता को लूटती थी। सन् 32 में 'जागरण' के संपादकीय

मे प्राचीन संस्कृति का गौरवगान वे एक अधराष्ट्रीयतावादी की तरह से करते हैं और सन् 34 मे वह स्वय अपनी कही हुई बात को काट रहे हैं। इस परिवर्तन को प्रो० सिंह विशेष रूप से रेखांकित करते हैं और कहते हैं कि प्रेमचद वर्ग सहयोग की भूमि को छोड़कर वर्ग सघर्ष पर चले आयें। चंद्रबली सिंह प्रेमचंद के विचारों के विकास को दिखाते हुए कहते हैं : 'प्रेमचंद के साहित्य की साम्राज्यवाद विरोधी, सामंतवाद विरोधी चेतना की परिधि में अनेक अन्य समस्याओं के भी समाधान आ गए हैं।' (उपर्युक्त, पृ० 138)। साम्प्रदायिकता पर चोट करने के लिए प्रेमचंद पुनरूत्थानवाद और संस्कृति पर प्रहार करते हैं: 'साम्प्रदायिकता सदैव सस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भाँति खोल ओढकर आती है।' प्रेमचद के निर्मम आकम्रण के कारण ही कभी उन्हें ब्राह्मण विरोधी कहा गया। ज्योति प्रसाद 'निर्मल' ने उन पर यह कहते हुए प्रहार किया कि प्रेमचद की कहानियों में ब्राह्मणो को काले रंग म चित्रित किया गया है क्योंकि उनमें पुजारियों और पुरोहितों पर आक्रमण किया गया है। प्रमचद ने इसका उत्तर अत्यत तीखे स्वर में दिया—'हिंन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक; यही टकेपंथी दल हैं, जो एक विशाल जोंक की भाँति उसका खून चूस रहा है। हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। ('जागरण', 8 जनवरी 1934)।

श्री सिह के अनुसार इस प्रकार प्रेमचंद द्वारा सम्प्रदायवाद के विरूद्ध यह सघर्ष उनके साम्राज्यविरोधी, सामंतविरोधी सघर्ष का ही एक अग था और उसका भी उनकी परंम्परा में महत्वपूर्ण स्थान है। कहा जाता है कि प्रेमचंद की सबसे बड़ी क्रांतिकारी देन यह थी कि उन्होंने हिंदी साहित्य में उन व्यक्तियों का जीवन प्रस्तुत किया जो साहित्य की परिधि के बाहर थे। लेकिन श्री सिंह के अनुसार प्रेमचंद का इससे भी बड़ा काम यह है कि 'उन्होंने हमें दिखलाया कि वे किसान जो आज सामंतवादी शोषण के शिकार होने के कारण अधविश्वासों, अज्ञान, द्वेष, फूट इत्यादि के फंदे में बुरी तरह फँसे हैं, हमारी घृणा के नहीं वरन् सहानुभूति और सम्मान के पात्र हैं। उनमें वह निष्ठा, उत्सर्ग की भावना, संयम, संतोष, उद्यम से प्रेम, सामूहिकता की प्रवृत्ति, धैर्य इत्यादि गुण भी हैं जो हमें उनके शोषकों में नहीं मिलते।' (उपर्युक्त, पृ० 140)। प्रेमचंद का यह रूख उनको हिंदी साहित्य में जनवादी और मानवतावादी परंपरा का एक महान उन्नायक बना देता है। उन्होंने साहित्य में जिस हद तक जनवाद की जड़ें गहरी जमा दीं उस हद तक बहुत कम रचनाकार पहुँच पाये हैं।

चद्रबली सिंह का यह प्रेमचद विवेचन तथ्यों के आधार पर हुआ है जो मार्क्सवादी परम्परा का है। उन्होंने प्रेमचंद के लेखों और संपादकीय मे व्यक्त विचारों के आधार पर उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया है और उनके वैचारिक विकास और गांधीवाद से मोहभंग को सुंदर ढंग से दिखाया है।

नामवर सिंह

डॉ० नामवर सिंह ने 29 जुलाई 94 को गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रेमचंद जयन्ती समारोह का उद्घाटन करते हुए 'प्रेमचंदः सादगी का सौन्दर्य शास्त्र' शीर्षक से एक व्याखान दिया था। इसके पूर्व 15 अप्रैल 1990 को विश्वविद्यालय क हिन्दी विभाग में 'प्रेमचंद और भारतीय उपन्यास' शीर्षक व्याखान दिया जो कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ये दोनों व्याखान 'कर्मभूमि' (सम्पादक–सदानद शास्त्री), प्रेमचद साहित्य सस्थान, गोरखपुर की स्मारिका में प्रकाशित हें इसके अलावे 'प्रेमचंदः अन्तर्विरोध और स्वाधीनता संग्राम' शीर्षक व्याखान और तुलसीदास के बाद हिन्दी का सबसे बडा लेखक' शीर्षक इटरव्यू जिसे राजेन्द्र माथुर ने लिया था, 'प्रेमचद और प्रगतिशील लेखन' (सम्पादक विजय गुप्त, चित्रलेखा प्रकाशन इलाहाबाद– 1980) में संग्रहीत हैं प्रस्तुत अध्ययन इन्हीं व्याखानों पर आधारित है।

प्रेमचंद उन साहित्यकारों में हैं जिन्होने साहित्य को मात्र आनन्द की वस्तु मानने से इनकार कर दिया और उसे ठोस सामाजिक–राजनीतिक सरोकारों से जोडा। प्रेमचंद ने साहित्य का आधार जीवन माना। प्रेमचंद ने पहली बार साहित्य के निर्माण में सामाजिक जीवन की भूमिका का और जीवन के निर्माण में साहित्य की भूमिका का महत्व प्रतिपादित किया। प्रेमचंद के पूर्व 'कहानी कहानी है, जीवन जीवन; दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं'। प्रेमचंद का सौन्दर्यशास्त्र उनकी कहानियों और उपन्यासों की मार्मिक अंतर्वस्तु और रचना–संगठन से निःसृत होता है। उनकी धारणा हैं कि मनुष्य में जो कुछ सुंदर, विशाल, आदरणीय और आनन्दप्रद हैं, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में निराश्रितों, पतितों और अनादृतों को आश्रय मिलना चाहिए। प्रेमचंद का महत्व जटिलता की जगह सरलता को तरजीह देने और सादगी का सौन्दर्यशास्त्र रचने में है। अपनी रचनाओं में जनसाधारण को प्रतिष्ठित कर प्रेमचंद ने सौन्दर्य की परिभाषा बदल दी। प्रेमचंद के अनुसार

दलितों, पीडितों और वंचितों की वकालत करना साहित्य का फर्ज है। डॉ० नामवर सिंह का यह कथन बिल्कुल सही है कि इस तरह की सरलता पक्षधरता से आती है। इस सादगी के सौन्दर्यशास्त्र के बल पर ही प्रेमचंद परवर्ती काल में भी चर्चा के विषय बने रहते है।

प्रेमचंद ने मनुष्य को सभी वस्तुओं और विचारों का नियामक माना है। उन्होंने जीवन और साहित्य, विचारधारा और साहित्य, राजनीति और समाज के संदर्भ में परम्परित अवधारणाओं का विरोध किया। धार्मिक लोगों के मनोगत आवरण को उघाडा। अमूर्त्त और रहस्यवादी लेखन के विरूद्ध जिस यथार्थवादी लेखन की नींव डाली, उसे पाठको का व्यापक समर्थन मिला। इस वैचारिक संघर्ष में जनता ने खुलकर प्रेमचंद का साथ दिया। इस तथ्य से प्रेमचंद साहित्य के जनवादी चरित्र की पुष्टि होती हैं। यही कारण है कि प्रेमचंद की रचनाएँ इस सच्चाई की पेशकश करती हैं कि मानवता के विकास में श्रम का महत्व सर्वोपरि है। श्रम को हेय दृष्टि से देखने वाली सामती विचारधारा पर व निरन्तर प्रहार करते हैं।

प्रेमचंद साहित्य और सुंदरता की कसौटी बदलना चाहते हैं। उनके अनुसार साहित्य का उदेश्य हमारे भावों को उत्तेजित कर झनझनाहट पैदा करना नहीं, उनका परिष्करण करना है। मनुष्य का जीवन केवल स्त्री–पुरूष की विलासिता तक सीमित नहीं है। श्रृगार और भोग–विलास मनुष्य के जीवन का मात्र एक अंश है। और श्रृंगारिक साहित्य किसी जाति के लिए गर्व और गौरव की वस्तु नहीं। इसलिए सामतो की मांसल वृत्तियों को सहलाने वाले साहित्य का प्रेमचंद विरोध करते हैं। वे जीवन के संघर्षो में सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। इस तरह से सामंती सौन्दर्य–दृष्टि के विरूद्ध प्रेमचद ने सादगी के सौन्दर्यशास्त्र की नींव रखी जो मनुष्य में सच्चे संकल्प और संघर्ष की प्रेरणा उत्पन्न करता है। प्रेमचंद का कथन है: 'जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएँ न हो, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी भावों में गुदगुदी पैदा करने के लिए या भाषा–चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो, वह निर्जीव साहित्य है। साहित्य में हमारी आत्मा को जगाने की, मानवता को सचेत करने की शक्ति होनी चाहिए। वह साहित्य जो हमें विलासिता के नशे में डुबो दे, जो हमे वैराग्य, पस्तहिम्मती, निराशावाद की ओर ले जाए, जिसके नजदीक ससार दुःख घर है– उससे निकल भागने में ही कल्याण है।'

'प्रेमचंदः 'सादगी का सौन्दर्यशास्त्र' विषय पर बोलते हुए डॉ०नामवर सिंह ने कहा कि प्रेमचंद की कथा कृतियों की कथासार बताकरके आमतौर पर समीक्षाएं की जाती रही हैं प्रेमचद के कथा–साहित्य का जो पाठ है, लोगों का ख्याल है कि उसमें ऐसी बारीकियाँ नहीं

हैं कि जहाँ हर शब्द और वाक्य को ध्यान से देखा जाय। प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन में प्रेमचंद द्वारा कहा गया एक वाक्य प्रेमचंद के साहित्य को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद का वाक्य था जो उर्दू लिए है कि हम सुन्दरता का मेयार बदलना होगा। सुन्दरता की परिभाषा बदलनी होगी। मेयार सुन्दरता की धारणा या प्रतिमान है जिसे वे बदलना चाहते हैं उदाहरण देकरके प्रेमचंद ने समझाया है कि आसमान में घिर आये बादल में एक किसान को वही नहीं दिखाई पड़ता जो शहर मे रहने वाले लोगों को दिखाई पडता है। एक की नजर में जो सुन्दरता हो जरूरी नहीं कि दूसरे की नजर मे सुन्दर ही हो। सुन्दरता की यह समाज सापेक्ष दृष्टि समाज में किसी आदमी की हैसियत से निर्धारित होती है। अपने कहानी–संग्रह मानसरोवर भाग एक की भूमिका में प्रेमचंद ने कहा कि यहाँ सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है। यहाँ सरलता पर जोर है, और वहाँ कहते हैं कि सुन्दरता का मानदण्ड बदलना चाहिए। इन दोनों में कोई रिस्ता होना चाहिए।

कल्पना और सौन्दर्य के बारे में प्रेमचंद का यह कथन ध्यान में रखना चाहिए कि हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ीकर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फसानये आजाद की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अदभुत रस–प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है यह उस समय कल्पनातीत था। प्रेमचंद ने साहित्य के केन्द्र मे सामाजिक जीवन को रखा और उसे संघर्षो से जोड़ा। सामाजिक कुरीतियों और गैर बराबरी पर जमकर प्रहार किया।

इसके लिए उन्होंने वक्रोक्ति की जगह 'उक्ति' तथा स्वभावोक्ति का महत्व प्रतिपादित किया, जटिलता के स्थान पर सरलता को तरजीह दी। सामन्ती चरित्रों की अपेक्षा साधारण जन को समुचित प्रतिष्ठा दी। उनके इस प्रयास ने 'सौन्दर्य' की परिभाषा बदल दी। परम्परित सौन्दर्यबोध से विचलन की यह प्रवृति निराला कीी 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर', 'कुकुरमुत्ता', 'सरोजस्मृति', और यहाँ तक कि 'राम की शक्ति पूजा' में देखी जा सकती है। प्रेमचंद ने समाज में व्याप्त गहन अंधकार के विरूद्ध संघर्ष करते हुए प्रकाश की पक्षधरता की है। वे लिखते हैं कि जो दलित पीड़ित और वंचित है उसकी हिमायतत और वकालत करना साहित्य का फर्ज है।

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ कहीं न कहीं दलित या स्त्री से जुड़ी हें उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी सामान्यतः 'कफन' मानी जाती है और वह दलितों

की कहानी है। प्रेमचंद की 'सद्‌गति', 'ठाकुर का कुऑं', 'दूध का दाम' ये तीनो उसी से जुडी हें उसके बाद ऐसी कहानियॉ हैं जो पिछडे वर्गो के जीवन पर है। उनके सबसे अच्छे दो उपन्यास– एक 'रंगभूमि' जिसका नायक चमार जाति का सूरदास है। 'रंगभूमि' का सूरदास मुट्‌ठी भर डेढ़ पसली का आदमी इतनी बड़ी ताकत के खिलाफ उठकर खड़ा होता हैं और शहीद हो जाता है। 'गोदान' के होरी महतो पिछर्डी जाति हें और इसलिए प्रेमचद की चाहे कहानियॉ हो या उपन्यास अपनी व्यापक दृष्टि और संवेदनशीलता के कारण प्रेमचद उन ऊँचाइयों को छूते हैं जो दूसरे लेखकों के लिए कठिन था। प्रेमचद ने करूणा से धो–धोकर इन उपेक्षित पात्रों को मनुष्य का दर्जा दिया।

प्रेमचंद ने जो सौन्दर्यशास्त्र रचा है उसमें 'कर्मभूमि' की सुखदा का असन्तोष, 'आहुति' की शीलवती का असन्तोष, 'गोदान' के गोबर का असन्तोष, पछाड़ खाती धनिया का असन्तोष, 'कफन' के धीसू माधव का असन्तोष, 'पूस की रात' की मुन्नी का असन्तोष के व्याज से व्यक्त जीवन की बेहतरी की आकांक्षा की बड़ी भूमिका है। जिस यथार्थवादी लेखन की नींव प्रेमचंद ने रखी उस सिलसिले में पाठक वर्ग का व्यापक समर्थन मिला। जनता ने प्रेमचंद के संघर्ष में साथ दिया अन्यथा देवकी नंदन खत्री ओर गोपालराम गहमरी के व्यापक प्रभाव को काटकर यथार्थवाद का झंडा गाडना सम्भव न हुआ होता। जैनेन्द्र तथा अज्ञेय जेसी दुर्धर्ष आत्मनिष्ठ प्रतिभाओं के आगमन के बावजूद अपनी ऊॅचाई पर स्थिर रह जाना तो उनके जनवादी चरित्र को रेखांकित करता है। प्रेमचद सत्य को खोजते हुए धार्मिक ग्रन्थों में मुँह नहीं घुसेड़ते। उनके विचार हैं– हम अब भी धर्म और नीति का दामन पकड़कर समानता के ऊँचे लक्ष्य पर पहुँचना चाहें तो, तो विफलता ही मिलेगी। उनका मत है कि समता के बिना राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं की जा सकती। और सच यह है कि समाज में समता की स्थापना अहिंसा–प्रेम और करूणा से नही बल्कि जन–संघर्षों के माध्यम से संभव है।

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार– प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में दलितों और स्त्रियों के अलावा पशुओं को भी अपनी सहानुभूति दी है। मनुष्य द्वारा सताया हुआ मनुष्य अन्ततः कुत्ते का साहचर्य पाता है। इस जीवन–संग्राम में मनुष्य और कुत्त का आत्मीय संबंध जीवन की ठोस सच्चाईयों से पैदा हुआ है। 'पूस की रात' में सारी कहानी ठण्ड में ठिठुरते हुए एक आदमी और उसके पालतू कुत्ते की है। किस तरह वे आग जलाते हैं, खेलते हैं, दौड़ते हैं प्रेमचंद इसका सर्जनात्मक अंकन करते हें पूरा प्रसंग मानो प्रेमचंद ने कविता लिख दी हो।

लगभग यही स्थिति 'दूध का दाम' (1934) में है। मंगल, जिसका जब कोई सहारा नहीं रहता तो आखिर में टामी का सहारा मिलता है। दलित लडका या पुरूष या कोई हो, एक स्त्री और फिर एक पशु ये तीनों जहॉ होते हैं, प्रेमचंद अपनी कहानी में या किसी कथाकृति मे एक नई जान डाल देते हें यह हिन्दी कथा–साहित्य का जनतंत्रीकरण है जहॉ सताया हुआ मनुष्य और कुत्ता पूरी आत्मीयता और निश्छलता के साथ एक ावभूमि पर उपस्थित हें प्रेमचंद का यही कौशल है कि वे जन्दगी के आस–पास स समस्याएं चुनते हैं जो बहुत महत्वपूर्ण नहीं समझी जाती। आरम्भिक दिनों से उनकी कहानियों में ये लाल धागा दिखाई पडता है। क्रमशः इन विषयों को लेकर लोगों ने सिद्धान्त बनाये होगें। तब इस ओर लोगों का ध्यान गया।

डॉ० नामवर सिंह ने आगे कहा कि 'सद्गति' और 'ठाकुर का कुआँ' दोनों कहानियों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए वे परस्पर पूरक हैं। 'सदगति' (1931 ई०) में पुरोहित वर्ग और दलितों के बीच रिस्ते का मार्मिक अंकन है। पुरोहित वर्ग कितनी अमानवीय क्रूरता के साथ दलितों का उत्पीड़न और शोषण करता है, यह कहानी दिखाती है। धर्म का एकदम विकृत रूप पुरोहित वर्ग में दिखता है। ऐसे ही धर्म के ठेकेंदारों के लिए तुलसी दास ने लिखा हैः 'बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं'। इसका ठीक दूसरा पहलू 'ठाकुर का कुऑ' (1932 ई०) में चित्रित हुआ है। ठाकुर लाठी और आतंक के बल पर दलितों का दमन करता है। ये दोनों पहलू इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि प्रेमचद दलितों पर होने वाले सामाजिक–आर्थिक या धार्मिक अत्याचार को बड़ी शिद्दत से उजागर करते हें इस प्रकार की कहानियों का लेखन–काल भी देखा जाना चाहिए। इससे यह पता चलता है कि कैसे प्रेमचद का लेखन उत्तरोत्तर निखरता गया। इसी तरह की सन् 1929 की एक कहानी है 'गुल्ली–डंडा'। इसमें सादगी का सौन्दर्यशास्त्र प्रकट हुआ है। कला निष्कर्षों मे नहीं, ब्यौरों और वर्णन की बारीकियों में हुआ करती है। 'गुल्ली–डंडा' की कला उस ब्यौरे में हैं जहाँ पहली बार वे बचपन की स्मृतियों को दुहराते हें उसमें प्रेमचंद धीरे से कहते हैं कि क्यों गुल्ली–डंडा का खेल और बचपन की याद मुझे अच्छी लगती हें वे याद करते हैं खेल में पढ़ना–पढ़ाना और लड़ाई–झगड़े, वह सरल स्वभाव जिसमें छूत–अछूत, अमीर–गरीब का भेद लुप्त था। जिसमें अमीराना चोंचलों के प्रदर्शन और अभिमान की गुंजाइश न थी।

उस पूरे खेल का वर्णन प्रेमचंद कितना रस लेकर करते हें यद्यपि वह खेल नहीं था, खेल का भुलावा था। यह कहानी इसलिए महत्वपूर्ण है कि प्रेमचंद ने दमन, शोषण और

अत्याचार का जिक्र कहीं नहीं किया है। जैसा उनकी बहुत सारी कहानियों में होता है पर जो संकेत से कहा है वह बहुत अर्थगर्भी है।

'ठाकुर का कुँआ' कहानी में पीने के पानी की समस्या को उठाया है। यह वही समय है जब डॉ०अम्बेडकर पानी के सवाल को लेकर संघर्ष कर रहे थे। यही जीवन की विडम्बना है। प्रेमचंद ने निहायत जरूरी चीज पानी को इस कहानी का विषय बनाया। मनुष्य–मनुष्य का इतनी दूर तक दमन कर सकता है कि साधारण सी चीज पानी जो सहज रूप में उपलब्ध होना चाहिए, वही पानी नहीं मिल रहा है जबकि कुएँ भरे पड़े हैं यहाँ प्रेमचद एक साथ तीन वर्णों को पूरी चर्चा में ले आते हैं जब गंगी ने कहा कि मैं पानी लाने जा रही हूँ, तो जोखू कहता है बाभन देवता आर्शीवाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू जी एक के पाँच लेंगें। गरीबों का दर्द कौन समझता है। यहाँ प्रेमचंद ने तीनों वर्णों की असलियत उजागर करते हैं– एक आर्शीवाद देंगें, पानी न देंगे; एक लाठी देंगें, पानी न देंगे, एक एक के पाँच लेंगें फिर भी पानी न देंगें। आगे चलकर इस पूरी कहानी में प्रेमचंद कहीं कोई ऐसी बात नहीं करते।

'ठाकुर का कुआँ' में प्रेमचंद कहते हैं– "गंगी का विद्रोह दिल रिवाजी पाबन्दियों और मजबूरियों पर चोटें करने लगा।" "हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं। चोरी ये करें, जाल फरेबी ये करें, झूठे मुकद्में ये करें, अभी इस ठाकुर ने उस दिन बेचारे गड़ेरिये की एक भेड़ चुरा ली और बाद को मार कर खा गया। इन्हीं पंडित जी के घर में तो बारहों मास जुआ होता है और यही साहू जी घी में तेल मिलाकर बेंचते हैं किस बात में हमसें ऊँचे हैं? प्रेमचंद एक नयी नैतिकता का सवाल उठाते हैं– कौन नीच है कौन ऊँच। यदि मनुष्य कर्म से ऊँच–नीच होता है तो कर्मो के आधार पर नियम होना चाहिए न कि जन्म के आधार पर। गंगी सिर्फ सवाल पूछती है किस बात में हमसे ऊँच हैं? कौन सा कर्म इनका हैं जिनसे ये ऊँचे हैं और कौन सा कर्म हमारा है जिससे हम नीच हैं? फिर पूरी कहानी केवल पानी के बारे में नहीं रह जाती। बल्कि निहितार्थ यह है कि लोटे का पानी जो बदबू दे रहा है उससे ज्यादा गंदी, बदबू–भरी ये समाज व्यवस्था है जो सड़ी हुई है। जो लोग शुद्ध जल पीने वाले हैं और जो व्यवस्था बनाते हैं उनकी व्यवस्था ज्यादे बदबूदार है। जो बदबूदार पानी पीने वाले लोग हैं स्वयं दलित वर्ग के वे कैसे चरित्र वाले हैं यह विरोधाभास प्रेमचंद दिखाते हैं। कुएँ पर जब गंगी पहुँची तो दो औरतें बात कर रही थीं जो ऊँचे घरों की थीं। वे कह रही थीं रात को

पतिदेव ताजा पानी लाने का हुकुम दे देतें हैं। अपने वो बैठे आराम कर रहे हैं और गुलछर्रे उडा रहे हैं, हमें भेज दिया कि तुम ले आओ ताजा पानी। जैसे लौडियाँ हैं हम; जो औरते हैं उनमें से ही एक कहती है लौड़ियाँ (दासी) नहीं हो तो क्या हो तुम। रोटी कपडा नहीं पाती, दस पॉच रूपये भी छीन झपट कर ले ही लेती हो और लौडियाँ कैसी होती हैं। अर्थात् वह व्यवस्था जो समाज के एक तबके को पानी नहीं देती उसी व्यवस्था के दावेदार अपने घर की स्त्रियों को दासी समझते हैं। पुरूष सत्तात्मक समाज औरत अर्थात आधी दुनिया को गुलाम बनाये हुए है। यह वही है जो अपने समाज के एक बहुत बड़े हिस्से (दलितों) को गुलाम बनाये हुए है। इस कहानी में प्रेमचंद एक उपमा देते हैं। अचानक जैसे ही पानी का घडा रस्से में बाँधकर उसमें डुबोया, ठाकुर का दरवाजा खुला– और शेर का मुँह इससे अधिक भयानक नहीं होगा। इस आतंक को रात का सन्नाटा अच्छी तरह व्यक्त करता है और गगी डरकर वहाँ से लौटती है तो वही बदबूदार पानी पीते हुए जोखू को देखती है। यह मूक विद्रोह पाठक के मन में विस्फोट पैदा करता है। प्रेमचंद उसका आभास कहानी में एक जगह कराते हैं। रस्सी टूटकर जब घड़ा धड़ाम से पानी में गिरा– कई क्षण तक उसमे हिलकोरों की आवाज सुनाई दी। इससे ज्यादा लेखक प्रेमचंद कोई टिप्पणी नहीं करते। इसमें कोई निष्कर्ष या उपदेश नहीं। सिर्फ रस्सी हाथ से छूटी, धड़ाम से घड़ा गिरा और घडा गिरने के बाद पानी में हिलकोरों की आवाजें–बस। यह है सादगी का सौन्दर्यशास्त्र। इस पूरी कहानी में प्रेमचंद कई संकेत देते हैं।

डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में प्रेमचंद के साथ बहुत बडा है। प्रेमचंद का जो कैनन तैयार किया गया है– सेलेक्शन किया गया हैं उसमें 'बड़े की घर बेटी' जैसी कहानियाँ रखी गई हैं। जहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य के प्रति किया गया अन्याय इसी समाज द्वारा इसी समाज में रहने वाले लोगों के प्रति किया गया अन्याय है ऐसी कहानियों को बाहर रखा गया है। उस अन्याय की व्यथा–पीड़ा का ऐसा चित्रण जो हमें इस हद तक झकझोर दे कि हम स्वयं अपनी उस व्यवस्था जिसको अनजाने संस्कारवश ढ़ोते चले जा रहें है, के खिलाफ हो जॉय–यह प्रेमचंद का सर्जनात्मक कौशल है। प्रेमचंद की कहानियों में जहाँ अर्थगर्म प्रसंग हैं उनको केवल रेखांकित कर देने की जरूरत है। वे अपनी व्याख्या करने में स्वयं समर्थ हैं, यही प्रेमचंद की ताकत है। आलोचना में उन स्थलों को केवल दिखला दिया जाय जहाँ कहानी का प्राण निवास करता है। आलोचना जितनी संक्षिप्त होगी उतनी सार्थक होगी।

प्रेमचंद की 'भाषा' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने कहा है: "प्रेमचंद ने भाषा व संस्कृति के सौन्दर्यपरक अभिजात्य की घेरे बंदी को तोडने के प्रयास अपनी उन रचनाओं में भी किया है जिनमें पात्रों का अभिषेक आदर्शीकरण से किया है और जहॉ उनका अन्तर्विरोध प्रत्यक्ष है। प्रेमचंद की भाषा मे भारत की जनता बोलती, हॅसती–रोती, खीजती, आगाह करती, कराहती, आतंक और पीडा से चीखती सुनाई पडती है। शुद्ध सरल, खरी, सजीव और लचीली भाषा जिसका सृजन मानो जानबूझकर सोद्देश्य और महान कला के लिए किया गया है। भाषा का यह जनतंत्रीकरण उनके सृजनशील सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्रतिफल है।"

प्रेमचंद सुन्दरता की कसौटी बदलना चाहते हैं। यह वही कालखण्ड है जब इटली मे अन्तोनियों ग्राम्यी, भाववादी क्रोचे की सौन्दर्य दृष्टि तथा अभिव्यंजना प्रणाली का प्रतिवाद कर रहे थे। प्रेमचंद का कहना था कि– हमे सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख–दुख, आशा–निराशा प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था। उसकी निगाह अन्तःपुर और बंगलों की ओर उठती थी। झांपडी और खण्डहर उसके ध्यान के अधिकारी न थे। उन्हें वह मनुष्यता की परिधि के बाहर समझता था। कभी इनकी चर्चा करता था तो इनका मजाक उड़ाने के लिए। राजाओं और सामंतो की मासल वृत्तियों सहलाने वाले सौन्दर्यबोध के मानदण्ड का समग्र प्रत्याख्यान प्रेमचंद का चरम लक्ष्य था।

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार "दुनिया से किनाराकशी प्रेमचंद के सौन्दर्यशास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल है। वे जीवन–संग्राम में सौन्दर्य का दर्शन करते हैं, खेत की मेड़ पर बच्चे को सुलाकर खेत में पसीना बहाती रूप रहित मजदूरना मे सौन्दर्य देख पाते हैं। अभिप्राय यह कि अभिजात सौन्दर्य–दृष्टि के विपरीत प्रेमचंद ने नये सौन्दर्यशास्त्र की नींव रखी तथा रगे होठों और कपोलों की आड़ में छिपे रूप–गर्व और निष्ठुरता की पहचान की। और मुरझाए हुए होठों एवं कुम्हलाये हुए गालों के आँसुओं में त्याग, श्रृद्धा और कष्ट–सहिष्णुता की महिभाव मर्म का उद्घाटन किया। प्रेमचंद के सादगी का सौन्दर्यशास्त्र की पृष्ठभूमि यह है। हमारी कला यौवन के प्रेम में पागल है और यह नहीं जानती कि जवानी छाती पर हाथ रखकर कविता पढ़ने, नायिका की निष्ठुरता का रोना रोने या रूपगर्व और चोंचलों का सिर धुनने में नहीं है। जवानी नाम है आदर्शवाद का, हिम्मत का, कठिनाई से मिलने की इच्छा,

आत्म त्याग का। प्रेमचंद सौन्दर्य की व्यापकता की बात करते हैं जब वह सकुचित परिधि को तोड़कर बाहर आ जायेगा। वह किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित न होगा, उसकी उडान के लिए केवल बाग की चारदीवारी न होगी, वह वायुमण्डल होगा, जो सारे भूमण्डल को घेरे हुए है। जब कुरूचि हमारे लिए सहन न होगी, तब हम उसकी जड़ खोदने के लिए कमर कस कर तैयार हो जायेंगें। हम ऐसी व्यवस्था को सहन न कर सकेंगें कि हजारों आदमी कुछ अत्याचारियों की गुलामी करें, तभी हम केवल कागज के पृष्ठों पर सृष्टि करके के ही सतुष्ट न हो जायेंगे, किन्तु उस विधान की सृष्टि करेंगे, जो सौन्दर्य, सुरूचि, आत्म–सम्मान और मनुष्यता का विरोधी न हो।"

प्रेमचंद ने इसके लिए यह आवश्यक समझा कि प्रभुत्वशाली संस्कृति संम्बन्धी दूसरी मान्यताओं पर भी आक्रमण किया जाय। इस सिलसिले मं उन्होनें भारतीय समाज की सरचना के सन्दर्भ में राष्ट्रीयता को नये सिरे से परिभाषित किया। राष्ट्रीयता की पहली शर्त, वर्ण व्यवस्था, ऊँचनीच के भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड खोदना है। सामन्तवाद की सबसे मजबूत नस पकड़ते हुए वे आगे कहते हैं कि पुरोहितों के प्रभुत्व के दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं, समाज और राष्ट्र की भलाई उनकी समाप्ति में है। यह भेदभाव, यह एकागी प्रभुत्व, यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटाई जाए। अपन इस अभियान में प्रेमचंद जनता के आदमी बनते हैं, उस भाषा में कथा रचते हैं जो जनभाषा है, वैसी कला का पक्ष ग्रहण करते हैं जो जनकला है। अपनी इसी सोच को मानवीय धरातल के वृहत्तर फलक के मद्देनजर कहते हैं–'जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा तब तक मानव समाज का उद्धार नहीं हो सकता।'

डॉ० सिंह ने व्याखान का समापन करते हुए कहा कि "प्रेमचंद साहित्य का आधार जीवन को मानते थे। उनके सादगी का सौन्दर्यशास्त्र का आधार भी जीवन है। उनकी लगभग सारी रचनाएं सोदेश्य हैं एवं जीवन की बेहतरी के लिए संघर्ष करती रचनाएँ हैं, सुधारवादी और हृदय परिवर्तन वाली रचनाएँ भी उनकी सौन्दर्याभिरूचि के अनुकूल पाठकों को सीख देती हुयी, बुराइयों से ऊपर उठातीं और उन्हें भला बनाने के लिए द्वन्द्व को व्यक्त करती हैं एवं उन्हें अन्याय, अत्याचार और विषमता के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा देती हैं। प्रेमचंद ने सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य की स्थापना कहानी और उपन्यास जैसी विधाओं को आधार बनाकर करते हैं जिन्हें अब तक कहने–सुनने की चीजं माना जाता रहा है; जिनके माध्यम से कोई गंभीर बात कही ही नहीं जा सकती। क्या कहानी और उपन्यास सिर्फ

मनोरंजन की वस्तु है? ऐसी धारणा प्रभुत्वशाली विचारधारा का ही अंग है। प्रेमचंद के कथा साहित्य के समक्ष उपर्युक्त किस्म की प्रभुत्वशाली अवधारणाय आज धूल चाटती नजर आ रही हैं।

'प्रेमचंद और भारतीय उपन्यास' विषय पर बोलते हुए डॉ० नामवर सिंह ने कहा– "नावेल नाम की जिस विधा का दावा यूरोप करता है उसका एक ऐतिहासिक सामाजिक आधार है और दूसरा उसका रूपगत या मूलगत आधार हैं। ऐतिहासिक सामाजिक आधार यह है कि नावेल यूरोपीय संदर्भ में नये उभरने वाले मध्यवर्ग का महाकाव्य माना गया हैं। यह बात हीगेल ने कही है। औद्योगीकरण और पूँजीवाद के उदय के साथ पुराने अभिजात वर्ग (मध्यवर्ग) की आज्ञाओं आकांक्षाओं, विचारधाराओं और कलाबोध के रूप में नये कथात्मक गद्यरूप का उदय हुआ। इसलिए नावेल यूरोपीय विधा है। यूराप में भी नावेल का रूप केवल ऐतिहासिक सामाजिक वर्ग से बँधे हुए साहित्य रूप की तरह नहीं है बल्कि उस रूप में एक मूल्यबोध भी है। यूरोप के आलोचकों ने इस पर गहराई से विचार किया और एक मूल्य बोधक संकल्पना के रूप में नावेल को रखा। सब नावेल नही है बल्कि नावेल उसमें से कुछ ही है। डॉ० सिंह ने कहा कि– अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० एफ० आर० लेविस ने 'ग्रेट ट्रेडिशन्स' (**1948**) में दृढ़ता के साथ अंग्रेजी उपन्यासों में कवल **6** लेखकों का नाम लिया जिसमें जेन आस्टिन, जार्ज इलियट और हेनरी जेम्स और जासेफ कोनराड प्रमुख हैं। तात्पर्य यह कि आस्टिन से पहले रिचर्डसन और फील्डिंग जैसे बड़े उपन्यासकार लेखक थे। उन्होंने उपन्यास की पृष्ठभूमि तैयार की थी। उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स को लेविस ने यह कहते हुए खारिज कर दिया कि ही वाज ए ग्रेट इन्टरटेनर बट ही वाज नाट ए नावेलिस्ट। नावेल केवल वर्णनात्मक या **descriptive term** नहीं रहा बल्कि नावेल एक मूल्य बोधक शब्द हो गया।

डॉ० नामवर सिंह ने आगे कहा कि "नावेल के रूप विधान पर और उसके सिद्धान्त पर विचार करने वाले बड़े महत्वपूर्ण आलोचकों में जार्ज लुकाच हैं उन्होनें कहा कि नावेल एक विशेष प्रकार का रूप विधान है जिसमें निर्धारक तत्व है समस्याग्रस्त हीरो **(Problematic Hero)**। ऐसा पुरूष जिसकी अपने समाज से अनबन हो, जिसको, पूरा अहसास हो कि उसके आस–पास का पूरा समाज भ्रष्ट और मूल्यहीन है। अपने अकेलेपन के गहरे अहसास के साथ वह उसमें वांछित मूल्यों और आदर्शो के लिए छटपटाता रहता

है। जिस कृति में यह न मिले वह उपन्यास नहीं है। इस दृष्टि से उन्होंने स्टेन्डिल के उपन्यासों को चुना। इसमें फ्लाबेयर, दोस्त्योवस्की और तोल्सताय के उपन्यासों को रखा।

डॉ० सिंह के अनुसार– "मध्यवर्ग की कुछ ऐसी विचार धारायें थी जो नई रूप विधा को आकार देने में सहायक हुई। उनमें से एक व्यक्तिवाद है, दूसरा अनुभववाद जहाँ जीता जागता इंसान अपने वास्तविक परिवेश के साथ चित्रित किया जाता हो, जहाँ परिकथाओ की कपोल कल्पना न हो, केवल रोमांस न हो या जिसे दास्तान या किस्सा कहा है वही न हो। **Formal realism,** रूपगत उपन्यास का गुण, उसका मूल्य और उसकी सारी विशेषताएँ अन्ततः सत्ता से जुड़ी है। उपन्यास की परिकल्पना के मूल में ही सत्ता को चुनौती देने का आधार था। नये मध्यवर्ग के उदय के साथ नारी की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। जिस नारी को वाणी नहीं प्राप्त थी वह उपन्यास विधा के साथ कर्ता या कर्त्री के रूप में सामने आयी और मुखर हो उठी।

डॉ० सिंह ने कहा कि– "बगला में दुर्गेशनन्दिनी जब आया तो आयशा इतनी महत्वपूर्ण चरित्र थी कि नायक की अपेक्षा उस आयशा ने लोगों का ध्यान खींचा। उन्नीसवीं शताब्दी स्त्रियों की लिखी हुई आत्मकथाओं से भरी पड़ी है। विशेषकर बंगला और मराठी मे, उर्दू में पहला महत्वपूर्ण उपन्यास रुस्वा का **1899** मे 'उमराव जान अदा' छपा है। उपन्यास का सम्बन्ध यूरोप में केवल मध्यवर्ग से ही नहीं बल्कि उसका गहरा सम्बन्ध उस नयी नारी की परिकल्पना के साथ हुआ इस पूरो मूल्य विधान को तोड़कर मध्यवर्ग के उदय के साथ एक नये नारी आदर्श की परिकल्पना हुई जहां नारी उस घुटन भरे दायरे से निकल कर अपनी अस्मिता को प्राप्त करने का प्रयास करती है। नये ऐतिहासिक परिवर्तन के साथ यह सम्भव हो सका। नये पत्र पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से बहुत से उपन्यास विभिन्न भाषाओं में उन्नीसवीं सदी के मध्य में छपे थे। **1902** में 'समालोचक' पत्रिका में माधव प्रसाद मिश्र ने "उपन्यास और समालोचना" नाम से लेख लिखा, जिसमें बताया गया कि उपन्यास शब्द और उपन्यास का रूप विधान दोनों हिन्दी ने बंगला से लिया। जिस तरह से पूरब बनाम पश्चिम की टकराहट में पश्चिम की आलोचना करने के साथ ही समूची आधुनिकता को चुनौती देकर उन सामंती मूल्यों को प्रतिष्ठा दी जा रही है, उस हिसाब से बंकिम के उपन्यासों में जिन मूल्यों की प्रतिष्ठा की गई वह सब कितनी दूर तक नये उभरने वाले मध्यमवर्गीय मूल्य हैं इसकी भी चर्चा होनी चाहिए जो कि वस्तुतः आधुनिक न होकर

मध्यकालीन है। उनके उपन्यासों में विशेष प्रकार के शौर्य आर पराक्रम प्राणों का बलिदान देने वाली क्षमता दिखाई देती है।

डॉ० सिंह ने अपने वकतव्य में कहा कि –"उन्नीसवी शताब्दी में उपन्यास के नाम पर जो कुछ हमारे यहाँ आया उसमें दास्तान और किस्सागोई, आख्यानक, कथात्मकता आदि ये सारी चीजें मिलेगीं। भारत में उपन्यास का उदय मध्यवर्ग के महाकाव्य के रूप में नहीं हुआ। किन्तु आधुनिकता के परिपेक्ष्य में गद्य सर्वप्रथम निबन्धों में मिलता है। इसके बाद आधुनिक बोध का समावेश कविता में हुआ। श्रीधर पाठक जिस समय 'एकान्तवासी योगी' का सर्जनात्मक अनुवाद कर रहे थे, नये ढंग की कविताएँ लिख रहे थे, ठीक उसके समानान्तर किशोरी लाल गोस्वामी उपन्यास लिख रहे थे जिसका आधुनिकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। 19वीं शताब्दी यह बहस करने में लगी रही कि कविता ब्रजभाषा में ही हो सकती है खडी बोली में नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे महान साहित्यकार जिसने हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रवर्तन किया, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उपन्यास न लिखना इस बात का प्रमाण है कि उन्नीसवीं शताब्दी में उपन्यास सम्भव नहीं था। महान साहित्यकार जो कुछ लिखते हैं वह महत्वपूर्ण होता है। वह जो नहीं लिखते है उससे कम महत्वपूर्ण नहीं हुआ करता। लेकिन मेरी समझ में उपन्यास न लिखते हुए भी भारतन्दु ने उपन्यास की सबसे सटीक और सबसे अच्छी परिभाषा दी। और वह परिभाषा है, कुछ आप बीती कुछ जग बीती। यह कहते हुए वे वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का निर्वाह या यथार्थ और कल्पना इन दोनों का समन्वय जिस खूबी से कर ले गये इससे उचित परिभाषा और क्या हो सकती है। बंगला, उर्दू, मराठी तथा गुजराती में गद्य–पद्य मे समानता है और कविता तथा उपन्यास लेखन में कोई भेद नहीं पाया जाता। इसलिए इनमें उपन्यासों की भी वृद्धि होनी चाहिए। परन्तु हिन्दी में उपन्यास इतने विलम्ब से विकसित हुआ इसके अनेक कारणों पर विचार किया जाना चाहिए।

डॉ० नामवर सिंह ने कहा– "ढाई सौ साल तक हिन्दी में रीतिकाव्य की रचना होती रही यह सामंतवाद की मजबूती का संकेत है। प्रेमचंद का महत्व सामंत विरोधी चेतना के सदर्भ में उभरता है। सामंतवाद जहाँ इतना अधिक मजबूत हो रहा हो एवं जिस प्रदेश की भाषा गद्य और पद्य के बीच इतनी खण्डित हो रही हो जो साहित्यिक दृष्टि से दो जीभों वाला प्रदेश रहा हो– कविता ब्रज में लिखता रहा हो और गद्य खड़ी बोली में उस प्रदेश में प्रेमचद जैसा एक उपन्यासकार अचानक पैदा हो यह अपने आप में चमत्कार है। मध्यवर्ग से

उपन्यास का उदय नहीं हुआ भले ही हमारे लेखक मध्यवर्ग के रहे हो। उपन्यास के उदय और विकास की दो स्थितियां हैं। एक रेखीय विकास के रूप में और दूसरा एक से अधिक रूपो में पल्लवित होने में।

डॉ० सिंह के अनुसार– "उपन्यास राष्ट्रीय मुक्ति के आन्दोलन के प्रवक्ता के रूप में विकसित हुआ और उस राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन का प्रभाव किसानों के सघर्ष में किसानो की भूमिका से जुड़ा है। भारत में कहीं न कहीं उसका मूलाधार और अन्तर्वस्तु वह किसान चेतना है जो एक ओर प्रेमचंद के प्रेमाश्रय, रंगभूमि, कर्मभूमि, गोदान में है और दूसरी ओर यह चेतना विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, मानिक बंद्योपाध्याय, ताराशंकर बंद्योपाध्याय के अधिकांश उपन्यासों में है। जो बात फकीर मोहन से शुरू वही आगे चलकर हिन्दी मे रेणु, गुजराती में पन्नालाल पटेल, मराठी में वैंकटेश नागुलकर, मलयालम में कषी। शिवशंकर पिल्लै के उपन्यासों की मुख्य धारा में प्रकट हुई। यही भारतीय उपन्यास का मूल स्वरूप है जिसकी शुरूआत 19वीं शताब्दी में हो चुकी थी। इसके अन्तर्गत नये नारी आदर्श और नारी की स्वाधीनता से उपन्यास कितनी गहराई से जुड़ा हुआ था यह विचारणीय है। 1899 में रूस्वा का 'उमरावजान अदा' नामक उपन्यास छपा और मेरी समझ में 'उमरावजान अदा' अपने रूप विधान में और यथार्थवाद में उस भारतीय उपन्यास का सुत्रपात तो करता ही है स्वय अपनी अन्तर्वस्तु में उस नारी की वेदना, पीड़ा, करूणा जिसके साथ उपन्यास का गहरा सम्बन्ध है, को भी प्रकट करता है। जिस धारा को रूस्वा ने उठाया उसके सर्वोत्तम और लोकप्रिय कथाकार शरतचन्द्र हैं। जिसका आगे चलकर विकास जैनेन्द्र के रूप में हुआ और अज्ञेय के 'शेखर! एक जीवनी' का नायक भले ही शेखर हो लेकिन इस उपन्यास की स्त्रियां जितनी सहानुभूति प्राप्त करती हैं और उपन्यास को मार्मिक और वास्तविक बनाती है स्वय अहंकारी, विद्रोही शेखर वह सहानुभूति नहीं प्राप्त करता।

डॉ० नामवर सिंह ने कहा कि– साहित्य में पहली बार किसान नायक के रूप में प्रेमचद के उपन्यासों में ही बना एवं पहली बार नारी जो हाशिये पर थी उपन्यास विधा में समस्त संवेदनाओं का केन्द्र बनी। इन दोनों के साथ भारतीय उपन्यासों ने वह रूप प्राप्त किया जहाँ इन उपन्यासों में हम भारतीय नारी को पहचान सकते हैं। भारतीय मनुष्य और भारतीय नारी के ये जो दोनों रिस्तें हैं, ये जैसे कुल मिलाकर के उस उपनिवेशी आधिपत्य के ढ़ाँचे में भारतीय समाज की समस्त अच्छाइयों को और भारतीय समाज में जो उत्पीड़न और दमन है उसकी वेदना को किस रूप में समाहित करते हैं यह गैरतलब है। शायद यह

भारतीय उपन्यास को परिभाषित करने में सहायक हो। प्रेमचद का स्थान शायद इसीलिए महत्वपूर्ण है कि प्रेमचंद पहले उपन्यासकार थे जिन्होंने इन दोनों को एक जगह किया। प्रेमचद का पहला चर्चित उपन्यास सेवासदन है जिसके केन्द्र में नारी है– दूसरा किसान जीवन का उपन्यास है प्रेमाश्रम।

'गोदान' वह उपन्यास है जहाँ गंगा और यमुना जैसी ये दोनों धाराएँ नारी वाली धारा और किसान वाली धारा यानि 'सेवासदन' की और 'प्रेमाश्रम' की दोनो धाराएँ समजस एकीकृत रूप में जिस एक उपन्यास में एकत्रित होती है। यद्यपि उसकी शुरूआत 'रंगभूमि' हो चुकी थी। 'गोदान' में जाकर नारी अलग से सुमन जैसी नारी नहीं रहती बल्कि एक ही किसान के घर में वह होरी और धनिया के रूप में, गोबर और झुनिया के रूप में अंकित होती है और मध्यवर्ग का चरित्र कितना कमजोर होता है य मेहता और मालती के रूप मे जो नये मूल्यों की पीत छाया मात्र हैं, जो निरे आदर्शवाद से आच्छादित हैं। यहीं से भारतीय उपन्यास पैदा होने के साथ ही प्रेमचंद के साथ सहसा वयस्क होता है। तोल्स्तोय ने 'अन्ना करेनिना' और 'युद्ध और शान्ति' इन दोनों उपन्यासों के द्वारा किसान चेतना और दुविधाग्रस्त नारी को चरितार्थ किया।

अन्त में बोलते हुए डॉ० सिह ने कहा कि– उपन्यास का सर्वोत्तम विकास उन जगहों में हुआ जो पश्चिमी यूरोप की सभ्यता से बाहर थे। गार्सिया मार्क्विस को जो लैटिन अमेरिकी देशों का उपन्यासकार है, नोबेल पुरस्कार मिला। इसलिए जरूरी नहीं कि कोई विधा जहाँ जन्म ले वहीं पूर्ण विकास प्राप्त करे– मणि मानिक मुक्ता छवि ऐसी, उपजहिं अनत अनत छवि लहडीं। उपन्यास पैदा जरूर पश्चिमी यूरोप में हुआ लेकिन वह छवि प्राप्त आज इतने वर्षों के बाद बीसवीं शदी के उत्तरार्द्ध में उन जगहों पर कर रहा है जो उसके दायरे से बाहर थे।

"प्रेमचंद के अन्तर्विरोध और उनका सामाजिक आधार" विषय पर बोलते हुए डॉ० नामवर सिंह ने कहा– "प्रेमचंद में अन्तर्विरोध थे, पर उनके युग के अन्य लेखकों, उदाहरणार्थ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला से कम। उनमें अन्तर्विरोध अपेक्षाकृत कम ही नहीं हैं, बल्कि ऐसे अन्तर्विरोध भी नहीं हैं जो भारतीय समाज में बद्धमूल हैं। प्रेमचंद में तोल्स्तोय और गोर्की दोनों का प्रभाव देखा जा सकता है, वे इन दोनों महान लेखकों के अन्तर्विरोधों से मुक्त थे। तोल्स्तोय का विकास उन्मुक्त जीवन–दृष्टि से धार्मिक आस्था की ओर हुआ था, जबकि प्रेमचंद आर्य समाज से शुरू करके मार्क्सवादी लेखकों द्वारा आयोजित

प्रगतिशील लेखक सघ के सम्मेलन की अध्यक्षता तक पहुँचे थे। गोर्की समाजवादी यथार्थवाद के संस्थापकों में से थे, लेकिन वे लम्बे अर्से तक एक नये ईश्वर की तलाश मे रहे, जिसके चलते लेनिन को उनका विरोध करना पड़ा था। प्रेमचंद मे इस तरह का कोई अन्तर्विरोध नहीं मिलता।"

गाँधी एवम् मार्क्स पर विचार व्यक्त करते हुए डॉ० सिह ने आगे कहा: "आज विद्वानो का एक दल प्रेमचंद को पूरा गाँधीवादी सिद्ध करने पर तुला ह और दूसरा पूरा मार्क्सवादी! बीसवीं शताब्दी का कोई भी भारतीय लेखक गॉधीवाद और मार्क्सवाद से अछूता नहीं रह सकता। यदि ऐसा हुआ तो जीवन और यथार्थ से कटकर वह मर जायगा। स्वभावतः प्रेमचद पर इन दोनों दर्शनों का प्रभाव पड़ा था, लेकिन उनकी जीवन दृष्टि दर्शन विशेष के सॉचे में ढ़ली हुई नहीं थी। उन्होंने जिन्दगी की पाठशाला से ज्यादा सीखा था, अपने जमाने के विचारको से उतना नहीं। उन पर गॉधीवाद के प्रभाव की बात जोर देकर कही जाती है, पर वे आरम्भिक दिनों में भी गाँधीवादी नहीं थे।" उन्होंने समाज पर गाँधीवाद के प्रभाव का वर्णन किया है, उसमें अपनी आस्था नहीं दिखलायी है। वे महात्मा गॉधी की अन्तरात्मा की आवाज, उनके अन्धविश्वासों तथा उनके सत्याग्रह, ह्रदय–परिवर्तन और वर्ग–सहयोग के सिद्धान्तों का लगातार विरोध करते रहे। उनके जिन उपन्यासों को गॉधीवाद से निस्संदिग्ध रूप से प्रभावित बतलाया जाता है उनमें भी चित्रण को देखे तो गाँधीवाद की आलोचना मिलेगी। हमें कहानी का ही विश्वास करना चाहिए, कहानीकार का नहीं। महात्मा गाँधी समझते थे कि किसान और जमींदार लड़ेगे, तो उससे आजादी की लड़ाई कमजोर होगी। प्रेमचंद इस बात को नहीं मानते। उनके प्रायः हर उपन्यास में किसान और जमींदार की टकराहट है। प्रेमचंद के उपन्यासों में जमीदारों के लड़के शुरू में किसानों का पक्ष लेते हैं, पर जब किसान संघर्ष के लिए खड़े होते हैं, तो वे अहिंसा की दुहाई देते हुए अपने पिता के पक्ष में चले जाते हैं। यह गॉधीवाद के सिद्धान्त और कर्म का अन्तर है, जिसे प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में उभार कर रख दिया है। प्रेमचंद ने भारतीय जनता के जागरण को गुमराह करने वाली तमाम शक्तियों से हमें आगाह किया था। महात्मा गाँधी ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से पहले किसानों की शक्ति को पहचाना था। प्रेमचंद ने आजादी की लड़ाई में किसानों की भूमिका को महात्मा गाँधी के साथ ही समझा था। दोनों के रास्ते बाद में अलग होते हैं। महात्मा गाँधी का रास्ता वर्ग–सहयोग की ओर चला जाता है और प्रेमचंद का वर्ग–संघर्ष की ओर। इस प्रकार प्रेमचंद में न चित्रण और विचार को लेकर कोई

असमाधेय अन्तर्विरोध है, न गाँधीवाद और मार्क्सवाद को लकर प्रेमचंद की यथार्थ के गहन बोध से निर्मित जीवन–दृष्टि को उसके विकास–क्रम में समझना चाहिए।"

लेखक की सामाजिक स्थिति के सन्दर्भ में विचार करते हुए डॉ० सिंह ने कहा "लेखक अपनी सामाजिक स्थिति से ही बनता है। यही उसकी जीवन–दृष्टि का ढालती है। प्रेमचद की जीवन–दृष्टि एक खाते–पीते साधारण किसान की है, न मजदूर की, न नौकरी–पेशा मध्यम वर्गीय व्यक्ति की। लेकिन उनके जीवन की परिस्थितियाँ उन्हें खेतिहर मजदूर की ओर लिये जा रही थी। एक खाते–पीते किसान की आकांक्षा और खेतिहर मजदूर की परिस्थितियाँ इन दोनों की टकराहट से उनकी सर्जनात्मकता फूटती है। प्रेमचद किसान की छोटी महात्वाकांक्षा से सम्पूर्ण विश्व को दखते हैं। उनका यथार्थवाद सौन्दर्यशास्त्र से नहीं, किसानों के जीवन से प्राप्त है। उनमें जिन्दगी के ब्यौरे का जो चित्रण है और उसमें जो निर्ममता है, वह भारतीय किसान की जीवन–दृष्टि का अपना कमाया हुआ सत्य है। प्रेमचंद के यथार्थवाद की सीमा उसी की सीमा है। प्रेमचंद के अन्तर्विरोध एक हद तक किसानों के ही अन्तर्विरोध हैं पर वे बड़ी हद तक उनस मुक्त भी हैं।"

भारतीय स्वाधीनता–आन्दोलन और प्रेमचद का विश्लषण करते हुए डॉ०नामवर सिह ने कहा– "प्रेमचंद भारतीय स्वाधीनता–आन्दोलन के अनूठे महागाथाकार थे। **1907** से लेकर सन् **1936** तक के भारतीय जीवन का गहराई से किया गया चित्रण यदि किसी एक भारतीय लेखक में मिलता है, तो वह प्रेमचंद हैं, रवीन्द्र, शरत, इकबाल, भारती या खांडेकर नहीं। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे मशाल लेकर चलने वाली सच्चाई है। राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में उनके इस कथन का विशेष महत्व है। बहुत से लोग साहित्य को राजनीतिज्ञों के विचारों का अनुवाद समझते हैं, लेकिन प्रेमचंद का साहित्य काँग्रेसी आन्दोलन का अनुवाद नहीं है। प्रेमचंद का साहित्य तीन दौरों से गुजरा। उसके पहले दौर की शुरूआत "दुनिया का सबसे अनमोल रत्न" जैसी कहानियों से होती है, जिनमें राष्ट्र के लिए त्याग और आत्म–बलिदान की भावना की अभिव्यक्ति की गई है। यह हमारी आजादी की लड़ाई की पहली मंजिल थी, जिसमें शहादत को सर्वाधिक प्राप्त था। प्रेमचंद ने राजपूतों के राष्ट्रप्रेम और वीरता की अनेक कहानियाँ लिखीं। उनकी इन ऐतिहासिक कहानियों में पुनरूत्थानवाद की झलक देखी गई है। उनमें वस्तुतः एक लड़ाकू राष्ट्रवाद है, जो अधराष्ट्रवाद से मुक्त है। प्रेमचंद की ऐतिहासिक कहानियाँ इस बात की सबूत हैं कि वे केवल वर्तमान तक सीमित न थे।"

डॉ० सिंह के अनुसार, "प्रेमचद के साहित्य का दूसरा दौर सन् 1917 के बाद शुरू होता है। यह रूसी क्रान्ति का वर्ष है। रूसी क्रान्ति की धमक प्रत्येक देश में सुनाई पडी। इसने भारतीय स्वाधीनता–आंदोलन में नया मोड़ ला दिया। महात्मा गॉधी ने उसके सीमित आधार को तोडकर उसे गॉवों तक फैला दिया और साम्राज्यवाद के विरूद्ध जो लडाई चल रही थी उसमें किसानों को उतार दिया। प्रेमचंद के 'सवासदन'– जैसे उपन्यासों का आजादी की लड़ाई से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता। पर उसमें नारी अधिकारों का जो प्रश्न उठाया गया है, वह आजादी की लड़ाई का अंग है, कारा सुधारवाद नहीं है। प्रेमचद, शरत और जैनेन्द्र के नारी–सम्बन्धी दृष्टिकोण को मिलाकर देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचद अर्थव्यवस्था को कितना महत्व देते थे। उन्होंने ने 'सेवासदन' में यह बतलाया है कि नारी की सामाजिक पराधीनता के मूल में उसकी आर्थिक पराधीनता है। इसी तरह 'प्रेमाश्रम' में केवल आश्रम और हृदय–परिवर्तन नहीं है उसमें आश्रम बनाने के पहले प्रेमचंद यह दिखलाते हैं कि जमीदारों और किसानों का हित एक नहीं है। वे उसमें उन दोनों में होने वाले संघर्ष का चित्रण करते हैं, जिसमे जमीदार के कारिन्दे का खून भी होता है। प्रेमचद ने चौरी चौरा में किसानों का जागरण देखा था। उन्होंने किसानों के जीवन की सच्चाई दिखलाई। उन्होंने यह भी दिखलाया कि अग्रेजी हूकूमत सामंतो के बल पर टिकी हुई है, इसलिए सामंतो से लड़ाई छेड़ना जरूरी है। प्रेमचंद के लिए सामंत–विरोध साम्राज्य–विरोध था। उनकी यह स्थापना उन्हें समाज सुधारकों और कांग्रेसी नेताओं से ही नही, 1929 में स्वराज्य की कल्पना करने वालो से भी आगे ले जाती है।

डॉ० सिंह के अनुसारः 'अनेक लोग आजादी की लडाई को केवल राजनीतिक लड़ाई मानते थे। बाद में कम्युनिस्टों ने उसे आर्थिक लड़ाई में बदल देना चाहा। प्रेमचंद इस लड़ाई को आर्थिक और राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक भी मानते थे। उन्होंने कहा था कि सास्कृतिक अर्थात् मानसिक मुक्ति के बिना पूरी मुक्ति सम्भव नहीं है। इसी कारण उन्होंने किसानों का आधा लगान माफ कर देने से ज्यादा जरूरी बतलाया था। उन्हें अन्धविश्वासों और पण्डे–पुजारियों के जुल्म से मुक्त करने को। इस तरह उन्होंने आजादी को बहुत ही व्यापक और गहरे अर्थ में लिया था। किसानों का शोषण राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक सभी स्तरों पर होता था। प्रेमचंद उन्हें हर प्रकार के शोषण से मुक्त करना चाहते थे। इस मुक्ति संग्राम में एक बड़ी बाधा थी साम्प्रदायिकता। इसके प्रवाह में अच्छे–अच्छे लोग बह गये थे। प्रेमचंद अकेले लेखक हैं, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में हर प्रकार के

सम्प्रदायवाद का विरोध किया है। उनके अनुसार साम्प्रदायिकता फैलाने वाले नबाव और जमींदार थे, जो उसके द्वारा किसानों को बाँटते थे। प्रेमचंद ने 'जमाना' में लिखा था कि जब राजनीतिक आन्दोलन ठप्प होता है, साम्प्रदायिकता उभरती है। उनका यह दृष्टिकोण राजनीतिक दलों के दृष्टिकोण से भिन्न था।"

सन् **1930** के आसपास से प्रेमचंद के साहित्य का तीसरा दौर शुरू होता है। यह गाँधीवादी मान्यताओं से उनके मोहभंग का काल है। 'गबन' को आभूषण–प्रेम के विरोध में लिखा गया उपन्यास समझा जाता है, पर इसमें प्रेमचंद ने वस्तुतः शहरी मध्यवर्ग के उस ढुलमुल नायक का चित्रण किया है जिसकी परिणति देशद्रोह में होती है। 'गबन', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' इन तीनों उपन्यासों में प्रेमचंद यह दिखलाते हैं कि बड़े घरों के लोग, जो आजादी के लिए लड़ते हैं, अपने हितों पर चोट पड़ने पर किसानों के खिलाफ खडे हो जाते हैं। उनकी **1930** से **1935** तक लिखी गई कहानियों में से नब्बे फीसदी कहानियाँ गाँवों से सम्बन्धित हैं, जिनमें से पचहत्तर फीसदी कहानियों का विषय छोटी जाति के लोग हैं। कांग्रेस के भीतर जब समझौते की प्रवृत्ति जोर मार रही थी और कांग्रेसी नेता **1935** के ऐक्ट के मुताबिक **1930** में असेम्बली की सीटों की छीना–झपटी में लगे थे, एक ओर इस देश में वामपंथी पार्टियाँ मजदूरों का संगठन कर रही थी और दूसरी ओर प्रेमचद गॉवो के सबसे निचले स्तर के लोगों के जीवन की बदहाली का चित्रण कर रहे थे। 'गोदान' में उन्होंने हमें भारतीय जीवन के नये पहलू से परिचित कराया। वह पहलू यह था कि शोषण का क्रम जारी रखने के लिए अब उद्योगपति और जमींदार इकट्ठे हो रहे थे।

'गोदान' का खन्ना कांग्रेस को चंदा देता है और मजदूरों से बहुत प्रेम करता है, पर कहता है कि मजदूर हड़ताल क्यों करते हैं? खन्ना के गहरे ताल्लुकात रायसाहब से हैं। प्रेमचंद ने 'गोदान' में शोषण के नग्न यथार्थ का चित्रण किया है। होरी को रायसाहब, खन्ना, ओंकारनाथ, तंखा, मिर्जा, मेहता, दातादीन, लाला परमेश्वरी, दुलारी सहुआइन सभी मिलकर लूटते हैं। यह जरूर है कि यहीं उसका शोषण प्रत्यक्ष रूप से होता है, कहीं परोक्ष रूप से। अपनी 'कफन' नामक कहानी में भी प्रेमचंद ने शोषण के भयावह रूप का चित्रण किया है। लेकिन उसे निराशा की कहानी समझना भूल होगी, वह शोषण के प्रति विद्रोह की कहानी है। इस तरह प्रेमचंद के साहित्य में आजादी की लडाई के विभिन्न स्तर और रूप दिखलाई पड़ते हैं। आजादी का महत्व उन्होंने महात्मा गाँधी से नहीं सीखा था, उसे वे पहले से जानते थे। समाजवाद का ज्ञान भी उन्हें भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के

पहले से था। इन कारणों से प्रेमचंद के साहित्य को आधार बनाया जाय तो भारतीय–स्वाधीनता का इतिहास बेहतर ढंग से लिखा जा सकता है।"

सन् **1936** ई० के साल में विश्व के तीन महान् लेखकों की मृत्यु हुई। वे थे रूस के मैक्सिम गोर्की, चीन के लु शुन और भारत के प्रेमचंद ये तीनों लेखक उच्चतर सामाजिक गौरव की अपनी जनता की आकांक्षा के लिए लड़े और अपने राष्ट्र के मुक्ति संग्राम के अंग थे।

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार प्रेमचद ने एक बहुत बड़ा काम यह किया कि उन्होंने भारतीय उपन्यास को जन्म दिया। यूरोप में आमतौर पर उपन्यास को मध्यवर्ग का महाकाव्य समझा जाता है, और कहा गया है कि मध्यवर्ग के उदय के साथ उपन्यास जुड़ा है। लेकिन प्रेमचंद के उपन्यास भारतीय किसान के उदय और विकास के साथ जुड़े हैं। भारतीय मुक्ति आंदोलन की शक्ति का स्रोत बुद्धिजीवियों या मध्यवर्ग में नहीं, बल्कि किसान में है। प्रेमचंद ने पहली बार हिन्दी उपन्यास को भारतीय चरित्र प्रदान किया। रवीन्द्र, शरतचंद्र, बंकिम और यहॉ तक कि वि० स० खांडेकर भी मध्यवर्ग के नायक को केन्द्रीय मानते हैं, इसलिए वे प्रेमचंद की तरह भारतीय उपन्यास की सृष्टि नहीं करते। अतः प्रेमचंद को योरोपीय परम्परा से भिन्न मानकर उनका मूल्यांकन करना होगा।

"अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है" वाला नास्टालजिया कवियों के मन में होगा, लेकिन प्रेमचंद के उपन्यासों में वह नहीं हैं। उन्होंनें ग्राम्य जीवन की कटुता और नग्नता का चित्रण किया है और गाँवों की सरलता की ओर लौट जाने का आह्वान उनमें कहीं नहीं है। गाँधी तो चम्पारन के समय गाँवो की ओर आकृष्ट हुए लेकिन प्रेमचंद उसके पहले से गाँवों के बारें में कहानियाँ लिख रहे थे। बेशक गाँधीजी के कारण प्रेमचंद पर दूसरे प्रभाव जरूर पड़े। इनमें जमींदार के ह्रदय परिवर्तन की धारणा प्रमुख है जो थोड़े दिनों तक रही और बाद में उन्होंने छोड़ दी। प्रेमचंद पूर्व का पाठक टूटते हुए सामंती जीवन की कहानियाँ पढना चाहता था। वह बंकिमचन्द्र चाहता था। वह रवीन्द्र नाथ की खास किस्म की उदासी चाहता था। वह शरत की दुखी और लांक्षिता नारी के बारे में पढ़ना चाहता था।

स्वाधीनता संग्राम का भारतीय मनुष्य की नियति से गहरा सम्बन्ध है। और यदि साहित्य का विषय मनुष्य है, अपना देश ओर समाज है तो स्वाधीनता संग्राम सिर्फ राजनीतिक घटना नहीं है। गोदान में कहीं रूस नहीं है, झंडे नहीं है। लेकिन प्रेमचंद ने समझ लिया था कि अंग्रेजो का राज अफसरों, जमींदारों, मुल्ला–पंडितों के बूते पर टिका है।

कला और शिल्प की दृष्टि से भी प्रेमचंद ने कम से कम बीस ऐसी कहानियाँ लिखी हैं, जो बेजोड़ हैं। जैसे 'ठाकुर का कुआँ', 'दूध का दाम', 'जुर्माना', 'कफन', 'पूस की रात'। उनके उपन्यासों के गठन को ढीला ढाला बताया गया है, लेकिन कमजोरियों के बावजूद वे कलात्मक दृष्टि से ऊँचाइयों को छूते हैं। इस श्रेष्ठता का आधार है वास्तविकता की पहचान, जीवंत चरित्रों का निर्माण, पात्रों के मानसिक गठन और व्यवहार की परख। केवल समकालीन विषयों पर लिखने के कारण उनका महत्व ऐतिहासिक होता, लेकिन उनका महत्व कलात्मक भी है।

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार हिन्दी में तुलसीदास के बाद प्रेमचंद दूसरे श्रेष्ठ लेखक है। इसके बाद ही कबीर का स्थान आता है। निराला महत्वपूर्ण हैं क्योंकि जीवन के कथ्य की जितनी विविधता और फार्म की जितनी नवीनता निराला में है, उतनी शायद हिन्दी के किसी रचनाकार में नहीं है। तुलसीदास ने पार्वती-मंगल और रामलला नहछू जैसे ग्रंथ लिखे, लेकिन निराला के हर ग्रंथ में नयापन है।

इस प्रकार डॉ० नामवर सिंह का प्रेमचंद विषयक उपर्युक्त विवेचन प्रेमचंद के बारे में नई स्थापनाएँ करता है जो मौलिक और विचारोत्तजक हैं। साथ ही उपन्यास के मूल स्वरूप का उद्घाटन भी करता है। वस्तुतः डॉ० रामविलास शर्मा के प्रेमचंद विषयक मूल्यांकन की यह अगली कड़ी है।

शिव कुमार मिश्र

डॉ० रामविलास शर्मा और डॉ० नामवर सिंह जैसे धुरंधर मार्क्सवादी आलोचकों के बाद मार्क्सवादी आलोचना की दूसरी कतार के आलोचकों में डॉ० शिव कुमार मिश्र, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० कुँवरपाल सिंह, डॉ० नंन्द किशोर नवल और मैनेजर पांडेय के नाम प्रमुख हैं। शिव कुमार मिश्र और डॉ० नवल की प्रेमचंद पर एक-एक पुस्तक प्रकाशित है। कुँवरपाल सिंह और मैनेजर पांडेय ने प्रेमचंद से संबंधित कई लेख लिखे हैं। रमेश कुन्तल मेघ ने प्रेमचंद पर न तो कोई स्वतंत्र पुस्तक लिखी है और न तो कोई लेख। उन्होंने प्रसंगवशात प्रेमचंद-साहित्य की चर्चा आधुनिकता के संदर्भ में की है। आधुनिक धरातल पर किया गया उनका प्रेमचंद-साहित्य का विवेचन मौलिक और नया है। शिव कुमार मिश्र ने

बडी शिद्दत से प्रेमचंद की विरासत का सवाल उठाकर प्रेमचद की परम्परा को गहराने की कोशिश की है। इस प्रकार की आलोचनाओं में किसी तरह का नयापन नहीं है और मौलिकता का अभाव है। मार्क्सवादी आलोचना के पुरोधा डॉ० राम विलास शर्मा की मान्यताओं का बारम्बार भाष्य किया गया है और उत्तरवर्त्ती प्रेमचंद के आधार पर जबर्दस्ती प्रेमचद को मार्क्सवादी और यथार्थवादी सिद्ध करने की कोशिश की गई है। जिस सफलता के साथ और तर्कपूर्ण ढंग से डॉ० नन्द किशोर नवल ने राम विलास शर्मा के निराला संबंधी विचारों और मूल्यांकन को चुनौती दी है, उस प्रकार की त्वरा शिव कुमार मिश्र के विवेचन में नहीं है। यह भाष्यपरक चर्वित चर्वण अखबारीपन लिए हुए है जिसे आलोचना की भाषा नहीं कहा जा सकता। डॉ० मिश्र की आलोचना मार्क्सवादी कट्टरता से भरी हुई है। उनका अतिउत्साह आलोचा की गंभीरता को कम करता है। डॉ० शिव कुमार मिश्र ने प्रेमचंद के विषय में अपनी पुस्तक 'प्रेमचंदः विरासत का सवाल' (वाणी प्रकाशन, संस्करण **1981**) में दस अध्यायों में विचार किया है जो निम्नलिखित हैः–

1. प्रेमचंद और भारतीय मुक्ति आन्दोलन
2. सुधारवाद से आमूल सामाजिक बदलाव तक
3. आदर्श और यथार्थ का सवाल
4. सांप्रदायिक सौहार्द का सवाल
5. प्रेमचंदः गाँधी और मार्क्स
6. प्रेमचंदः विरासत का सवाल
7. परवर्ती कथा सर्जनाः यथार्थ और मिथ्या यथार्थ
8. प्रेमचंद की विरासतः उत्तराधिकार का सही सन्दर्भ
9. व्यक्ति और विचार
10. प्रेंमचंद की जन्म शताब्दीः कुछ विचारणी मुद्दे

प्रेमचंद एक विकासशील लेखक हैं। उनका लेखन निरंतर मँजता गया है। उनके लेखन का समय 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' से लेकर सविनय अवज्ञा आन्दोलन की समाप्ति के बाद के समय (प्रगतिशील आन्दोलन **1936** ई०) तक माना जाता है।

राजनीति में यह गाँधीजी के चरमोत्कर्ष का समय था। प्रेमचद ने यह स्वीकार भी किया था कि 'राजनीति के क्षेत्र में जो कार्य गाँधीजी कर रहे हैं साहित्य के क्षेत्र में वही कार्य मैं कर रहा हूँ।' सन् **1930** में बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र लिखते हुए प्रेमचंद अपनी अभिलाषाओं के बारे में उन्हें यों सुचित करते हैं–"मेरी अभिलाषएँ बहुत सीमित हैं। इस समय सबसे बड़ी अभिलाषा यही है कि हम अपने स्वतंत्रता संग्राम में सफल हों। मैं दौलत और शोहरत का इच्छुक नहीं हूँ। खाने को मिल जाता है, मोटर और बँगले की मुझे हवस नहीं है। हाँ, यह जरूर है कि दो चार उच्च्य कोटि की रचनाएँ छोड़ जाऊँ लेकिन उनका उद्देश्य भी स्वतंत्रता की प्राप्ति हो।" ऐसे ढेर सारे पत्र, वार्तालाप एव साक्षात्कार मिल जाएगें जिसमें प्रेमचंद ने राष्ट्रीय नेताओं के स्वार्थों तथा वर्गहित से ऊपर उठकर राष्ट्रीय आंदोलन में शिरकत करने की अपील की है। इन सबका सशक्त उदाहरण है प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह 'सोजे वतन' **(1909)** एवं आखिरी कहानी संग्रह 'समरयात्रा' **(1931-32)** जो ब्रिटिश सरकार द्वारा आपत्तिजनक करार कर दिए गये। इस अंतिम संग्रह तक आते–आते प्रेमचंद को यह स्वीकार करना पड़ा कि आजादी कुबार्नी देकर ही मिल सकती है, जुलूस और विकेटिंग करके नहीं। 'गबन' के देवीदीन खटिक तथा दूसरे तमाम पात्रों के मुँह से तथाकथित स्वराजियों के कारनामों तथा आचरणों का खुलासा भी किया गया है। प्रेमचंद के उपन्यासों एवं कहानियों में जो किसान आये हैं वह कोई बनावटीपन या ओढे हुए चरित्र वाले न होकर स्वयं में प्रेमचद के आँखों के सामने वाले किसान थे जिनकी दशा और तबाही स्वयं उन्होंने देखी थी। अंग्रेजों के दमन का शिकंजा उनके समय में और भी कस गया था। प्रेमचंद अवध के किसानों से सीधे परिचित थे। यही कारण है कि प्रेमचंद ने किसान चेतना और राजनीति से ओत–प्रोत उपन्यास 'प्रेमाश्रम', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' लिखे। शिवकुमार मिश्र के अनुसार– "अपने समूचे रचनाकाल में प्रेमचद की सबसे मुख्य चिंता राष्ट्र की मुक्ति और राष्ट्र की स्वतंत्रता ही थी। अपने समय के दूसरे तमाम लेखकों से भिन्न वे मुख्यतः हमारे स्वाधीनता संग्राम के लेखक थे। हिन्दुस्तान के विराट स्वाधीनता संग्राम को उनकी सर्जना में अक्षत लिपिबद्ध देखा जा सकता है" ('प्रेमचंदः विरासत का सवाल'– पृ० **4**)। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद की समस्त रचनाओं में राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल उठाया गया है। उनकी समूची साहित्य साधना का लक्ष्य एक शोषण विहीन, समातपूर्ण समाज रचना के पक्ष में आवाज उठाना रहा है, और एक पक्षधर साहित्यकार की भूमिका निवाहते हुए उन्होंने यही किया भी है" (प्रेमचंदः विरासत का सवाल–पृ० **14**)।

प्रेमचंद के लेखन का समय मात्र तीस वर्ष था और इस तीस वर्षो में प्रेमचंद ने जिंदगी को जीने, देखने, समझने तथा आत्मसात् करने का अनुभव किया। उसका इतिहास बहुत ही पेंचीदा तथा अनिश्चित एवं तमाम चुनौतियों से भरा था। उनकी साहित्य साधना इस बात की साक्षी है कि इस चुनौती को प्रेमचंद ने साहस के साथ स्वीकार किया। प्रेमचंद को विरासत में ऐसा कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ था जो उनके साहित्य सृजन में सहायक होता। उनके पहले देवकी नंदन खत्री के उपन्यासों की धूम मची हुई थी, जिसका विषय आकर्षण भरा तिलिस्मी, ऐय्यारी तथा रोमान की दुनिया का था। जैसा कि शिव कुमार मिश्र ने लिखा है कि "प्रेमचंद अपनी उम्र की पहली उठान में खुद कही न कहीं इस दुनिया में खोए हुए थे। 'तिलस्म होशरूबा' उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में ही रात–रात भर जागकर पढ़ डाला था" (प्रेमचंदः विरासत का सवाल– पृ० **18**)। प्रेमचंद इस तिलिस्मी दुनिया से निकलकर एक ऐसी दुनिया का चुनाव करते हैं जो उनके आस–पास की दुनिया थी। उसके दुःख–दर्द ही प्रेमचंद के दुःख–दर्द हुए तथा सामंती शोषण के शिकार साधारण जन उनकी साहित्य सर्जना के स्रोत बने। शिव कुमार मिश्र इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि कदाचित भारत के वे पहले कथाकार हैं जिन्होंने सामंती मानसिकता को तार–तार करते हुए सड़क के साधारण आदमी को कथानायक का गौरव प्रदान किया। इस प्रकार हिन्दी कथा साहित्य में यथार्थ की एक नई परम्परा की बुनियाद प्रेमचंद ने रखी। अपने लेखन में प्रेमचंद एक नेकदिल एवं ईमानदार रचनाकार का रूप में प्रस्तुत हुए। जीवन के आन्तरिक एवं वाह्य द्वंद्व में उनकी रचना प्रकिया अपने मूल्यों के प्रति अडिग रही। इन सबमे देश की मुक्ति मुद्दा छाया रहा। आदर्शवादी रचना के रूप में चर्चित 'निर्मला' जैसा उपन्यास का एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इसमें समस्या और उसका शिकार दोनों का परिप्रेक्ष्य एकदम यथार्थ है। कहानियों की इस श्रृखला में समय के बदलते परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद में स्वतः से टकराने का जो द्वन्द्व है उस द्वन्द्व से निकलने तथा अपने को काटते–तराशने का जो बदलाव देखने को मिलता है वह गाँधीजी की सत्य, अहिंसा, ह्रदय परिवर्तन तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन जैसे हथियारों के साथ वह अब प्रेमचंद के लिए अर्थहीन सा प्रतीत होता है। इसका उदाहरण 'कातिल' कहानी में माँ–बेटे के बीच होने वाला वार्तालाप है। इस कहानी में बेटा जुलूस और पिकेटिंग की व्यर्थता को प्रतिपादित करता है। यह सच है कि जीवन भर सघर्ष करने तथा मनुष्य मात्र के कल्याण की बात करने वाले प्रेमचंद यहाँ पहुँच कर इस हकीकत का खुलासा करते हैं। शिव कुमार मिश्र के अनुसार– "वर्ग चेतना की जमीन तथा वर्ग संघर्ष

का चित्रण प्रेमचंद ने पहले भी किया था। शुरू में हाँलाकि आरोपित आस्थाओं का परिदृश्य धुधला था, किन्तु अब परिदृश्य साफ है, और तभी पूरे विश्वास के साथ प्रेमचंद जी कह सकते हैं कि दुनिया और व्यवस्था को वे आदमी के हित में बदलना चाहते हैं। इन तथ्यों का विश्लेषण करने पर यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि प्रेमचंद मानवतावादी दृष्टिकोण को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे। 'आदर्श और यथार्थ के सवाल' पर आलोंचकों में आज भी बहस का यह मुद्दा बना हुआ है कि प्रेमचंद यथार्थवादी थे या आदर्शवादी था कि आदर्शोन्मुख यथार्थवादी या जनवादी। इस बहस मे न पडकर यदि हम प्रेमचंद के विचारों को लें तो बेहतर होगा। "यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। संसार में सदैव नेकी का फल अच्छा और बदी का फल बद् नहीं होता बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है........यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है। मानव चरित्र पर इससे हमारा विश्वास उठ जाता है। हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।" एक स्थान पर यथार्थवाद का समर्थन करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं– "इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यंत उपयुक्त है– लेकिन जब दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है तो आपत्तिजनक हो जाता है।" इसी क्रम में प्रेमचंद दोनों के समन्वय की बात करते हुए लिखते हैं– "यथार्थवाद यदि हमारी आँखे खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है ....आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का प्रयोग होना चाहिए ....उपन्यास की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रों में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी का है।" इन तथ्यों के विश्लेषण से आलोचकों को यह अहसास होना चाहिए कि किसी व्यक्ति के ऊपर आरोप प्रत्यारोप लगाने से पहले हमें उसकी जमीनी बुनियाद तथा उसके परिवेश के बारे में जानकारी कर लेनी चाहिए। शिव कुमार मिश्र के अनुसार– "प्रेमचंद की सर्जना और उनके चिंतन के इस गुणात्मक विकास को नजरंदाज कर जानबूझकर उन्हें आदर्शवादी घोषित करना या उन्हें आदर्शवाद–यथार्थवाद से परे बताना हमारे विचार से यह ऐसा अपराध है जिसे प्रेमचंद की विरासत को उसके क्रान्तिकारी संदर्भो में ग्रहण करने वाली आगे की रचनाकार पीढ़ियाँ कभी माफ नहीं करेंगी" (प्रेमचंद विरासत का सवाल– पृ० स० 34) मिश्र जी की बातों को एक नये परिप्रेक्ष्य में

देखते हुए मिली–जुली मान्यताओं, विशेषकर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के बारे में उनकी मान्यता को गोर्की के क्रान्तिकारी स्वच्छंदतावाद के निकट कहा जा सकता है।

साम्प्रदायिकता के सौहार्द के सवाल पर प्रेमचंद एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का ढाँचा अपने उपन्यासों एव कहानियों में चुनते हैं जो, वर्ग, वर्ण, धर्म और सम्पदाय, सबसे परे हो। वह मानव धर्म और एक मानव संस्कृति के रूप को चुनते हैं। इसी को केन्द्र में रखकर उनका रचना संसार अपनी फली–फूली फसल को काटता है। प्रेमचंद के समय का दौर हिन्दू धर्म तथा इस्लामी मजहब के टकराव का दौर था। मुस्लिम बादशाहों के संघर्ष एव अत्याचारों की कथा ने साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना को बढ़ावा दिया। शिव कुमार मिश्र के अनुसार– "प्रेमचंद यदि अपने लेखन में बार–बार इतिहास को दफन कर देने की बात करते हैं, 'तमाम विष की गाँठ' इतिहास को मानते हैं, और इस प्रकार के इतिहास के पीछे निहित जेहनियत के प्रति अपना सात्विक आक्रोश व्यक्त करते हैं तो यह सर्वथा उचित है।" (पृ० 42)। प्रेमचंद इतिहास विरोधी नहीं थे। इतिहास विरोधी भावना 'सेक्यूलर' मानसिकता के कारण है। हिन्दू मुस्लिम एकता के वे कट्टर समर्थक हैं। हंसराज रहबर के अनुसार– "उनके धार्मिक विचार कुछ भी रहे हों, वे जनसाधारण की धार्मिक भावनाओं का कदर करते थे और उन्हें एक आस्तिक की श्रद्धा के साथ अंकित करते थे, क्योंकि वे जानते थे कि शोषित जनता के पास एक धर्म ही तो है जो उसे इस भीषण दरिद्रता में जीने का बल प्रदान करता है। यदि उनसे यह विश्वास भी छीन लिया जाय तो फिर उनके पास और कौन सा सहारा रह जाएगा।" शिव कुमार मिश्र की नजर में प्रेमचंद का समाज सुधारक रूप कबीर जैसा था। साम्प्रदायिकता सम्बंधी प्रेमचंद के बिचारों पर टिप्पणी करते हुए मिश्र जी कहते है कि "न मैं हिन्दू हूँ और न मुसलमान, मैं एक इन्सान हूँ। साम्प्रदायिक सौहार्द्र का सवाल इस प्रकार प्रेमचंद के यहाँ राष्ट्रीय मुक्ति से, शोषित मनुष्यता की मुक्ति और फलतः सर्वहारा संस्कृति तक व्याप्त हो जाता है। रचनात्मक तथा बैचारिक स्तर पर प्रेमचंद की सारी जद्दोजहद इसी सपने को साकार करने के लिए है" (प्रेमचंदः विरासत का सवाल पृ० 45)। शिव कुमार मिश्र कहते हैं कि अपनी सारी मानसिक उदारता तथा गैर साम्प्रदायिक दृष्टि के बावजूद हिन्दू–मुस्लिम के हमी महात्मा गाँधी तक अपनी पहचान एक सनातनी हिन्दू के रूप में ही करा पाते हैं। उनका वह सनातन धर्म कितने भी उदार आशय का क्यों न हो किन्तु प्रेमचंद उनसे कहीं आगे बढ़कर न केवल हिन्दू या मुसलमान या ईसाई के रूप में अपना परिचय नहीं देते, एक इंसान के रूप में ही अपनी पहचान को रेखांकित करते हैं।

गॉंधी और मार्क्स के साथ प्रेमचंद का रिश्ता इसलिए जोड़ना उचित है क्योंकि इतिहास से प्रेंमचंद का गहरा सरोकार है। शिव कुमार मिश्र के अनुसार– "प्रेमचंद कदाचित अकेले भारतीय लेखक हैं जिन्हें विश्वास पूर्वक भारतीय स्वतत्रता संग्राम का लेखक कहा जा सकता है" (प्रेमचंदः विरासत का सवाल – पृ० **55**)। प्रेमचंद की रचनाओं में जो सुधारवाद या आदर्शवाद दिखाई देता है वह वास्तव में उनकी अपनी बनाई विरासत से उपजा था। उनका परिवेश उनके अपने वातावरण से सृजित था और इसके पीछे उनका लम्बा चिंतन एव गहरा मानवीय सरोकार था। इस बात को शिव कुमार मिश्र भी स्वीकार करते हैं कि उनकी इस दौर की रचनाओं में जो आदर्शवाद अथवा सुधारवाद दिखाई देता है उसका सम्बन्ध भी गाँधी या गाँधी के चिंतन से न होकर उनकी उन आदर्शवादी–सुधारवादी आस्थाओं से है जो उन्हें विरासत में भारत की लम्बी चिंतन परम्परा, आर्य समाज तथा तोल्स्ताय जैसे उन मानवतावादी विचारकों से मिली थी जिनके प्रति अपने समय के दूसरे तमाम मध्यवर्गीय वुद्धिजीवियों की भाँति वे भी आकर्षित थे। मार्क्स दर्शन या समाजवादी दर्शन प्रेमचंद की प्रगतिशील परम्परा से स्पष्ट तौर पर आया है और इस दर्शन को प्रेमचंद यथार्थ की परिस्थितियों में ही ग्रहण करते हैं। और इसका रूप अचानक नहीं वरन् एक सिलसिले के रूप में क्रमशः होता नजर आता है। इस जमीनी सच्चाई को स्वीकार करते हुए शिव कुमार मिश्र कहते हैं कि सन् **1930-31** के बाद मुंशीजी का लेखन और चिंतन वही नहीं रह जाता जैसा कि वह पहले था। आदर्श अब भी उनके साथ है आदर्शवाद नहीं है। पुराने संस्कार, पुराने चिंतन के निशान अब भी उनमें हैं, पर वह द्वन्द्व नहीं जो उनमें पहले था। नई चेतना से एक सीधा साक्षात्कार यहाँ उनके पाठकों को होता है। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने आदर्श और यथार्थ की भाँति गाँधी और मार्क्स को मिलाकर अपनी रचनाओं का सृजन किया।

प्रेमचंद की विरासत के प्रश्न पर भी डॉ०शिव कुमार मिश्र व्यवस्थित ढंग से विचार करते हैं। जहाँ तक प्रेमचंद के प्रासंगिक होने का प्रश्न है बात समझ में नहीं आती। जिस लेखक की विचारधारा और सर्जना को हम निरन्तर महसूस करें उसकी प्रासंगिकता तलाशने की जरूरत क्यों पड़ी? 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' तक की यात्रा तय करते हुए प्रेमचंद ने जीवन से जो द्वन्द्व किया था और यथार्थ का जिस प्रकार साक्षात्कार किया था उसे विवेकशील पाठक समझते हैं। आज भी 'निर्मला' और सुमन की तरह नारियाँ लाचार और विवश हैं। शिव कुमार मिश्र के अनुसार– हमारे सामने मुख्य सवाल प्रेमचंद की प्रासंगिकता

को परखने का नहीं, इस बात का होना चाहिए कि प्रेमचंद की विरासत को कितना समझ और सहेज पाये हैं। सम्पूर्ण मनुष्यता की यातना के प्रति जितनी गहन सोच और समाज के पशुओं के प्रति जितना तीखा विक्षोभ प्रेमचंद न अपनी रचनाओं में प्रकट किया है उतना कहीं मिलना दूभर है। होरी की जिजीविषा और जिंदा रहने के लिए संघर्ष प्रेमचंद का अपना भोगा हुआ संघर्ष लगता है और यह मृत्यु के कुछ क्षणों पहले उसकी मनः स्थिति से आँका जा सकता है। प्रेमचंद के शब्दों में– "जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएं मानो उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है जीवन संग्राम मे वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं। इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे–फूटे अस्त्र उसकी विजय पताकाएँ हैं" ('गोदान' पृ० **307**) यह झूठा आशावाद नहीं है और इसे यथार्थ के धरातल से हटाया नहीं जा सकता। मिश्रजी की टिप्पणी महत्वपूर्ण है कि यह हवाई और ठंडी आशा नहीं हैं, और न यह आस्था कोई किताबी चीज है, इस आस्था का सम्बन्ध हिन्दी के उस रचनाकार से है जिसने जिंदगी को उसकी सारी विरूपता में पहचाना में पहचाना और भोगा था। न चाहते हुए भी जिसे जिंदगी के बदले मौत मिली, किन्तु मौत जिदगी के प्रति, सही मानवीय जिंदगी के प्रति, जिसकी आस्था को रौद नहीं सकी। इस खरी आस्था को झुठलाना प्रेमचंद की विरासत का झुठलाना है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मानवीय संवेदनाओं को वाणी देने में प्रेमचंद सक्षम सिद्ध होते हैं।

डॉ० शिव कुमार मिश्र 'परवर्ती कथा सर्जनाः यथार्थ और मिथ्या यथार्थ' नामक निबंध में भी समन्वित ढंग से विचार करते हैं। प्रेमचंद के साहित्य की यह विशेषता है कि उनका साहित्य जीवन से अलग नहीं है। यही कारण है कि 'गोदान', 'कफ़न' और 'पूस की रात' जैसी रचनाएँ प्रेमचंद की रचना प्रक्रिया की सार्थक पहल हैं, जो सुधारवाद की धुंध से उबरकर समूचे बदलाव का मार्ग प्रशस्त करती है। उनका भोगा हुआ यथार्थ उनकी कृतियों में स्पष्ट रूप से नजर आता है। यह 'नमक का दरोगा', 'पच परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' की दुनिया न होकर 'ठाकुर का कुआँ', 'कफन', 'पूस की रात' जैसी कहानियों और 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि' 'रंगभूमि' और 'गोदान' तथा 'मगलसूत्र' (अधूरा) की दुनिया है। यह 'बेहद क्रूर और बेहद आक्रामक, किन्तु बेहद चतुर और बेहद सावधान' लोगों की दुनिया है जिसे प्रेमचंद बदलना चाहते हैं। मनुष्यों के रहने के काबिल बनाना चाहते हैं। प्रेमचंद के सामने परिदृश्य एकदम साफ है, वे पूरे विश्वास के साथ अपना अभिमत देते हैं कि जिस दुनिया और व्यवस्था को वे आदमी के हित में बदलना चाहते हैं वह समाजवाद के रास्ते पर

चलकर ही बदलेगी। लेकिन प्रेमचंद का समाजवाद अपनी जडो से कटकर नहीं हैं, मिश्र जी अवश्य उसे एक विशेष दृष्टि से विवेचित करते हैं। सभी तत्कालीन प्रचलित वादों की सूक्ष्म घुलावट ही प्रेमचंद में मिलती है।

'प्रेमचंद की विरासत : उत्तराधिकार का सही सन्दर्भ' नामक अध्याय में शिव कुमार मिश्र ने प्रेमचंद विरासत के सच्चे उत्तराधिकारियों को एक पंक्ति में रखा है क्योंकि प्रेमचंद की जन्मशताब्दी में इस ज्वलंत मुद्दे को लेकर काफी गहमागहमी रही। प्रेमचंद की परम्परा से जुड़ने का अर्थ प्रेमचंद के तरीके और सोच के साथ लिखना मात्र वही है यह भी जरूरी है कि जिंदगी की जो शक्ल कृतियों के माध्यम से उभरे वह यथार्थ हो। प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य में शोषित मनुष्यता की आवाज उठाने के साथ उनके अधिकारों के लिए संघर्ष किया। प्रेमचंद का यथार्थबोध उनके अनुभवों के लम्बे दौर से गुजरने के कारण प्राप्त होता है। वह कहीं से भी पुनरूत्थानवादी नहीं हैं। वे जिस आने वाले समय की कल्पना करते हैं वह शायद उनका वर्तमान ही है। शिव कुमार मिश्र के अनुसार–"प्रेमचंद कही से भी पुनरूत्थानवादी नहीं है। वे जिस भविष्य के मुंतजिर है उसे वर्तमान के गर्भ से ही खींचकर बाहर लाना चाहते हैं, इतिहास अथवा अतीत को उनमें जीवित नहीं देखना चाहतें हैं इसलिए उनके लिए समय तथा मनुष्य की निरन्तरता के प्रमाण के रूप में सामने आता है" (प्रेमचंद विरासत का सवाल–पृ० **107**)। साहित्य समाज का दर्पण होता है साथ ही जनता के ह्रदय का विकास भी इससे होता है। प्रेमचंद की सर्जना अद्वितीय है। शिव कुमार मिश्र के शब्दों में–"प्रेमचंद और उनकी सर्जना यदि बड़ी है तो इसलिए कि उनके अनुभवों का संसार और उसे सहेजने वाला उनका ह्रदय बड़ा है। अनुभवों के इस संसार का एक एक कण उनका अर्जित किया हुआ है, जिन्दगी की सीधी रगड़ से पाया गया है। वह केवल दिमागी नहीं है, उसके पीछे एक समर्पित जीवन की अत्यंत कठोर साधना निहित है" (प्रेमचंद विरासत का सवाल–पृ० **161**)। प्रेमचंद ने जिन्दगी की बुनियाद समस्याओं को उठाया। हंसराज रहबर ने उत्साह के अतिरेक में प्रेमचंद को पुररूत्थानवादी सिद्ध कर दिया है। उनके अनुसार प्रेमचंद अपनी कहानियों के माध्यम से हिन्दुस्तान की जनता के स्वाभिमान और साहस को सजग करते हैं, सोई हुई गैरत को जगाते हैं और उदासीनता को भंग करते हैं। देश की जनता को उसके गौरवमय अतीत से परिचित कराना उस समय के संदर्भो में एक राष्ट्रीय जरूरत थी। इस संदर्भ में शिव कुमार मिश्र के विचार उल्लेखनीय हैं "भाँति–भाँति की गुलामी की बेड़ियों में जकड़ी भारत की साधारण जनता की मुक्ति के

पक्षधर के रूप में उन्होंने अपने लेखन कर्म की शुरूआत में ही पहचान कराई और यातनाग्रस्त इस साधारण जन में आगे बढ़कर किसान, नारी और अछूत इन तीन को सर्वाधिक शोषित और पीड़ित के रूप में रेखांकित किया" (प्रेमचंदः विरासतत का सवाल–पृ० **164**)। जिस मुक्ति की परिकल्पना प्रेमचंद ने की थी वह आज के परिप्रेक्ष्य में सच्ची साबित हुई। जॉन के हाथों से सत्ता गोविन्द के हाथों में आयी परन्तु बाकी सब कुछ वैसा ही रहा जैसा पहले था। अस्तु, प्रेमचंद की जड़े जमीनी गहरीई में रोपी गई थीं और उसकी शक्ति एवं सौन्दर्य का स्रोत साधारण का जीवन था।

'प्रेमचंद–जन्म शताब्दीः कुछ विचारणीय मुद्दे' शीर्षक निबंध में मिश्र जी कुछ ज्वलंत प्रश्नों को सामने रखते हैं। वस्तुतः आचरण तथा रचना मे व्यवस्था का विरोध प्रेमचंद में सर्वत्र है। चूँकि वे मानवीय संवेदनाओं को वाणी देने में भी सफल हैं, अतः एक सहजता भी उनके यहाँ विद्यमान है। खास बात यह है कि वे अपनी जड़ों से भी रस–ग्राह्य करते हैं। निराला साहित्यकार को मस्तिष्क और राजनीति को धड़ मानते हैं। उन्होंने उदर को धर्म की संज्ञा दी। धर्म पर प्रेमचंद और निराला को लेकर बहस की जा सकती है, परन्तु राजनीति के बारे में दोनों के विचार लगभग एक हैं। दोनों मुक्ति के आग्रही हैं और धर्म, दर्शन या राजनीति, संस्कृति का सत् ही उनके साहित्य में मिलता है। प्रेमचंद के बाद के साहित्यकारों के साहित्य में विचारधाराओं का दबाव स्पष्ट दिखता है। साथ ही राजनैतिकों पर साहित्यकारों की निर्भरता भी बढ़ी है। इन सबके चलते पूर्व के साहित्यकारों को अपने–अपने खेमे में समेटने का प्रयास भी होता रहता है। अपने इसी प्रयास में कभी–कभी साहित्यकार के पोस्टमार्टम की कोशिशे भी होती हैं। कहीं–कहीं यह वीभत्स और भदेस शक्ल अख्तियार कर लेता है। प्रेमचंद की जन्मशताब्दी पर भी ऐसा ही कुछ हुआ। प्रेमचंद पर लगाये आरोपों जिनमें से कुछ उनके व्यक्तिगत जीवन से भी सम्बन्धित थे को एक सिरे से खारिज़ किया गया। शिव कुमार मिश्र भी "सोजे वतन जब्त नहीं हुआ यह अफवाह फैलाई गयी" पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि– "सोजे वतन जब्त नहीं हुआ, यह तथ्य क्या प्रेमचंद की रचनाओं से उभरने वाली राष्ट्रीय चेतना के महत्व को कम कर देता है।" (प्रेमचंद विरासत का सवाल–पृ० सं० **186**)। वस्तुतः रचना का विश्लेषण होना चाहिए। इस दृष्टि से प्रेमचंद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। व्यक्तित्व की दृष्टि से भी प्रेमचंद खारिज़ नहीं किये जा सकते।

रमेश कुन्तल मेघ

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ की ख्याति मार्क्सवादी आलोचक के रूप में हैं उन्होंने साहितय का विवेचन आधुनिकता के धरातल पर अस्तित्ववादी शब्दावली में किया है। 'कामायनी' और तुलसीदास पर उनकी लिखी पुस्तकें चर्चित रही हैं इसके अलावे 'क्योंकि समय एक शब्द है', 'आधुनिकता–बोध और आधुनिकीकरण' तथा 'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा' ने अपनी मौलिक विवेचन दृष्टि तथा आधुनिकता के कारण विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। यों उनका व्यवस्थित विवेचन प्रेमचंद पर नहीं मिलता पर प्रसंगवशात उन्होंने प्रेमचंद के कथा–साहित्य पर अपने विचार प्रकट किये हैं। 'आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण' पुस्तक में 'आधुनिक कलाकार का आत्मसंघर्ष' शीर्षक अध्याय में प्रेमचंद का विवेचन आधुनिकता के संदर्भ में किया है। विचारों के नयेपन और मौलिकता के कारण उनकी प्रेमचंद आलोचना महत्त्वपूर्ण हो गई है। प्रस्तुत अध्ययन उपर्युक्त अंश पर आधारित है।

डॉ० रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार आधुनिक कलाकार के आत्मसंघर्ष का अद्वितीय रूपान्तर प्रेमचंद में मिलता है। प्रेमचंद आदर्शवादी तथा गाँधीवादी, उपदेशवादी तथा टालस्टॉय से प्रभावित रहे। उन्होनें सामाजिक घटनाओं को चुनकर उनकी कलात्मक व्याख्या की तथा उन्हें सार्थक ढंग से चित्रित किया। इन घटनाओं तथा संबधों को अर्थ देते–देते उन्होंने आत्मसंस्कार तथा आत्मशिक्षण भी किया। इस क्रम में उपदेश उन्हें 'स्टट' लगते हैं तथा आदर्श फूहड़ता। फिर वे नये सिरे से घटनाओं की सार्थक व्याख्या करके सामाजिक सत्यों का आत्मसाक्षात्कार करते हैं। डॉ० मेघ के अनुसार इस दृष्टि से 'रंगभूमि' में वे पहला प्रयाण करते हैं। इसमें वे यथार्थ की उपेक्षा नहीं करते, अतः अस्वाभाविक सिद्धान्तों का प्रतिपादन बंद कर देते हैं। ईसाई लड़की सोफिया और जमीन्दार विनय सिंह के प्रेम की रोमांटिक क्षरणशीलता दिखाकर वे छायावादी जीवन–दृष्टि की फूहड़ता प्रकट करते हैं, तथा अंधे गाँधीवादी सूरदास के सत्याग्रह की हार के साथ वे आदर्शवादी मानवतावाद से छुट्टी पा लेते हैं। 'गोदान' में प्रेमचंद का आत्मसंघर्ष और आत्मसाक्षात्कार सर्जनात्मक रूप में प्रकट होता है। इस उपन्यास में वे टाल्सटॉय से मुक्त होकर गोर्की के नजदीक आ जाते हैं। निम्नवर्गीय पात्रों के जीवन की विडम्बना संवेदनशील रूप में अंकित करने के कारण आधुनिकता अपने ऊर्जस्वित रूप में प्रकट होती है। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में आदर्शवाद

पर प्रश्नचिह्न लगाकर संदेह प्रकट किया था, वह 'गोदान' में आकर सामाजिक यथार्थ के सत्य में परिणत हो जाता है। 'गोदान' में सामाजिक परिवर्तन के द्वंद का अंकन है। मालती–मेहता के रोमांस में आधुनिकता है। इसके माध्यम से नारी की स्वतंत्रता/स्वच्छन्दता और वैवाहिक जीवन के सवालों को उठाया है। लेकिन मालती–मेहता के आलिंगन–चुम्बन में जो यथार्थ उभरा था उसकी परिणति काल्पनिक आदर्श प्रेम करने से आधुनिकता का क्षरण हुआ है। शराबी और जुआरी पति को हंटरों से मारनेवाली मीनाक्षी और प्रेमविवाह करने वाली मालती की बहन सरोज का अभिनन्दन कर प्रेमचद ने अपना अभिमत प्रकट कर दिया है। यहाँ वे सामंती और अभिजात हिन्दू नैतिकता को धराशायी करते हैं। सिलिया, धनिया, सोना और झुनिया के माध्यम से नई नारी को रचते हैं जो अभिजात नैतिकता को ध्वस्त कर प्रेम को नया आयाम प्रदान करती है। संयुक्त परिवार के विघटन की त्रासदी होरी–धनिया के माध्यम से मुखर हुई है। महाजनी शोषण का विकराल रूप कर्ज और ऋणग्रस्तता की समस्या से उभरता है। इस तरह 'गोदान' मे सामाजिक यथार्थ बिल्कुल नए रूप में है। 'गोदान' की विलक्षणता का मूल कारण प्रेमचंद की सर्जनशीलता है, जो स्वयं आधुनिकता की प्रकृति एवं प्रत्ययगत अवधारणाओं का संदर्भ है। आधुनिकता को सर्जनशीलता का नया संदर्भ भी माना गया है (डॉ० रघुवंश, 'माध्यम', जुलाई 1967, पृ० 10)।

'गोदान' के यथार्थ को सर्जनशीलता का संदर्भ सहज मानवीय स्थितियों से मिलता है। आधुनिकता के संदर्भ में 'गोदान' के पात्रों का संघर्ष इसे नई अर्थवत्ता प्रदान करता है। होरी की मृत्यु और धनिया की पछाड़ उपन्यास को विकसनशील बनाते हैं। जीवन–यथार्थ गहराई के साथ अंकन करने वाला यह हिंदी का पहला उपन्यास है। डॉ० गंगा प्रसाद विमल का यह कथन सही है : 'गोदान केवल एक विचार–कथा या समस्याओं की कथा नहीं है, बल्कि यह मानवीय संघर्ष की कथा है। ऐसी कथा जिसमें स्वाधीनता–युग की क्रान्ति की स्वर लहरी का ज्वार भी है तो सारी लड़ाई का पराजय बोध भी ('प्रेमचंद : आज के संदर्भ में', पृ० 147)।

सर्जनशीलता के इस संदर्भ में प्रेमचंद का रचना संघर्ष अभिव्यक्ति की नई व्यंग्यात्मक मुद्राएँ लिए हुए है। यह वही मुद्राएँ हैं जो 'पूस की रात' और कफ़न' में भी उपलब्ध होती हैं और जिनसे आज की हिन्दी कहानी की शुरुआत माना गया है। 'कफ़न' से आधुनिक – बोध की शुरुआत मान सकते हैं। इस कहानी में एक ओर माधव की जवान

बीवी बुधिया प्रसव वेदना से पछाड़ खाकर चीख रही है। तो दूसरी ओर माधव और उसका बाप घीसू अलाव के पास बैठे–बैठे गर्म आलू निगलते जा रहे हैं। यह अजनबीपन की भयावह स्थिति है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ इस पर टिप्पणी करते हैं :–

'प्रेमचंद बताते हैं कि ये दोनों खेत मजदूर कामचोर हैं, बेहया हो गए हैं, काहिल हैं और फॉके करते हैं, इतने दीन हैं कि लोग इन्हें कुछ न कुछ कर्ज दे देते हैं तथा घीसू ने इसी आकाशवृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी।' (आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण, पृ० **433**)।

वस्तुतः यह श्रम से अजनबीपन की स्थिति है जिसकी तरफ़ संकेत पहले पहल कार्ल मार्क्स ने अपने सुप्रसिद्ध निबंध 'अजनबी श्रम' में किया था। पूँजीवादी समाज की अनिवार्य विकृतियों में से एक है अजनबीपन। अपने श्रम का उचित प्रतिफल न मिलने से श्रमिक के भीतर अजनबीपन पनपता है और वह श्रम से जी चुराता है। अजनबी दुनिया में उसके कृत्य अमानवीय और क्रूर हो उठते हैं। घीसू और माधव इसी अजनबीपन के शिकार हैं। प्रसव पीड़ा से छटपटाती बुधिया को देखने घीसू और माधव में से कोई नहीं जाता क्योंकि उन्हें भय था कि आलुओं का बड़ा दूसरा साफ कर देगा ! जिस समाज में किसानों की कमजोरियों का लाभ उठाने वाले लोग हरदम घात लगाये बैठे रहते हैं वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। डॉ० मेघ का कथन है : ''घीसू और माधव की यह दशा परायेपन की है– श्रम के शोषण से उत्पन्न। इस परायेपन में प्रेमचंद ने आगे बढ़कर अवमानवीयकरण तथा पाशविकीकरण जोड़ दिया।'' (उपर्युक्त, पृ० **433**)।

डॉ० मेघ के अनुसार यह 'गोदान' से अगला प्रयाण है। घीसू और माधव में श्रम का परायापन ही नहीं उद्‌भूत होता बल्कि गुलाम जैसी अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति जागरुकता भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार डॉ० कुन्तल मेघ के शब्दों में, ''प्रेमचंद ने 'कफ़न' में पहली बार हमारे आधुनिक बोध की निषेधात्मक संपूर्णता को प्रकट किया – परायापन, श्रम का परायापन, अवमानवीयकरण, पाशविकीकरण, चेतना का लोप आदि।'' (उपर्युक्त, पृ० **433**)।

घीसू और माधव को यह सोचकर संतोष है कि कम से कम उन्हें किसानों की – सी जी तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती और उनकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग

बेजा फायदा तो नहीं उठाते। घीसू की चेतना में मानवता की संभावनाएँ कभी–कभी कौंध जाती है और स्वयं अपने अनुभवों से समाज की विषमताओ को समझता जाता है। कफन लाने के प्रसंग में वह बुधिया की मृत्यु के सामाजिक कारणो की तथा झूठी नैतिक प्रथाओं की फूहडता का अहसास कराता है। दोनों कफ़न के रुपयों की शराब पी लेते हैं। डॉ० मेघ के अनुसार इसी पाशविकता के बीच अंधविश्वास तथा धर्म की फूहड़ता भी उभरती हैं

इस तरह आधुनिकता के संदर्भ में किया गया प्रेमचद का विवेचन, देखने की एक नई दृष्टि देता है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ की आलोचना प्रेमचंद की आधुनिकता पर ऊँगली रखती है: "इस तरह प्रेमचंद ने आधुनिक बोध के संत्रास, अस्थिरता, अमानवीयता, दीनता तथा फूहड़ता को एक विराट फ़लक पर प्रस्तुत किया है तथा स्वतंत्रता के संकल्प की क्षीण छायाएँ भी पेश की हैं।" (आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण, पृ० **434**)।

प्रेमचंद की कहानी पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अपने जमाने के सामाजिक यथार्थ के अनेक केन्द्रीय स्थलों को वे अनेक कोणों से देखते हैं और उसकी वास्तविकता को कभी भी अपने विचारों के आधार पर विकृत नहीं करते। ह्रदय परिवर्तन या संयोगों का जहाँ सहारा लेते हैं वहाँ भी वे यथार्थ और स्वाभाविकता का दामन नहीं छोड़ते। डॉ० सुधीश पचौरी ने प्रेमचंद की रचना प्रक्रिया में अजनबीपन के प्रत्यय को दिखाते हुए डॉ० मेघ के विचारों की ही पुष्टि की है :– 'गोदान के होरी का भी एक अजनबीपन है, कफ़न के घीसू–माधव का भी एक अजनबीपन है और सवा सेर गेहँ के शंकर का भी अजनबीपन है। किंतु वहाँ प्रेमचंद ने इन पात्रों का बेगानापन ठोस सामाजिक संबंधों के बीच ही चित्रित किया है, अमूर्त्त शून्य संदर्भ में नहीं। इसीलिए वहाँ वर्णन नपे–तुले, सधे–सधाये, स्वाभाविक और यथार्थवादी हैं। जिस मन:स्थिति को बताने में ये नये कहानीकार पाँच पृष्ठ रंगते हैं, प्रेमचंद एक वाक्यांश से या एक विशेषण से उसे स्पष्ट कर देते हैं। अजनबीपन की मन:स्थिति एक ठोस सामाजिक प्रक्रिया है पूँजीवादी समाज में और उसे उन ठोस संदर्भों में ही सिद्ध किया जा सकता है। ('उत्तरार्द्ध' प्रेमचंद अंक, अप्रैल **1980** में सुधीश पचौरी का लेख, पृ० **89**)।

सप्तम् अध्याय :

प्रेमचन्द के कथा साहित्य की आलोचना – प्रक्रिया का अध्ययन

प्रेमचंद के कथा साहित्य की आलोचना – प्रक्रिया का अध्ययन

प्रेमचंद हमारे आलोचकों की सूझबूझ और क्षमता को परखने की कसौटी रहे हैं। एक हद तक शायद आज भी हैं। कोई आलोचक या सामान्य पाठक प्रेमचंद को किस हद तक समझता है, यह बात इस तथ्य पर निर्भर करता है कि वह भारतीय समाज की बनावट और उसकी समस्याओं को किस हद तक समझता है। प्रेमचंद का मूल्यांकन और उनके महत्त्व की स्वीकृति इस बात पर निर्भर करती है कि प्रेमचंद के आलोचक का नजरिया साहित्य और समाज के प्रति क्या है, कुल मिलाकर उसका विश्वदृष्टिकोण क्या है। प्रेमचंद इसी अर्थ में कसौटी रहे हैं और आज भी हैं। इस संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा का कथन उल्लेखनीय हैः 'प्रेमचंद के साहित्य की परख समालोचक की राजनीतिक सूझबूझ और उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण की परख है।'

प्रेमचंद के कथा–साहित्य पर लिखी आलोचनाओं को मोटे तौर पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है (i) प्रेमचंद समर्थक आलोचना और (ii) प्रेमचंद विरोधी आलोचना। इसी को यों भी विभाजित किया जा सकता है (i) मार्क्सवादी आलोचना और (ii) गैर मार्क्सवादी आलोचना। गैर मार्क्सवादी आलोचना का मूल स्वर प्रेमचंद विरोधी है वहीं मार्क्सवादी आलोचना प्रेमचंद साहित्य का पक्षधर है। ज्यादातर मार्क्सवादी आलोचक प्रेमचंद के पक्ष में लामबन्द हैं, एकाध शिवदान सिंह चौहान जैसे अपवादों को छोड़कर। इसी तरह साहित्य में आंशिक रूप से स्वीकृति पाई दलित आलोचना में भी विरोध और समर्थन के दो खेमे देखे जा सकते हैं।

दलित आलोचना का बड़ा हिस्सा प्रेमचंद का समर्थन करता है और उन्हें प्रासंगिक और प्रामाणिक मानता है। दूसरा हिस्सा उन पर तरह तरह के आरोप लगाता है। इनके अनुसार प्रेमचंद ने दलितों का मखौल उड़ाया है। वस्तुतः दलित आलोचना का यह आरंभिक दौर है, इसलिए उसमें आवेश और उफान ज्यादा है। क्रमशः जब दलित आलोचना परिपक्व और प्रौढ़ होगी तब प्रेमचंद विषयक आलोचना में गंभीरता आएगी और सतहीपन खत्म होगा। अभी दलित आलोचना की इस सुगबुगाहट में किसी दलित आलोचक का नाम इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि उसका उल्लेख किया जाय।

गैर मार्क्सवादी आलोचना प्रेमचंद के प्रति कितनी अनुदार रही है, इसका अंदाजा डॉ० कमलकिशोर गोयनका के इस कथन से लगाया जा सकता है : 'यहाँ तक कि युग के सर्वाधिक प्रबुद्ध समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में अनेक उपन्यासों की विस्तृत विवेचना के प्रति उपेक्षा भाव रखा, और अपने सक्षिप्त विवेचन में 'युग' के कुछ अन्य आलोचकों के स्वर में स्वर मिलाते हुए उन्हें 'प्रचारवादी' घोषित कर दिया।' इस संदर्भ में डॉ० समीक्षा ठाकुर का पर्यवेक्षण एकदम सही है कि प्रेमचंद साहित्य के प्रति जो उत्साह 'हिंदी शब्द सागर' की भूमिका में था वह आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' के संशोधित संस्करण में आकर ख़त्म हो गया। प्रेमचंद के प्रति आचार्य शुक्ल में मन में प्रशसां का जो भाव आरम्भ में था, उसमें क्रमशः कमी आती गई और आलोचना का स्वर प्रखर होने लगा।

आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी ने प्रेमचंद पर किये जाने वाले आक्षेपों को अप्रत्यक्ष समर्थन देते हुए आरोपों की जानकारी इस प्रकार दी है : 'आपको स्त्री चरित्रों का चित्रण करने में सफलता नहीं मिली, प्रचारक रूप प्रमुख है, ब्राह्मणदोही हैं, भाषा का बहुत साधारण ज्ञान है।' स्वयं आचार्य बाजपेयी के अनुसार 'हिंदी का यह युग विचार की पूँजी में दिवालिया है और प्रेमचंद भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके अनुसार प्रेमचद के मानसिक संघटन के कल्पना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। बाजपेयी जी का निष्कर्ष है कि कथानक, चरित्र, विचारसूत्र और कला की निर्मिति में प्रेमचंद प्रथम श्रेणी के यूरोपीय उपन्यासकारों की ऊँचाई पर नहीं पहुँचते।

भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विद्वान डॉ० नगेन्द्र को प्रेमचंद दूसरे दर्जे के रचनाकार लगते हैं। 'आस्था के चरण' में संकलित एक लम्बे निबंध में उन्होंने प्रेमचंद पर कई तरह के आक्षेप लगाये हैं जो स्वयं आलोचक और उसकी आलोचना के लिए ज्यादा मौजूँ है। श्री विश्वम्भर 'मानव' ने इसका सही जवाब दिया है कि प्रेमचंद सभी दृष्टियों से एक प्रतिभाशाली कलाकार हैं। यदि डॉ० नगेन्द्र को उनके विचारों में पोलापन दिखाई देता है तो इसे उनका दृष्टिदोष समझना चाहिए।

समकालीन और परवर्ती रचनाकारों का एक वर्ग भी ग़ैरमार्क्सवादी आलोचकों के सुर में सुर मिलाता है। जैनेन्द्र ने समस्याओं के सरल समाधान का दोष देखा तो अज्ञेय का आरोप है कि उनके पात्र केवल एक परिपाटी के साँचे में ढली हुई छायाएँ मात्र हैं। यह भी कि उनका शिक्षित मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वसनीय है।

इलाचंद्र जोशी भी विरोधियों की कतार में शामिल हैं। धर्मवीर भारती ने प्रेमचंद्र पर 'शार्ट कट अपनाने' का आरोप लगाया जिससे साहित्य में सतहीपन आया। निर्मल वर्मा का तो यह मानना है कि प्रेमचंद के पास उपन्यास का सही ढाँचा ही नहीं था। परवर्ती रचनाकारों में फणीश्वर नाथ 'रेणु', नागार्जुन, मार्कण्डेय, राजेन्द्र यादव और दूधनाथ सिंह प्रेमचंद की विरासत के दावेदार रहे हैं। उनकी कोशिश प्रेमचंद – साहित्य के सही संदर्भ को उजागर करने की रही है।

ग़ैरमार्क्सवादी आलोचकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्वर संयत और संतुलित है। उनकी आलोचना का विशिष्ट क्षेत्र मध्यकाल है। आधुनिक काल और उसके साहित्य में उनका मन रमा नहीं है। कुछ रवीन्द्र नाथ ठाकुर की मानवतावादी दृष्टि के प्रभाव से और कुछ दूसरी परम्परा के प्रतिष्ठापक आलोचक होने के कारण प्रेमचंद के विवेचन में उन्होंने उदारता बरती है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा दूसरे महत्त्वपूर्ण गैर मार्क्सवादी आलोचक हैं जिनकी आलोचना का स्वर प्रेमचंद के समर्थन में फूटा है। इन्होंने प्रेमचंद के महत्व को उजागर करने के साथ उनकी भाषा पर भी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान का समाजशास्त्रीय विवेचन पूर्वाग्रहमुक्त है और उसमें एक तरह का नयापन है। प्रगतिवादी आलोचक हंसराज रहबर उत्साह के अतिरेक में प्रेमचंद्र को पुनरुत्थानवादी सिद्ध करने लगते हैं। वैसे वे प्रेमचंद के जीवन के माध्यम से उनके साहित्य तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। हिंदी में काव्यभाषा को केन्द्र में रखकर चलने वाले एकमात्र आलोचक डॉ० रामस्वरूप चर्तुवेदी की प्रेमचंद की भाषा पर की गई टिप्पणी महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद अपनी रचना प्रक्रिया में भाषा का सपूर्णतः दोहन कर लेते हैं, फलतः आलोचक के लिए ऐसी भाषा छवियाँ और संकेत शेष नही बचते जिनके सहारे वह उस रचना में आगे अर्थ का संर्वद्धन कर सके। यहाँ आकर प्रेमचंद आलोचक के लिए मुश्किल बनते हैं और यह स्थिति अपने में विडम्बनापूर्ण है कि अनुभव बहुलता के जिस विशिष्ट गुण के लिए पाठक के रूप में आभारी था, वही अनुभव बहुलता आलोचक के रूप में उसके सामने एक सीमा बनाती है। डॉ० चतुर्वेदी के अनुसार, प्रेमचद मन को छूते हैं और झकझोरते भी हैं। हिंदी क्षेत्र का व्यक्ति, परिवार और समाज उनकी कथाकृतियों में पुनर्सृजित हुआ है। ग़ैरमार्क्सवादी आलोचकों के प्रेमचंद विरोध की चरम परिणति डॉ० गिरिजा राय के उस कथन में दिखती है जहाँ उन्होंने प्रेमचंद को उर्दू का कथाकार घोषित किया हैं जैसे मीर और गालिब महान रचनाकार होते हुए उर्दू के हैं, उसी तरह प्रेमचंद महान कथाकार हैं

लेकिन उनका स्थान हिन्दी परम्परा में नहीं, उर्दू परम्परा के बीच है।' ('साहित्य का नया शास्त्र) में 'उर्दू परम्परा और प्रेमचंद' पृ० **49**।

हिंदी साहित्य की जातीय और जनवादी परम्परा के मार्क्सवादी पुरोधा डॉ० रामविलास शर्मा के मूलंकन की पहली कडी प्रेमचंद हैं। इस आलोचनात्मक मूल्यांकन से उनका वैचारिक संघर्ष शुरु हो जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि प्रेमचंद उनके लिए एक लेखक से अधिक एक प्रतिमान बन गये हैं। इस सदर्भ में उनकी कुछ स्थापनाएँ अतिरंजनापूर्ण और एकांगी हो गई है। टालस्टॉय, दोस्तोएवस्की, गोर्की और शरत्चंद्र इन सबको, प्रेमचंद को स्थापित करने के अतिरेकपूर्ण उत्साह में नीचा दिखाया है। उनके अनुसार गोर्की में अवारापन था, टालस्टॉय पर ईसाई प्रभाव था, दोस्तोएवस्की हत्यारों, विक्षिप्तों और मानसिक रूप से अस्वस्थ व्यक्तियों का कथाकार है। शरत्चंद्र इसलिए घटिया लेखक हैं क्योंकि उन्होंने बंगाल के भद्रलोक और घरेलू समस्याओं को केन्द्र बनाया है। उनकी मूल समस्या प्रेम के आकर्षण–विकर्षण की है। यह सही है कि इस प्रकार की अतिरेकपूर्ण और विवादास्पद् स्थापनाओं के पीछे शिवदानसिंह चौहान जैसे आलोचकों की 'प्रेमचंद और गोर्कीः तुलनात्मक अध्ययन की समस्या' जैसे प्रेमचंद के अवमूल्यन के कुत्सित प्रयासों की प्रतिक्रिया है। पर इससे डॉ० शर्मा के उत्साहपूर्ण प्रयास को सही नहीं ठहराया जा सकता।

इसमें कोई शक नहीं कि प्रेमचंद अपने युग के साथ थे और अपने युग की उथल–पुथल को अपनी रचनाओं में सशक्त ढंग से चित्रित किया है। प्रेमचंद भारतीय समाज की बुनावट को बहुत गहराई तक देखने में सक्षम थे। अपने कथा साहित्य में बहुत सी सामाजिक कुरीतियों की जमकर आलोचना की है और उनकी जड़ भी उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में खोज निकाली है। इसलिये उनकी सर्जना मात्र सुधारवादी न होकर क्रांतिकारी और सामाजिक व्यवस्था की जड़ पर आघात करने वाली है। इसी से डॉ० रामविलास शर्मा प्रेमचंद को एक क्रांतिकारी और युग द्रष्टा रचनाकारी घोषित करते हैं जिनमें अपने युग के बहुत से राजनीतिक नेताओं से बहुत आगे देख सकने की क्षमता थी।

अपने युग के मनोरंजन धर्मी उपन्यासों से अलग साहित्य की सामाजिक भूमिका को लेकर प्रेमचंद काफी सचेत हैं। प्रेमचंद का यथार्थवादी दृष्टिकोण अपने युग के सामाजिक–राजनीतिक जीवन पर तीव्र प्रकाश डालकर उसके घृणित पक्ष को प्रकट करता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में जनजागरण पर

जनप्रतिरोध अंकित करने वाले प्रेमचद निश्चित रूप से पहले भारतीय लेखक थे। इसी आधार पर रघुपतिसहाय 'फिराक़' ने उन्हें रवीन्द्रनाथ और शरतचंद्र की तुलना में एक बड़ा लेखक माना। वास्तव में राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई में जनता की प्रतिरोध – चेतना के अकन में प्रेमचंद बेजोड़ हैं। स्वाधीनता आंदोलन में कांग्रेस की जनविरोधी और वर्गसहयोग पर आश्रित भूमिका प्रेमचंद बहुत पहले पहचान लेते हैं। जॉन की जगह गोविन्द को गद्दी मिल जाने वाली आजादी की वास्तविकता उनसे छिपी नही थी। डॉ० शर्मा का यह कथन एकदम सटीक है कि हमारे बहुत से राष्ट्रीय नेताओं की तुलना में प्रेमचंद का रचना विवेक और सर्जनात्मक अर्न्तदृष्टि कहीं अधिक विकसित थी।

रामविलास शर्मा ने 'सेवासदन' को वेश्यावत्ति का उपन्यास न मानकर भारतीय नारी की पराधीनता की समस्या का उपन्यास माना है। इस तरह से डॉ० शर्मा ने प्रेमचंद के कथा–साहित्य को समझने की मौलिक दृष्टि विकसित की। बँधी–बँधायी आलोचना से अलग हटकर नए निष्कर्ष बनाये और उसके आधार पर प्रेमचंद की महत्त का उद्घोष किया। इस प्रकार के प्रयत्न में कुछ गल्तियाँ हो सकती हैं, अतिरंजनाएँ भी आ सकती है पर इससे रामविलास जी की आलोचना की मौलिकता पर आँच नहीं आती। वस्तुतः रामविलास शर्मा पहले आलोचक है जिन्होंने बलपूर्वक और दृढ़ता के साथ प्रेमचद के महत्त्व की घोषण की।

डॉ० राम विलास शर्मा के बाद, प्रेमचंद आलोचना में दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम डॉ० नामवर सिंह का है। यों नामवर सिंह ने व्यवस्थित रूप में प्रेमचंद पर कुछ लिखा नहीं है पर उनके कुछ व्याख्यान केवल प्रेमचंद पर केन्द्रित हैं और अत्यत महत्त्वपूर्ण हैं। मूल्यांकन की दृष्टि से यह रामविलास शर्मा के आगे की कड़ी है। डॉ० नामवर सिंह के अनुसार प्रेमचंद ने सुदरता की परिभाषा ही बदल दी। वे जीवन–संग्राम में सौन्दर्य का दर्शन करते हैं। प्रेमचंद की सारी रचनाएँ सोद्देश्य हैं और जीवन की बेहतरी के लिए संघर्ष करती हैं। उनके सादगी के सौन्दर्यशास्त्र का आधार भी जीवन है। प्रेमचंद का महत्त्व सामंतविरोधी चेतना के संदर्भ में उभरता है। प्रेमचंद को साथ हिंदी उपन्यास सहसा वयस्क होता है। डॉ० नामवर सिंह का प्रेमचंद विषयक विवेचन प्रेमचंद के बारे में नई स्थापनाएँ करता है जो मौलिक और विचारोत्तेजक हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा और डॉ० नामवर सिंह जैसे धुरंधर मार्क्सवादी आलोचकों के बाद मार्क्सवादी आलोचना की दूसरी कतार के आलोचकों में डॉ० शिवकुमार मिश्र, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० कुँवरपाल सिंह, डॉ० नन्दकिशोर नवल और डॉ० मैनेजर पांडेय के

नाम प्रमुख हैं। शिवकुमार मिश्र और डॉ० नवल की प्रेमचद पर एक—एक पुस्तक प्रकाशित है। कुँवरपाल सिंह और मैनेजर् पाडेय ने प्रेमचंद से संबधित कई लेख लिखे हैं। रमेश कुन्तल मेघ ने प्रसंगवशात प्रेमचंद—साहित्य की चर्चा आधुनिकता के धरातल पर की है जिसमें पर्याप्त मौलिकता है। शिवकुमार मिश्र ने डॉ० रामविलास शर्मा की मान्यताओं का भाष्य किया है। उसमें किसी तरह का नयापन नहीं है और मौलिकता का अभाव है। इनकी आलोचना अखबारीपन लिए हुए और मार्क्सवादी कट्टरता से भरी हुई है।

परिशिष्ट :

(क) प्रेमचंद का कथा साहित्य

(ख) अन्य रचनाएँ

(ग) प्रेमचंद पर लिखित विभिन्न
शोध ग्रंथ सूची

(घ) प्रेमचंद विषयक आलोचनात्मक
ग्रंथो की सूची

(ङ) अन्य सहायक ग्रंथों की सूची

(च) विभिन्न पत्र – पत्रिकाएँ

परिशिष्ट

(क) प्रेमचंद का कथा साहित्य

प्रेमचन्द के प्रकाशित कहानियों की सूची कालक्रमानुसार

कहानी संग्रह का नाम		प्रकाशन काल
(1)	सप्त सरोज	1917 ई०
(2)	नवनिधि	1918 ई०
(3)	प्रेम–पूर्णिमा	1920 ई०
(4)	प्रेम–पचीसी	1923 ई०
(5)	प्रेम–प्रसून	1924 ई०
(6)	प्रेम–प्रमोद	1926 ई०
(7)	प्रेम–प्रतिभा	1926 ई०
(8)	प्रेम–द्वादशी	1926 ई०
(9)	अग्नि समाधि	1929 ई०
(10)	प्रेम–तीर्थ	1929 ई०
(11)	प्रेम–चतुर्थी	1929 ई०
(12)	पॉच–फूल	1929 ई०
(13)	प्रेम–प्रतिज्ञा	1929 ई०
(14)	समर–यात्रा	1930 ई०
(15)	सप्त – सुमन	1930 ई०
(16)	प्रेम पंचमी	1930 ई०
(17)	प्रेरणा	1932 ई०
(18)	नव जीवन	1935 ई०
(19)	पंच–प्रसून	1934 ई०
(20)	प्रेम–सरोवर	
(21)	प्रेम–कुंज	
(22)	प्रेम–गंगा	

(23) प्रेम–लोक

(24) मानसरोवर भाग 1 (सत्ताइस कहानियाँ) 1936 ई०

(25) मानसरोवर भाग 2 (छब्बीस कहानियाँ)

(26) मानसरोवर भाग 3 (बत्तीस कहानियाँ)

(27) मानसरोवर भाग 4 (बीस कहानियाँ)

(28) मानसरोवर भाग 5 (चौबीस कहानियाँ)

(29) मानसरोवर भाग 6 (बीस कहानियाँ)

(30) मानसरोवर भाग 7 (तेइस कहानियाँ)

(31) मानसरोवर भाग 8 (छब्बीस कहानियाँ)

प्रेमचंद के उपन्यासों का काल –निर्देश

(1)	असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान–रहस्य	8 अक्टूबर 1903 से 1 फरवरी 1905 तक बनारस के उर्दू साप्ताहिक 'आवाज़ ए खलक' में क्रमशः प्रकाशित
(2)	हमखुर्मा व हमसवाब	1906 में प्रकाशित
(3)	प्रेमा	'हम खुर्मा व हम सवाब' का हिन्दी रूपान्तर प्रकाशन 1907 में इंडियन प्रेस से
(4)	किशना	1907 में बनारस मेडिकल हाल प्रेस से प्रकाशित
(5)	रूठी रानी	अप्रैल 1907 से अगस्त 1907 तक 'जमाना' में क्रमशः प्रकाशित
(6)	जलवए ईसार	1912 में इंडियन प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित
(7)	सेवासदन (बाजारे हुस्न)	1919 में प्रकाशन। लिखा पहले उर्दू में गया, परन्तु प्रकाशन हिन्दी में पहले हुआ।
(8)	प्रेमाश्रम (गोशए आफियत)	1921 में प्रकाशन। लेखन पहले उर्दू में हुआ परन्तु छपा पहले हिन्दी में।
(9)	वरदान	'जलवए ईसार' का हिन्दी रूपान्तर। प्रकाशन 1921 में ग्रंथ भंडार, बम्बई में।

(10)	रगभूमि (चौगाने हस्ती)	**1925** में प्रकाशन। लेखन पहले उर्दू में हुआ परन्तु छपाई पहले हिन्दी में।
(11)	कायाकल्प (पर्दए मजाज)	**1926** में प्रकाशन। मूल पांडुलिपि हिन्दी में
(12)	अहंकार	**1926** में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित। अनातोल फ्रांस के 'शायस' का रूपान्तर
(13)	निर्मला	नवम्बर **1925** से नवम्बर **1926** तक 'चाँद' में क्रमशः प्रकाशित
(14)	प्रतिज्ञा	जनवरी **1927** से नवम्बर **1927** तक 'चाँद' में क्रमशः प्रकाशित
(15)	गबन	**1931** में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित
(16)	कर्मभूमि (मैदाने अमल)	**1932** अगस्त में प्रकाशन
(17)	गोदान	**1936** जून में प्रकाशन
(18)	मंगलसूत्र	**1948** में प्रकाशन (लेखक का अपूर्ण उपन्यास)

(ख) अन्य रचनाएँ

प्रेमचंद के नाटक

(1)	संग्राम	पहला हिन्दी नाटक – जनवरी **1923** में प्रकाशित हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से
(2)	कर्बला	सन् **1924** में गंगा पुस्तक माला से प्रकाशित
(3)	प्रेम की वेदी	सन् **1933** में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित

अनुवाद

(1)	अनातोले फ्रांस कृत 'थाइस' का हिन्दी अनुवाद। सन् **1923** में हिन्दी पुस्तक भवन; हरिसन रोड, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित

(2)	सुखदास	जार्ज इलियट कृत SILAS MARINES का हिन्दी अनुवाद 1923 में
(3)	आजाद कथा	रतननाथ सरशार के वृहद् ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण गंगा पुस्तकमाला से 1926 में प्रकाशित
(4)	न्याय	'गॉल्सवर्दा के जस्टिस' का अनुवाद एकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित
(5)	चाँदी की डिबिया	जॉन गॉल्सवर्दी के SILVER BOX का अनुवाद। प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडमी सन् 1931 में
(6)	हड़ताल	जॉन गॉल्सवर्दी के STRIFE नामक तीन अंकों के नाटक का हिन्दी अनुवाद, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से प्रकाशित
(7)	पिता का पत्र पुत्री के नाम	जवाहरलाल नेहरु की प्रसिद्ध पुस्तक 'लेटर्स फ्राम ए फादर टू हिज डाउटर' का हिन्दी अनुवाद
(8)	शबेतार	मांटरलिक के 'साइटलेस' का हिन्दी अनुवाद। पहले 1917 में जमाना में प्रकाशित। फिर हंस प्रकाशन से पुस्तक के रूप में प्रकाशित।
(9)	सृष्टि का आरम्भ	जार्ज बर्नाड शॉ कृत METHUSELAH का संक्षिप्त संस्करण निधन के बाद प्रकाशित हिन्दी में।
		आस्कर वाइल्ड के 'घोस्ट आफ केन्टरविल्लेस' का अनुवाद – अप्रकाशित

बालोपयोगी पुस्तकें

(1)	महात्मा शेखसादी	1918 में प्रकाशित

(2)	मनमोदक	**1924** में प्रकाशित
(3)	जगल की कहानियाँ	
(4)	कुत्ते की कहानी	
(5)	रामचर्चा	**1929** में प्रकाशित

(ग) प्रेमचंद पर लिखित विभिन्न शोध ग्रंथ सूची

(1)	उपन्यासकार प्रेमचद उनकी कला, सामाजिक विचार और जीवन दर्शन	शंकरनाथ शुक्ल, **1952**, आ० वि० वि०
(2)	प्रेमचंद का नारी–चित्रण और उसे प्रभावित करने वाले स्रोत	गीतालाल, **1961**, प० वि० वि०
(3)	प्रेमचंद और रमणलाल, बसंतलाल देसाई के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	गंगा प्रसाद पाठक, **1960**, आगरा विद्यापीठ
(4)	प्रेमचंद के कथा साहित्य में शहरी जीवन	यज्ञदत्त शर्मा **1961**, इ० वि० वि०
(5)	प्रेमचंद के उपन्यासों और लघु कहानियों का समीक्षात्मक अध्ययन	श्रीमती शीला गुप्ता, **1962**, ई०वि०वि०
(6)	प्रेमचंद की कहानियों के आधार पर तद्‌युगीन सामाजिक जीवन का अध्ययन	इन्द्रमोहन कुमार सिन्हा, **1966**, प० वि० वि०
(7)	प्रेमचंद की रचनाओं में व्यक्ति और समाज	रक्षापुरी, **1966**, इ० वि० वि०
(8)	प्रेमचंद और प्रसाद के कथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	जगदीश चन्द्र शर्मा 'इंदु', **1963**, आ० वि० वि०
(9)	प्रेमचंद के उपन्यासों में समसामायिक परिस्थितियों का प्रतिफलन	सरोज प्रसाद, **1966**, बि० वि० वि०
(10)	प्रेमचंद के उपन्यास–साहित्य में	सत्येन्द्र वर्मा, **1966**, इ० वि० वि०

	सामाजिक समस्याएँ	
(11)	खाडेकर और प्रेमचंद के नारी–पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	शोभना खतारकर, 1966, पूना वि० वि०
(12)	प्रेमचंद के समस्यामूलक उपन्यास	महेन्द्र भटनागर, 1957, नाग० वि० वि०
(13)	प्रेमचंद और शरत्चन्द्र के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	सुरेन्द्रनाथ तिवारी, 1962, ल० वि० वि०
(14)	प्रेमचद तथा उनके समवर्ती कथा–साहित्य में लोक–संस्कृति	प्रभा शर्मा, 1966, ल० वि० वि०
(15)	प्रेमचंद के उपन्यासों में मध्यवर्ग	डॉ० श्यामकुमार घोष, 1967
(16)	प्रेमचंद के व्यक्तित्व और जीवन–दर्शन के विधायक तत्व	कृष्ण चंद्र पाण्डेय, 1967, ई० वि० वि०
(17)	प्रेमचंद और हरिनारायण आप्टे के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	प्रमिला गुप्ता, 1967, दिल्ली वि० वि०
(18)	प्रेमचंद और शमाजी के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	मुहम्मद अब्दुल करीम, 1978, केरल वि० वि०
(19)	कहानीकार प्रेमचंद तथा पन्नालाल पटेल का तुलनात्मक अध्ययन	रामबाबू सारस्वत, 1967, आगरा विद्यापीठ
(20)	शैली विज्ञान की दृष्टि से प्रेमचंद की भाषा का अध्ययन	सुरेश कुमार, 1968, आ० वि० वि०
(21)	प्रेमचंद के उपन्यासों के मानवीय संबंध	बच्चन पाठक, 1969, प० वि० वि०
(22)	प्रेमचंद के उपन्यासों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	प्रकाश बलशम, 1970, बि० वि० वि०
(23)	प्रेमचंद औन नानक सिंह के उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	निर्मल चावला, 1970, ल० वि० वि०
(24)	प्रेमचंद की शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन	मनमोहन पांडेय, 1970, जबलपुर वि० वि०
(25)	प्रेमचंद और प्रसाद के नारी पात्र	संतोष जाक, 1970, कश्मीर वि० वि०
(26)	प्रेमचंद साहित्य का समाजशास्त्रीय	निर्मला वर्मा, 1971, इ० वि० वि०

अध्ययन

(27)	प्रेमचंद साहित्य में भारतीय ग्राम और उनकी समस्याएँ	इभा गुप्ता, 1971, इ० वि० वि०
(28)	प्रेमचद के नारी पात्र	भरत सिंह, 1971, आ० वि० वि०
(29)	समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद साहित्य का मूल्यांकन	सतीश कुमार दूबे, 1971, इन्दौर वि० वि०
(30)	प्रेमचंद और नानक सिंह के उपन्यास	तिलकराज बठेरा, 1971, दिल्ली वि० वि०
(31)	प्रेमचद की परिवार निष्ठा और उसकी रचना प्रक्रिया पर प्रभाव	रामसिंह, 1972, इ० वि० वि०
(32)	प्रेमचंद के कथा साहित्य में अंतर्द्वन्द	ऊषा खत्री, 1972 आ० वि० वि०
(33)	प्रेमचंद की कहानियों का शैली तात्विक अध्ययन	राधा किशन, 1972, राजस्थान वि० वि०
(34)	प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प–विधान	कमल किशोर गोयनका, 1972
(35)	प्रेमचंद के उपन्यासों में जीवन और कला	इन्दुमती सिंह मल्ल, 1973, का० हि० वि० वि०
(36)	प्रेमचंद साहित्य में कारकीय प्रयोग	वेदप्रकाश वशिष्ठ, 1973, मेरठ वि० वि०
(37)	प्रेमचंद और गोपीचंद : एक तुलनात्मक अध्ययन	सत्यनारायण, 1974, आन्ध्र वि० वि०
(38)	प्रेमचंद तथा उनकी उर्दू कहानियाँ : एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन	मुहम्मद आजम, 1974, शिवाजी वि० वि०
(39)	प्रेमचंद साहित्य में सूक्तियाँ : एक विवेचनात्मक अध्ययन	मंजू भटनागर, 1974, रा० वि० वि०
(40)	प्रेमचंद और ताराशंकर की उपन्यास – कला का तुलनात्मक अध्ययन	कमलनाथ, 1974, विक्रम विश्वविद्यालय
(41)	प्रेमचंद और शरत् के नारी–पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	कमलादेवी गुप्ता, 1974, का० हि० वि० वि०
(42)	युगचेतना के संदर्भों में प्रेमचंद	शिवकुमार यादव, 1974, का० हि० वि० वि०
(43)	प्रेमचंद साहित्य में शिशु– मनोविज्ञान	श्रीमती सुसन्ना चन्ने, 1978, इ० वि० वि०

(44)	प्रेमचंद और प्रसाद के कथा साहित्य में नारी	रमा मेहरोला, 1974, ल० वि० वि०
(45)	प्रेमचंद और शरत्चन्द्र के उपन्यासों में अभिव्यक्त समाज और जीवन–दर्शन	मोनिका चटर्जी, 1975, ल० वि० वि०
(46)	प्रेमचंद के कथा–सहित्य में ग्राम्य जीवन	कांति सिंह, 1975, का० हि० वि० वि०
(47)	हिन्दी कहानी और प्रेमचंद	रोचना सुमन, 1975, बि० वि० वि०
(48)	प्रेमचंद के उपन्यासों में युग–जीवन	श्रीकांत पांडेय, 1974, सागर वि० वि०
(49)	प्रेमचंद तथा शरत्चन्द्र के कथा – साहित्य नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	प्रभारानी डे, 1976, पंजाब वि० वि०
(50)	प्रेमचंद के उपन्यासों में सामाजिक समस्याएँ	सुभद्रा एन० पटेल, 1976,दक्षिण गुजरात वि० वि०
(51)	प्रेमचंद और शरत्चन्द के उपन्यासों के नारी–पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन	शशि भल्ला, 1976, भोपाल वि० वि०
(52)	प्रेमचंद के उपन्यासों में जीवन–दर्शन	ब्रजवासी लाल शर्मा, 1976, आ० वि० वि०
(53)	प्रेमचंद के कथा साहित्य में सामाजिक जीवन	श्रीमती मंजूरानी जायसवाल, 1976, का०हि० वि० वि०
(54)	प्रेमचंद का समाज दर्शन	श्री कृष्ण पाण्डेय, 1976, शं० वि० वि०
(55)	प्रेमचंद के उपन्यासों में मध्यवर्ग का चित्रण	जे० हेमवती रम्भा, 1977-78, सागर वि० वि०
(56)	प्रेमचंद के कथा–साहित्य में धर्म निरपेक्षता की भावना	राधा अग्रवाल, 1977, दि० वि० वि०
(57)	प्रेमचंद की कहानी शिल्प और हिन्दी कहानी	शुभांगी देवी, 1978, शं० वि० वि०
(58)	प्रेमचंद की कहानियों की शिल्प–विधि	गौतम देव सचदेव, 1979, दिल्ली वि० वि०
(59)	प्रेमचंद की कृतियों का अध्ययन	रामेश्वर प्रसाद गुरु, 1957, नागपुर वि० वि०

(घ) प्रेमचंद विषयक आलोचनात्मक ग्रंथो की सूची

(1)	प्रेमचद की उपन्यास कला	जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज', 1933, प्रकाशन वाणी मंदिर, छपरा
(2)	प्रेमचंद : आलोचनात्मक परिचय	रामविलास शर्मा, 1941, प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस
(3)	प्रेमचंद और ग्राम समस्या	प्रेमनरायण टंडन, 1942
(4)	प्रेमचंद : कृतियाँ और कला	प्रेमनरायण टंडन, 1942
(5)	प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व	हंसराज रहबर, 1951, प्रकाशन आत्मराम एंड संस, दिल्ली
(6)	प्रेमचंद और उनका युग	रामविलास शर्मा, 1952, नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10, दरियागंज, दिल्ली
(7)	प्रेमचंद : साहित्यिक विवेचन	नन्द दुलारे बाजपेयी, 1952, मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, दिल्ली
(8)	प्रेमचंद	त्रिलोकी नारायण दीक्षित, 1952
(9)	कथाकार प्रेमचंद	जितेन्द्रनाथ पाठक, 1955
(10)	प्रेमचंद	रामरतन भटनागर, 1948
(11)	प्रेमचंद और गोर्की	शचीरानी गुर्टू, 1955, प्रकाशन राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
(12)	प्रेमचंद घर में	शिवरानी देवी, 1956, प्रकाशन आत्माराम एंड संस, दिल्ली
(13)	गोदान : अध्ययन की समस्याएँ	गोपाल राय, 1958
(14)	प्रेमचंद – स्मृति	अमृतराय, 1959, हंस प्रकाशन इलाहाबाद
(15)	हिन्दी कहानी की शिल्प विधि का विकास	लक्ष्मी नारायण लाल, प्रकाशन साहित्य भवन प्रा० लि० इलाहाबाद, 1960
(16)	कथाकार प्रेमचंद : व्यक्तित्व और साहित्यकार	मन्मथनाथ गुप्त, 1961, प्रकाशन सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
(17)	प्रेमचंद और गांधीवाद	रामदीन गुप्त, 1961, हिन्दी साहित्य संसार,

दिल्ली

(18) प्रेमचंद – एक अध्ययन — राजेश्वर गुरु, मध्य प्रदेशीय प्र० समिति, भोपाल, प्र० सं० 1961

(19) प्रेमचंद : कलम का सिपाही — अमृतराय, 1961, प्रकाशन – हंस प्रकाशन इलाहाबाद

(20) कलम का मजदूर प्रेमचंद — मदन गोपाल, राजकमल प्र०, दिल्ली, सं० 1965

(21) प्रेमचंद के साहित्य सिद्धान्त — नरेन्द्र कोहली, 1966

(22) प्रेमचंद : चिन्तन व कला — इन्द्रनाथ मदान, प्रकाशन सरस्वती प्रेस, बनारस

(23) प्रेमचंद : एक विवेचन — रामकमल प्रकाशन, दिल्ली

(24) प्रेमचंद : एक कृति वयक्तित्व — जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली प्र० सं० 1967

(25) प्रेमचंद : आज के संदर्भ में — गंगा प्रसाद विमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1968 ई०

(26) हिन्दी उपन्यास : विशेषतः प्रेमचंद — नलिन विलोचन शर्मा, प्रकाशन ज्ञानपीठ प्रकाशन प्रा० लि० पटना प्र० सं० 1968

(27) उपन्यास सम्राट : प्रेमचंद — शिव नारायण श्रीवास्तव 1969 ई०

(28) गोदान : मूल्याकन और मूल्यांकन — इन्द्रनाथ मदान 1971 ई० प्रकाशन – नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद प्र० सं० 1971

(29) प्रेमचंद और उनका साहित्य — शीला गुप्त, 1972 साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड इलाहाबाद

(30) प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान — कमल किशोर गोयनका, 1974, सरस्वती प्रेस, नयी दिल्ली

(31) प्रेमचंद अध्ययन की दिशाएँ — कमल किशोर गोयनका, 1978, प्रकाशन : साहित्य निधि, सी. 38 ईस्ट कृष्णनगर दिल्ली

(32) प्रेमचंद उर्दू हिन्दी कथाकार — जाकर रजा, 1983

(33) प्रेमचंद की उपन्यास यात्रा : — डा० शैलेश जैदी, 1978 में प्रकाशित, प्रकाशन

नवमूल्यांकन : यूनिवर्सिटी पब्लिशिग हाउस, कोठी नायाब सरसैयद रोड, सिविल लाईन्स, अलीगढ़

(34) प्रेमचंद : विरासत का सवाल — 1992 डॉ० शिव कुमार मिश्र, प्रकाशन : अरुणोदय प्रकाशन, शाहदरा दिल्ली

(35) दलित साहित्य की अवधारणा और प्रेमचंद — सदानंद शाही, 2000 ई०

(36) प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य में सांस्कृतिक चेतना — नित्यानंद पटेल, लिपि प्रकाशन, नई दिल्ली

(37) प्रेमचंद की विरासत — राजेन्द्र यादव

(ङ) अन्य सहायक ग्रंथों की सूची

(1) आज का हिंदी उपन्यास — डॉ० इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्र० दिल्ली, प्र० सं० 1966

(2) निबन्ध और निबन्ध — इन्द्रनाथ मदान, बंसल एण्ड कम्पनी, दिल्ली, प्र० सं० 1966

(3) प्रेमचंद प्रतिभा — इन्द्रनाथ मदान, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्र० स० 1967

(4) प्रेमचंद और शतरंज के खिलाड़ी — डॉ० लोठार लुत्से तथा डॉ० कमल किशोर गोयनका, पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली

(5) मुंशी प्रेमचंद ऑफ लमही विलेज — राबर्ट ओ० स्वान

(6) प्रेमचंद का 'गोदान' और चार्ल्स डिकेन्स की भारतीय प्रतिध्वनियाँ — सार्गफ्रिड ए० शुक्ल, कैथोलिक युनिवर्सिटी ऑफ अमेरिका, वाशिंगटन

(7) प्रिस्पेविक के स्टूदियु हिंदस्के होवेसानिचके ही रोमानु (ग्राम्य जीवन सम्बन्धी हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन) — डॉ० ओदोलेन स्मैकेल

(8) पत्रकार प्रेमचंद और हंस — डॉ० रत्नाकर पांडेय

(9) प्रेमचंद के निबंध साहित्य में सामाजिक चेतना — अर्जना जैन

(10) प्रेमचंद : संपादक — विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, प्रकाशन संस्थान, शाहदरा, दिल्ली

(11) प्रेमचंद और जनवादी साहित्य की परपरा — सं० डॉ० कुँवर पाल सिंह तथा सव्यसाची, भाषा प्रकाशन, पश्चिम विहार, नयी दिल्ली

(12) 'गोदान' गवेषण — सं० प्रो० कपिल देव सिंह एवं अन्य, हरिश्चन्द्र सभा, बी० एन० कालेज, भारती भवन, पटना

(13) प्रेमचंद के नारी पात्र — ओम अवस्थी, नेशलन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

(14) प्रेमचंद के पात्र — कोमल केशरी तथा विजयदान देबा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली

(15) हिन्दी उपन्यास एक अर्न्तयात्रा — रामदरश मिश्र, रामकमल मिश्र, राजकमल प्रकाश, नयी दिल्ली

(16) प्रेमचंद सचित्र जीवन–परिचय — अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

(17) हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास — हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

(18) प्रेमचंद परिचर्चा — सं० कल्याणमल लोढ़ा, रामनाथ तिवारी

(19) राधा कष्ण मूल्यांकन माला प्रेमचंद — सम्पदक सत्येन्द्र, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा० लि०, नयी दिल्ली

(20) हिन्दी उपन्यासों में नारी — डॉ० शैल रस्तोगी, विभू प्रकाशन, साहिबाबाद

(21) हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद — डॉ० त्रिभुवन सिंह

(22) प्रेमचंद : विविध आयाम — दिनेश प्रसाद सिह

(23) हिन्दी कहानी की विकास प्रक्रिया — आनद प्रकाश

(24) गोदान का महत्व — सं० डॉ० सत्य प्रकाश मिश्र

(25) प्रेमचंद के उपन्यासों में समकालीनता — रजनीकान्त जैन, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद

(26) प्रेमचंद की उपन्यास कला — डॉ० पारसनाथ तिवारी

(27) प्रेमचंद की कहानियों का महत्व — सम्पादक मार्कण्डेय डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र

(28)	हिन्दी उपन्यास का विकास	मधुरेश, सुमित प्रकाशन, अलोपीबाग, इलाहाबाद
(29)	प्रेमचंद का चिंतन अपनी जमीन	राममूर्ति त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
(30)	साहित्य का नया शास्त्र	डॉ० गिरिजाराय, शालिनी प्रकाशन, इलाहाबाद
(31)	कामायनी की आलोचना प्रक्रिया	गिरिजा राय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
(32)	आधुनिक कथा – साहित और मनोविज्ञान	देवराज उपाध्याय, एस चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली
(33)	कथा के तत्व	देवराज उपाध्याय, ग्रन्थ माला, कार्यालय, पटना
(34)	जैनेन्द्र के उपन्यासों का अध्ययन	देवराज उपाध्याय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
(35)	प्रेमचंद और उनकी साहित्य साधना	पद्मसिंह शर्मा कमलेश, अत्तरचंद कपूर एण्ड संस, दिल्ली
(36)	हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन	एस० एन० गणेशन, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
(37)	उपन्यासकार प्रेमचंद	सं० सुरेशचन्द्र गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली
(38)	गोदान – अध्ययन की समस्याएँ	डॉ० गोपालराय, ग्रन्थ निकेतन, पटना
(39)	साहित्यिक शब्दावली	प्रेमनारायण टंडन, हिन्दी सा० भंडार, लखनऊ
(40)	हिन्दी उपन्यास समाजशास्त्रीय विवेचन	चंडी प्रसाद जोशी, अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर
(41)	आस्था के चरण	डॉ० नगेन्द्र
(42)	आज का हिंदी उपन्यास	इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
(43)	निबन्ध और निबन्ध	इन्द्रनाथ मदान, बंसल एण्ड कम्पनी, दिल्ली
(44)	प्रेमचंद प्रतिभा	इन्द्रनाथ मदान, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद
(45)	कहानी का रचना विधान	जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
(46)	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
(47)	हिन्दी उपन्यास–उद्भव और विकास	शिवनारायण श्रीवास्तव, सरस्वती मंदिर,

वाराणसी

(48) उपन्यास सम्राट प्रेमचंद — शिवनारायण श्रीवास्तव, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली

(49) हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास — सुरेश सिन्हा, अशोक प्रकाशन, दिल्ली

(50) आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास — लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, हिंदी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्व वि०

(51) हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास — डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

(52) भाषा और संवेदना — डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

(च) विभिन्न पत्र – पत्रिकाएँ

(1) उत्तरार्द्ध — अप्रैल 1980, सं० सव्यसाची 2164, इम्पीयर, मथुरा

(2) सारिका — वर्ष 20 अंक 265, सं० कन्हैयालाल नंदन, 10 दरियागंज, दिल्ली

(3) दस्तावेज — 7/8 सं० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, बेतिया हाता, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश

(4) आजकल : जुलाई 1980 — द्रोणवीर कोहली, पटियाला, हाउस

(5) आलोचना — सं० नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली

(6) साक्षात्कार — सं० प्रभाकर क्षेत्रीय, मध्य प्रदेश, साहित्य परिषद, ई० 135/1 रवीन्द्र मार्ग, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल

(7) साप्ताहिक हिन्दुस्तान — सं० मनोहर श्याम जोशी, हिन्दुस्तान टाइम्स, नयी दिल्ली, जुलाई, 80

(8) धर्मयुग — सं० धर्मवीर भारती, टाइम्स ऑफ इंडिया, बम्बई

(9)	कलम	कलकत्ता
(10)	उत्तरगाथा	सं० सव्यसाची
(11)	हिंदी अनुशीलन	
(12)	हिंदुस्तानी	